

पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त लोक संस्कृति का स्वरूप



सिक्किम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में
पीएच. डी. हिंदी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबंध

शोध-निर्देशक

डॉ. प्रदीप त्रिपाठी

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक

शोधार्थी

बी आकाश राव

शोधार्थी, हिंदी विभाग
पंजीकरण सं. 20/Ph.D/HIN/04

जनवरी-2026

दिनांक:.....

घोषणा-पत्र

मैं बी आकाश राव (पंजी. सं. 20/Ph.D/HIN/04, दिनांक 02/12/2021) घोषणा करता हूँ कि मैंने सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक के हिंदी विभाग के अंतर्गत पीएच. डी. उपाधि हेतु 'पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त लोक संस्कृति का स्वरूप' विषय पर डॉ. प्रदीप त्रिपाठी के निर्देशन में अपना शोध-प्रबंध कार्य पूर्ण किया है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध मेरा मौलिक कार्य है। मेरे संज्ञान में इसे अंशतः या पूर्णतः इस विश्वविद्यालय या अन्य संस्थान में किसी उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है। इसे सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक के समक्ष हिंदी विषय में पीएच. डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है।

B Akash Rao

(बी आकाश राव)

शोधार्थी, हिंदी विभाग

सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक

ल, सामदुर, तादोंग - 737102
सिक्किम, भारत
3592-251212, 251415, 251656
स - 251067
ट - www.cus.ac.in



सिक्किम विश्वविद्यालय SIKKIM UNIVERSITY

6th Mile, Samdur, Tadong-737102
Gangtok, Sikkim, India
Ph. 03592-251212, 251415, 251656
Telefax : 251067
Website : www.cus.ac.in

(भारत के संसद के अधिनियम द्वारा वर्ष 2007 में स्थापित और नैक (एनएएसी) द्वारा वर्ष 2015 में प्रत्यापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
(A central university established by an Act of Parliament of India in 2007 and accredited by NAAC in 2015)

दिनांक : 09/01/2026

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि बी आकाश राव (पंजीयन संख्या 20/Ph.D/HIN/04, दिनांक 02/12/2021) ने 'पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त लोक संस्कृति का स्वरूप' विषय पर पीएच. डी. उपाधि हेतु शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत शोध प्रबंध उनके द्वारा संग्रहीत किए गए तथ्यों पर आधारित है। मेरे संज्ञान में इसे अंशतः या पूर्णतः इस विश्वविद्यालय या अन्य संस्थान में किसी उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है। मैं बी आकाश राव के शोध-प्रबंध को मूल्यांकन हेतु प्रस्तुत करने की अनुशंसा करता हूँ।

अध्यक्ष प्रभारी
Head/In-charge
हिंदी विभाग
Department of Hindi
सिक्किम विश्वविद्यालय
Sikkim University

(डॉ. प्रदीप त्रिपाठी)

प्रभारी, हिंदी विभाग
भाषा एवं साहित्य संकाय
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक

डॉ. प्रदीप त्रिपाठी
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
भाषा एवं साहित्य संकाय
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक

(डॉ. प्रदीप त्रिपाठी)

शोध-निर्देशक
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक

6 माइल, सामदुर, तादोंग - 737102
गंगटोक, सिक्किम, भारत
फोन-03592-251212, 251415, 251656
टेलीफैक्स - 251067
वेबसाइट - www.cus.ac.in



सिक्किम विश्वविद्यालय SIKKIM UNIVERSITY

6th Mile, Samdur, Tadong-737102
Gangtok, Sikkim, India
Ph. 03592-251212, 251415, 251656
Telefax : 251067
Website : www.cus.ac.in

(भारत के संसद के अधिनियम द्वारा वर्ष 2007 में स्थापित और नैक (एनएएसी) द्वारा वर्ष 2015 में प्रत्यायित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
(A central university established by an Act of Parliament of India in 2007 and accredited by NAAC in 2015)

दिनांक: 09/01/2026

प्लेगरिजम परीक्षण प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि बी आकाश राव (पंजी. सं. 20/Ph.D/HIN/04, दिनांक 02/12/2021) ने 'पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त लोक संस्कृति का स्वरूप' विषय पर डॉ. प्रदीप त्रिपाठी (सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, सिक्किम विश्वविद्यालय) के निर्देशन में पीएच. डी. हिंदी उपाधि हेतु शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध को ड्रिलबिट सॉफ्टवेयर की सहायता से प्लेगरिजम परीक्षण करने के पश्चात् 08% की साम्यता प्राप्त हुई है। सिक्किम विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित मानक के अनुरूप यह साम्यता 10% तक स्वीकार्य है। उक्त मानदंड के अनुसार बी आकाश राव का शोध प्रबंध प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त है।
अतः बी आकाश राव के शोध-प्रबंध को मूल्यांकन हेतु प्रस्तुत करने की अनुमति दी जाती है।

B Akash Rao
(शोधार्थी)

9/26
(शोध-निर्देशक)

डॉ. प्रदीप त्रिपाठी
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
भाषा एवं साहित्य संकाय
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक

पुस्तकालयाध्यक्ष
LIBRARIAN
केन्द्रीय पुस्तकालय Central Library
सिक्किम विश्वविद्यालय
SIKKIM UNIVERSITY
(पुस्तकालयाध्यक्ष)



The Report is Generated by DrillBit Plagiarism Detection Software

Selected Language

Hindi

Submission Information

Author Name	बी आकाश राव
Title	पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त लोक संस्कृति का स्वरूप
Paper/Submission ID	5133015
Submitted by	ptripathi@cus.ac.in
Submission Date	2026-01-08 18:02:14
Document type	Thesis

Result Information

Similarity	8%
------------	----

A Unique QR Code use to View/Download/Share Pdf File



भूमिका

भारतीय साहित्य की परंपरा मूलतः बहुलतावादी रही है। इसकी आत्मा विविध भाषाओं, संस्कृतियों, परंपराओं और लोकानुभवों से निर्मित हुई है। भारत का सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचा किसी एकरूपता में नहीं, बल्कि विविधताओं के सह-अस्तित्व में विकसित हुआ है। इसी कारण भारतीय साहित्य, विशेषतः हिंदी साहित्य, केवल सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति तक सीमित न रहकर सामाजिक चेतना, सांस्कृतिक स्मृति और सामूहिक अनुभव का प्रतिनिधि माध्यम रहा है। इस साहित्यिक परंपरा में लोक-संस्कृति वह आधार है, जिसने साहित्य को जीवन से जोड़े रखा है। लोक-संस्कृति किसी समाज की जड़ों में विद्यमान होती है। यह समाज के अनुभवजन्य ज्ञान, विश्वासों, परंपराओं, रीति-रिवाजों, भाषा, लोक गीतों, लोक कथाओं, पर्व-त्यौहारों और जीवन-दृष्टि का समुच्चय है। लोक-संस्कृति लिखित ग्रंथों से अधिक मौखिक परंपरा में सुरक्षित रहती है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी निरंतर रूपांतरित होती रहती है। यही कारण है कि लोक-संस्कृति स्थिर न होकर गतिशील होती है। साहित्य जब लोक से जुड़ता है, तब वह केवल कल्पना की उड़ान न रहकर जीवन की सच्चाइयों से साक्षात्कार करता है।

पूर्वोत्तर भारत जिसमें असम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मिजोरम, नागालैंड, त्रिपुरा, मेघालय और सिक्किम जैसे राज्य सम्मिलित हैं, यह भारतीय उपमहाद्वीप का वह भूभाग है, जिसकी भाषायी बहुलता, जनजातीय चेतना और प्रकृति-केंद्रित जीवन-शैली ने एक अलग प्रकार की लोक-संस्कृति को जन्म दिया है। यहाँ की लोक-संस्कृति केवल परंपरागत रीति-रिवाजों का संग्रहण नहीं है, बल्कि वह सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक चेतना और ऐतिहासिक अनुभवों की संयुक्त अभिव्यक्ति है। यह संस्कृति मौखिक परंपरा के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचरित होती रही है और समय के साथ स्वयं को निरंतर रूपांतरित करती रही है।

पूर्वोत्तर भारत का पौराणिक संदर्भ भारतीय संस्कृति की प्राचीन और बहुआयामी परंपरा से गहराई से जुड़ा हुआ है। इस क्षेत्र को प्राचीन ग्रंथों में प्रागज्योतिषपुर और कामरूप के नाम से जाना गया है। महाभारत, रामायण तथा भागवत पुराण जैसे ग्रंथों में कामरूप को सिद्ध-तांत्रिक भूमि और

शक्तिपीठों का केंद्र माना गया है। असम स्थित कामाख्या मंदिर शक्ति उपासना का प्रमुख स्थल है, जिसे सती के अंग-पतन से जोड़ा जाता है। परशुराम कुंड, रुक्मिणी हरण तथा उनाकोटि की कथा जैसे प्रसंग पौराणिक कथाओं में पूर्वोत्तर भारत की उपस्थिति के रूप में वर्णित है। महाभारत काल में पांडवों ने यहीं अपना अज्ञातवास व्यतीत किया। यहीं अर्जुन ने मणिपुर की राजपुत्री चित्रांगदा और नागकन्या उलूपी से विवाह किया था। महाभारत में उल्लेखित कृष्ण-नरकासुर और हिडिंबा-घटोत्कच के प्रसंग इस क्षेत्र को वीरता और अलौकिकता से जोड़ते हैं। इस प्रकार पूर्वोत्तर भारत का पौराणिक संदर्भ न केवल धार्मिक आस्था को पुष्ट करता है, बल्कि उसकी सांस्कृतिक अस्मिता, लोकविश्वास और ऐतिहासिक चेतना को भी समृद्ध करता है।

‘उत्तर पूर्व’ भारत का एक विशिष्ट सांस्कृतिक क्षेत्र है। यहाँ की जनजातीय संरचना, भाषायी बहुलता, लोकविश्वास, प्रकृति-केंद्रित जीवन-दृष्टि और सामूहिकता की भावना भारतीय संस्कृति को एक महत्वपूर्ण आयाम प्रदान करती है। इसके बावजूद, औपनिवेशिक इतिहास, भौगोलिक दूरी, राजनीतिक जटिलताओं और भाषायी भिन्नताओं के कारण यह क्षेत्र लंबे समय तक राष्ट्रीय साहित्यिक चेतना में हाशिए पर बना रहा।

प्रस्तुत शोध इसी हाशिए पर स्थित क्षेत्र को हिंदी उपन्यासों के माध्यम से केंद्र में लाने का प्रयास है। यह शोध इस मान्यता से आरंभ होता है कि पूर्वोत्तर भारत केवल ‘सीमांत क्षेत्र’ नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति की एक अनिवार्य और सजीव कड़ी है। पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त लोक-संस्कृति, सांस्कृतिक अस्मिताबोध, प्रकृति-दर्शन और औपन्यासिक संरचना का अध्ययन न केवल साहित्यिक दृष्टि से, बल्कि सांस्कृतिक, सामाजिक और अनुसंधान की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। अध्ययन एवं विश्लेषण की क्रमबद्धता-सुगमता की दृष्टि से प्रस्तुत शोध-प्रबंध को छह अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध के प्रथम अध्याय का शीर्षक ‘शोध-परिचय’ है। इस अध्याय को सात उपअध्यायों में विभक्त किया गया है, यथा- ‘शोध-परिचय’, ‘पूर्व शोध कार्यों की समीक्षा’, ‘शोध-

समस्या' का कथन', 'शोध का उद्देश्य', 'शोध के प्रश्न', 'शोध-प्रविधि' तथा 'शोध की सीमा'। इस अध्याय के अंतर्गत पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में लोक संस्कृति की पृष्ठभूमि की विवेचना की गई है। पूर्वोत्तर भारत के हिंदी उपन्यासों से संबंधित पूर्ववर्ती शोध-कार्यों एवं आलोचनात्मक शोध-सामग्री का विश्लेषण किया गया है। इसके साथ शोध की समस्या, शोध का उद्देश्य, शोध के प्रश्न, शोध-प्रविधि के तहत शोध-प्रबंध के आधारभूत बिंदुओं का विश्लेषण किया गया है।

शोध-प्रबंध के द्वितीय अध्याय 'लोक संस्कृति का सैद्धांतिक पक्ष : अवधारणा एवं स्वरूप' में लोक-संस्कृति की वैचारिक पृष्ठभूमि, उसके घटकों तथा साहित्य से उसके संबंधों का क्रमबद्ध और गहन विश्लेषण किया गया है। यह अध्याय तीन उप अध्यायों में विभाजित है, जिसमें पहले उप अध्याय 'लोक संस्कृति : अवधारणा एवं मान्यताएं' में 'लोक' और 'संस्कृति' की व्युत्पत्ति, अर्थ, प्राचीनता और भारतीय-पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं का विस्तृत विवेचन है। इसमें भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि लोक केवल ग्रामीण या अशिक्षित समाज तक सीमित नहीं, बल्कि जनसामान्य की सामूहिक चेतना और जीवन-पद्धति का प्रतिनिधि है। लोक-संस्कृति को गीत, कथा, विश्वास, पर्व, नाट्य आदि के माध्यम से जीवंत परंपरा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। दूसरे उप अध्याय 'लोक और साहित्य का अंतःसंबंध' में यह अध्ययन-विश्लेषण किया गया है कि साहित्य का मूल स्रोत लोक जीवन है। लोक भाषा, लोकानुभव और लोक-संवेदना साहित्य को जीवंतता और यथार्थ प्रदान करते हैं। लोक और साहित्य एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं, लोक साहित्य को सामग्री देता है और साहित्य लोक को स्थायित्व तथा कलात्मक रूप। तीसरे उप अध्याय 'पूर्वोत्तर भारत का लोकवृत्त एवं सांस्कृतिक चेतना' में पूर्वोत्तर भारत की जनजातीय विविधता, प्रकृति-आधारित जीवन-दृष्टि, लोकविश्वास, पर्व-त्यौहार और सामूहिक सांस्कृतिक चेतना का विश्लेषण किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध का तृतीय अध्याय 'हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत का परिदृश्य' है। इस अध्याय में हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक

यथार्थ को समझने का प्रयास किया गया है। अध्याय का मूल उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि हिंदी उपन्यासों के माध्यम से पूर्वोत्तर भारत किस प्रकार एक जीवंत, बहुआयामी और संवेदनशील क्षेत्र के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उक्त अध्याय को दो उप अध्यायों में विभक्त किया गया है, जिसमें पहले उप अध्याय 'स्थानीय रचनाकारों द्वारा लिखित हिंदी उपन्यासों का अंतर्वस्तु-विधान' में उन लेखकों के उपन्यासों का विश्लेषण किया गया है, जो स्वयं पूर्वोत्तर क्षेत्र से जुड़े रहे हैं। इन रचनाओं में स्थानीय परिवेश, लोक-संस्कृति, जनजातीय जीवन, भाषा-बोली, परंपराएँ और सामाजिक संघर्ष प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर उभरते हैं। 'राह और रोड़े', 'खंब थोड़ी', 'जय आइ असम', 'अरण्य रोदन', 'मुक्ति', 'जंगली फूल', 'मिनाम' और 'मेरी आवाज़ सुनो' आदि उपन्यासों में असम, मणिपुर, सिक्किम, त्रिपुरा और अरुणाचल प्रदेश के विविध सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों का चित्रण मिलता है। इन उपन्यासों में कहीं राष्ट्रभाषा और आदर्शवाद, कहीं लोककथा और मिथक, कहीं अस्मिता-संघर्ष, स्त्री-विमर्श, विभाजन की त्रासदी, शिक्षा-व्यवस्था की विडंबनाएँ और जनजातीय समाज की आंतरिक समस्याएँ केंद्र में हैं। दूसरे उप अध्याय 'अन्य रचनाकारों के उपन्यासों में उत्तर-पूर्व की अभिव्यक्ति' के तहत उन हिंदी उपन्यासकारों की रचनाओं का विवेचन किया गया है, जो पूर्वोत्तर के निवासी नहीं हैं, किंतु वे प्रवास, अध्ययन या संवेदनशील दृष्टि एवं गहरी समझ रखते हैं। 'ब्रह्मपुत्र' जैसे उपन्यासों में असम का सामाजिक जीवन, बहुलतावादी संस्कृति, प्राकृतिक आपदाएँ और औपनिवेशिक व उत्तर-औपनिवेशिक समस्याएँ व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत होती हैं। बाहरी रचनाकारों की दृष्टि में पूर्वोत्तर एक सांस्कृतिक सेतु के रूप में उभरता है, जहाँ भारतीयता के विविध रूप एक साथ विद्यमान हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध का चतुर्थ अध्याय है- 'पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त लोक संस्कृति के विविध पक्ष'। यह अध्याय स्पष्ट करता है कि हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत की लोक-संस्कृति केवल वर्णनात्मक न होकर समाज, अस्मिता और सांस्कृतिक चेतना की आधारभूमि के रूप में उभरती है। यह अध्याय लोक-मान्यताओं, परंपराओं, मिथकीय चेतना, स्त्री-जीवन, अनुष्ठानों तथा सांस्कृतिक समन्वय जैसे पक्षों के माध्यम से पूर्वोत्तर के जनजातीय जीवन की जटिल संरचना को

उद्धाटित करता है। इस अध्याय के अंतर्गत पाँच उप अध्याय हैं, जिनमें पहले उप अध्याय 'लोक मान्यताएं, परंपरा एवं मिथकीय संदर्भ' के अंतर्गत पूर्वोत्तर भारत की लोक मान्यताओं, परंपराओं एवं मिथकीय संदर्भों का विश्लेषण किया गया है। लोक-विश्वास किसी भी समाज की सामूहिक स्मृति और अनुभव से जन्म लेते हैं, पूर्वोत्तर केंद्रित उपन्यासों में सर्प-पूजा, नरबलि, आत्मा, देवता, प्रकृति और शुभ-अशुभ संकेतों से जुड़ी मान्यताएँ कथा-संरचना का अभिन्न हिस्सा बनती हैं। 'रूपतिल्ली की कथा', 'मुक्ति' और 'ब्रह्मपुत्र' जैसे उपन्यास यह दिखाते हैं कि मिथक और लोक विश्वास केवल अंधविश्वास नहीं, बल्कि सामाजिक नियंत्रण, नैतिक शिक्षा और सामुदायिक अनुशासन के माध्यम भी हैं। साथ ही, आधुनिक चेतना के प्रभाव से इन मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न भी लगाए गए हैं, जिससे लोक-संस्कृति की गतिशीलता सामने आती है।

चतुर्थ अध्याय के दूसरे उप अध्याय 'लोक संरचना में स्त्री-जीवन और मातृवंशीय समाज' के अंतर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि पूर्वोत्तर के कई जनजातीय समाजों में स्त्री की स्थिति अपेक्षाकृत स्वतंत्र और निर्णायक रही है। 'खासी और डिमासा' समाज की मातृवंशीय व्यवस्था स्त्री को वंश और संपत्ति का केंद्र बनाती है। किंतु उपन्यासों में यह भी उभरकर आता है कि मातृवंशीयता होने के बावजूद स्त्री पूरी तरह पितृसत्तात्मक दबावों से मुक्त नहीं है। 'रूपतिल्ली की कथा' और 'जंगली फूल' जैसे उपन्यास स्त्री की शक्ति, श्रम और आत्मनिर्भरता के साथ-साथ उसके शोषण और संघर्ष को भी उजागर करते हैं। इस प्रकार स्त्री-जीवन को एक द्वंद्वात्मक सामाजिक यथार्थ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। तीसरे उप अध्याय 'लोक-पर्व, रीति-रिवाज एवं लोक कलाएँ' में पूर्वोत्तर के सामुदायिक जीवन की उत्सवधर्मी प्रकृति का विश्लेषण किया गया है। कृषि, ऋतु-चक्र और सामूहिक श्रम से जुड़े पर्व, लोक नृत्य और गीत सामाजिक एकता और सांस्कृतिक निरंतरता के प्रतीक हैं। 'दबूर पूजा' जैसे पर्वों के चित्रण से स्पष्ट होता है कि लोकपर्व केवल धार्मिक कर्मकांड नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना और सामूहिक पहचान को सुदृढ़ करने वाले तत्त्व हैं।

चतुर्थ अध्याय के चौथे उप अध्याय ‘संस्कार, अनुष्ठान और लोक प्रथाएं’ में जन्म से मृत्यु तक की लोक परंपराओं की भूमिका को रेखांकित किया गया है। विवाह, मृत्यु-संस्कार और श्राद्ध संबंधी प्रथाओं की विविधता यह दर्शाती है कि एक ही भौगोलिक क्षेत्र में विभिन्न जनजातियों की आस्थाएँ कितनी भिन्न हो सकती हैं। इन प्रथाओं के माध्यम से समाज अपने नैतिक मूल्यों और जीवन-दर्शन को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संप्रेषित करता है। पाँचवें उप अध्याय ‘लोक-जीवन और सांस्कृतिक समन्वय’ में विश्लेषित किया गया है कि आधुनिकता, धर्मांतरण, शिक्षा और बाहरी प्रभावों के कारण लोक-परंपराएँ बदल रही हैं, किंतु उनका मूल स्वरूप अब भी जीवित है। पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यास इन परिवर्तनों को आलोचनात्मक दृष्टि से दर्ज करते हुए लोक-संस्कृति को एक जीवंत, परिवर्तनशील और संवादात्मक संरचना के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

शोध-प्रबंध का पंचम अध्याय ‘सांस्कृतिक अस्मिताबोध और पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यास’ यह विश्लेषित करता है कि पूर्वोत्तर भारत की सांस्कृतिक अस्मिता हिंदी उपन्यासों में बहुआयामी, जटिल और परिवर्तनशील रूप में अभिव्यक्त हुई है। यह अध्याय चार उप अध्यायों के माध्यम से लोक-संस्कृति, धर्म, दर्शन, प्रकृति और सामूहिक जीवन-बोध के अंतर्संबंधों को विश्लेषित करता है। इसके प्रथम उप अध्याय ‘लोक में प्रकृति और वैज्ञानिकता’ में यह प्रतिपादित किया गया है कि पूर्वोत्तर के लोक-जीवन में प्रकृति केवल सौंदर्य या भौतिक परिवेश नहीं, बल्कि जीवन-दर्शन का मूल आधार है। कृषि, पर्व-त्यौहार, लोकगीत, लोककथाएँ और अनुष्ठान प्रकृति-चक्र से गहराई से जुड़े हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि लोक-दृष्टि में प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण केवल आस्था-आधारित नहीं, बल्कि अनुभवजन्य और वैज्ञानिक है। दूसरे उप अध्याय ‘धर्म, दर्शन एवं लोक विश्वास’ में पूर्वोत्तर भारत की धार्मिक बहुलता और आध्यात्मिक चेतना का विश्लेषण किया गया है। इस खंड में हिंदू, वैष्णव, शैव, शाक्त, ईसाई और जनजातीय आस्थाओं के सह-अस्तित्व को रेखांकित किया गया है। कामाख्या, वैष्णव सत्र, नामघर, मणिपुरी रास-परंपरा और ईसाई मिशनरियों के प्रभाव के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि धर्म यहाँ केवल आस्था नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना को आकार देने वाली शक्ति

है। लोकविश्वास, मिथक, तंत्र-साधना और बलि-प्रथा जैसे प्रसंग यह दर्शाते हैं कि धार्मिक आस्था कई बार भय, सत्ता और सामाजिक नियंत्रण से भी जुड़ जाती है।

पाँचवें अध्याय के तीसरे उप अध्याय 'संस्कृति संरक्षण और अस्मिताबोध' में यह अन्वेषण किया गया है कि बाहरी धर्मों, औपनिवेशिक सत्ता और आधुनिकता के दबाव में पूर्वोत्तर की जनजातीय संस्कृतियाँ अपनी पहचान बचाने के लिए संघर्षरत और सचेत रही हैं। 'रूपतिल्ली की कथा' जैसे उपन्यासों में यह चिंता उभरकर आती है कि यदि पारंपरिक नियम, उत्तराधिकार व्यवस्था और लोकाचार नष्ट हुए तो समुदाय की सामूहिक पहचान भी समाप्त हो जाएगी। इस प्रकार सांस्कृतिक संरक्षण केवल परंपरा बचाने का प्रश्न नहीं, बल्कि सामाजिक अस्तित्व और आत्मसम्मान से जुड़ा अस्मिताबोध बन जाता है। चौथे उप अध्याय 'सामूहिकता और साहचर्य का समष्टिबोध' में पूर्वोत्तर समाज की सामुदायिक संरचना को रेखांकित किया गया है। लोक जीवन में व्यक्ति की पहचान समुदाय से जुड़कर ही पूर्ण होती है। उपन्यासों में यह सामूहिकता आधुनिक व्यक्तिवादी दृष्टि के विकल्प के रूप में सामने आती है, जहाँ सहयोग, सह-अस्तित्व और साझा उत्तरदायित्व को जीवन-मूल्य माना गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध का छठा अध्याय 'औपन्यासिक संरचना में लोक की अभिव्यक्ति' है। यह अध्याय स्पष्ट करता है कि पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में लोक केवल विषय-वस्तु नहीं, बल्कि भाषा, कथा-विन्यास और शैली के स्तर पर गहराई से अंतर्निहित है। यह अध्याय तीन उपखंडों के माध्यम से लोक की औपन्यासिक उपस्थिति को संरचनात्मक दृष्टि से विश्लेषित करता है, जिसमें पहले उप अध्याय 'लोक भाषा का नया वितान और आंचलिकता' में यह विश्लेषित किया गया है कि लोक-भाषा उपन्यासों को प्रामाणिकता और जीवंतता प्रदान करती है। पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में असमीया, मणिपुरी, नागा, मिजो, खासी तथा अरुणाचली हिंदी के शब्दों और संवादों का प्रयोग केवल भाषिक प्रयोग नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पहचान का संकेतक है। आंचलिकता के माध्यम से स्थानीय जनजीवन, प्रकृति और संवेदनाएँ पाठक के सामने सजीव रूप में उपस्थित होती हैं। दूसरे उप अध्याय 'किस्सागोई, कहावतें और लोकगीत' में लोक की मौखिक परंपरा को औपन्यासिक कथा में समाहित

करने की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है। लोक कथाएं समाज की सामूहिक स्मृति और नैतिक बोध को व्यक्त करती हैं। कहावतें संक्षिप्त रूप में जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती हैं, जबकि लोकगीत श्रम, पर्व, प्रेम और संघर्ष की संवेदनाओं को स्वर देते हैं। उपन्यासों में इन तत्वों का समावेश कथा को सांस्कृतिक गहराई और भावात्मक विस्तार प्रदान करता है। इस अध्याय के तीसरे उप अध्याय 'शैली का अभिनव प्रयोग' में स्पष्ट किया गया है कि लोक-आधारित उपन्यासों में वर्णनात्मक, संवादात्मक, स्मृतिपरक, काव्यात्मक और प्रतीकात्मक शैलियों का प्रयोग कथ्य के अनुरूप हुआ है। नदी, प्रकृति और लोक-जीवन को पात्र के रूप में प्रस्तुत करना शैलीगत नवाचार का उदाहरण है।

शोध-प्रबंध के अंतिम हिस्से में समग्र मूल्यांकन के तौर पर शोध के 'निष्कर्ष' को प्रस्तुत किया गया है। इसी क्रम में 'संदर्भ ग्रंथ सूची' के तहत आधार ग्रंथों, संबंधित सहायक ग्रंथों का विवरण प्रस्तुत किया गया है, साथ ही 'परिशिष्ट' के अंतर्गत शोध विषय से संबंधित दो रचनाकारों के अंतर्वाता को शामिल किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध को इस मुकाम तक पहुंचाने में मेरे शोध निर्देशक डॉ. प्रदीप त्रिपाठी का अहम योगदान है। विषय चयन से लेकर शोध प्रबंध पूर्ण होने तक हमेशा ही उनका कुशल निर्देशन और आत्मीय मार्गदर्शन मिला। कार्य के प्रति उनकी अदभुत निष्ठा और सक्रियता ने मुझे सदा ही प्रेरित किया। उनके साथ हुए विचार-विमर्श, पठनीय पुस्तकों के सुझाव ने मेरी शोध दृष्टि को विकसित किया। उनके सहयोग और आशीर्वाद के बिना यह शोध-कार्य कभी मुकम्मल नहीं हो पाता। मेरी तमाम गलतियों को हर बार माफ कर मुझे सही राह दिखाने के लिए मैं हृदय से उनका आभार व्यक्त करता हूं।

सिक्किम विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग के अध्यक्ष आदरणीय प्रो. प्रदीप के शर्मा का विशेष आभार, जिनके बहुमूल्य सुझावों और आशीर्वाद ने हमेशा मुझे प्रेरित किया। डॉ. गोरखनाथ तिवारी के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूं, जिनकी सादगी और स्नेहिल व्यक्तित्व ने मुझे सदा मुझे हिंदी साहित्य के नए आयामों से परिचित कराया। डॉ. दिनेश साहू सर का हृदय से धन्यवाद, जिन्होंने मुझे आरंभ से ही प्रेरित किया तथा असम के संदर्भ में हमेशा मेरी जानकारीयों को समृद्ध किया। आदरणीया

डॉ. चुकी भूटिया का विशेष आभार जिनके अपार स्नेह और सहयोग ने मुझे सिक्किम में आत्मीयता का संबल दिया। अतिथि प्रवक्ता डॉ. सरोज लामा सर के प्रति विशेष आभार प्रकट करता हूं, जिन्होंने अपने शोध-अनुभव और मौलिक चिंतन से हमेशा मुझे आत्मीय मार्गदर्शन दिया। हिंदी विभाग के सभी शोधार्थी मित्रों, स्नातक-स्नातकोत्तर के भाई-बहन को हृदय से धन्यवाद, जिनके स्नेह, सम्मान और आत्मीयता ने शोध कार्य के साथ-साथ व्यक्तिगत तौर पर भी मुझे हमेशा प्रेरित किया। सिक्किम विश्वविद्यालय के केंद्रीय पुस्तकालय एवं सभी टीचिंग-नॉन टीचिंग स्टाफ का हार्दिक आभार, जिनके अथक सहयोग से इस शोध-कार्य की यात्रा सुचारू रूप से पूर्ण हुई।

शोध-सामग्री के संकलन के लिए मैं इंदिरा गांधी मेमोरियल लाइब्रेरी (हैदराबाद विश्वविद्यालय), नेशनल लाइब्रेरी (कोलकाता), विश्व-भारती हिंदी विभाग लाइब्रेरी (शांतिनिकेतन), पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय पुस्तकालय (शिलांग), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद (पटना), अमीर-उद-दौला पब्लिक लाइब्रेरी (लखनऊ डिजिटल लाइब्रेरी) तथा श्री मारवाड़ी हिंदी पुस्तकालय (गुवाहाटी) के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूं, जिनसे मुझे अपने शोध विषय से संबंधित महत्वपूर्व व दुर्लभ सामग्री प्राप्त हुई। विश्व-भारती, शांतिनिकेतन की पुण्यभूमि को नमन जिसने मेरे अकादमिक जीवन की नींव को मजबूत किया और इस योग्य बनाया कि मैं शोधकार्य के पथ पर चल सकूं।

इस शोध कार्य को पूर्ण करने मुझे समय-समय पर कई लोगों का आत्मीय मार्गदर्शन और सहयोग मिलता रहा। पूर्वोत्तर एवं विशेषकर अरुणाचल प्रदेश के प्रति मेरी समझ को विकसित करने हेतु मैं डॉ. राजीव रंजन प्रसाद सर का सदा कृतज्ञ हूं, उनके स्नेहिल व्यक्तित्व और सहयोग से मुझे सदैव मार्गदर्शन मिला। गुवाहाटी के डॉ. प्रदीप जैन का विशेष आभार, जिन्होंने अपने पिता छगनलाल जैन के उपन्यास की प्रति उपलब्ध कराकर मेरी सहायता की। सिलीगुड़ी के मेरे शिक्षक श्रद्धेय डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय जी का विशेष रूप से आभारी हूं, जिनके अमूल्य सुझावों और पुस्तकों के सहयोग से यह शोध-कार्य अपनी पूर्णता को प्राप्त हुआ। विश्व-भारती, शांतिनिकेतन के मेरे सीनियर डॉ. गौरव मणि त्रिपाठी,

डॉ. रामप्रवेश रजक, तूलिका विश्वास, दीपक कुमार और डॉ. सच्चिदानंद कौशल भैया का मैं सदा आभारी रहूंगा, जिनके अथक सहयोग ने मुझे हमेशा अकादमिक एवं मानसिक तौर पर समृद्ध किया।

इस शोध-कार्य को अपने कुशल एवं स्नेहिल प्रयासों से सफल बनाने हेतु मैं अपने मित्रों, अग्रज एवं अनुजों का बेहद शुक्रगुजार हूं, जिनके सहयोग के बिना यह शोध-कार्य संभव नहीं हो पाता। इस शोध-कार्य को सफल बनाने हेतु मैं मित्र अमरदीप, कृष्ण साह, टिकू, सिद्धार्थ, प्रीतम, ज्ञानवती, रविप्रकाश, अरविंद भैया, कार्तिक भैया, प्रीति दीदी, दीपक सिंह भैया, शिवम, भानुभक्त, संतोष, विश्वजीत, अमित पासवान, रवि कुमार, सबनम, बिद्या, सुर्जलेखा, छोटेलाल, पुष्कर, अमित जायसवाल आदि का बहुत-बहुत आभार व्यक्त करता हूं। शोध निर्देशक की पत्नी डॉ. उपमा शर्मा को हार्दिक धन्यवाद और उनके सुपुत्र प्रखर को ढेर सारा प्यार, जिनकी प्रेरणाओं ने हमेशा मुझे साहस और स्नेह दिया। इस कड़ी में कई आत्मीय नाम छूट भी रहे हैं, जिन्होंने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हमेशा मेरी मदद की, जिनके सहयोग के बिना यह शोध-कार्य पूरा नहीं हो पाता। अतः आप सभी को विशेष धन्यवाद।

इस शोध-यात्रा में मेरे मजबूत संबल रहे मेरे पिता बी. आनंद राव तथा माता बी. श्यामला राव के प्रति कृतज्ञ हूं, आपने आजीवन मुझे अपना स्नेह और आशीर्वाद दिया। इसी कड़ी में बड़े भाई विकास राव तथा भाभी महालक्ष्मी के आत्मीय सहयोग और स्नेह के प्रति भी मैं हार्दिक सम्मान एवं आभार प्रकट करता हूं। अंत में उन सभी ज्ञात-अज्ञात सहयोग एवं प्रेरणा को धन्यवाद ज्ञापित करता हूं, जिसने मुझे सदा अपने कार्य के प्रति सचेत रखा और मार्गदर्शन किया।

(बी आकाश राव)

अनुक्रमणिका

भूमिका	i-x
अध्याय-1 शोध-परिचय	1-21
1.1 शोध का परिचय	
1.2 पूर्व शोध कार्यों की समीक्षा	
1.3 शोध-समस्या का कथन	
1.4 शोध का उद्देश्य	
1.5 शोध के प्रश्न	
1.6 शोध-प्रविधि	
1.7 शोध की सीमा	
अध्याय-2 लोक संस्कृति का सैद्धांतिक पक्ष : अवधारणा एवं स्वरूप	22-86
2.1 लोक संस्कृति : अवधारणा एवं मान्यताएं	
2.2 लोक और साहित्य का अंतःसंबंध	
2.3 पूर्वोत्तर भारत का लोकवृत्त एवं सांस्कृतिक चेतना	
अध्याय-3 हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत का परिदृश्य	87-147
3.1 स्थानीय रचनाकारों द्वारा लिखित हिंदी उपन्यासों का अंतर्वस्तु-विधान	
3.2 अन्य रचनाकारों के उपन्यासों में उत्तर-पूर्व की अभिव्यक्ति	
अध्याय-4 पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त लोक संस्कृति के विविध पक्ष	148-228
4.1 लोक मान्यताएं, परंपरा एवं मिथकीय संदर्भ	
4.2 लोक संरचना में स्त्री-जीवन और मातृवंशीय समाज	
4.3 लोक-पर्व, रीति-रिवाज एवं लोक कलाएं	
4.4 संस्कार, अनुष्ठान और लोक प्रथाएं	
4.5 लोक जीवन और सांस्कृतिक समन्वय	

अध्याय-5 सांस्कृतिक अस्मिताबोध और पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यास	229-289
5.1 लोक में प्रकृति और वैज्ञानिकता	
5.2 धर्म, दर्शन और लोक विश्वास	
5.3 लोक-पर्व, रीति-रिवाज एवं लोक कलाएं	
5.4 सामूहिकता एवं साहचर्य का समष्टि बोध	
 अध्याय-6 औपन्यासिक संरचना में लोक की अभिव्यक्ति	 290-318
5.1 लोक भाषा का नया वितान और आंचालिकता	
5.2 किस्सागोई, कहावतें एवं लोकगीत	
5.3 शैली का अभिनव प्रयोग	
 निष्कर्ष	 319-335
संदर्भ ग्रंथ सूची	336-347
परिशिष्ट	348-362
साक्षात्कार	
i. श्रीप्रकाश मिश्र से साक्षात्कार	
ii. 'आदिवासी दर्शन और विश्व दृष्टि' विषय पर केंद्रित जोराम यालाम नाबाम से अभिषेक कुमार यादव की बातचीत (कंचनजंघा पत्रिका से साभार)	

अध्याय : 1

शोध परिचय

- 1.1 शोध का परिचय**
- 1.2 पूर्व शोध-कार्यों की समीक्षा**
- 1.3 शोध समस्या का कथन**
- 1.4 शोध का उद्देश्य**
- 1.5 शोध के प्रश्न**
- 1.6 शोध-प्रविधि**
- 1.7 शोध की सीमा**

1.1 शोध का परिचय

पूर्वोत्तर अथवा उत्तर-पूर्व प्रांत न केवल भारत का अभिन्न हिस्सा है, बल्कि देश की विविध आदिम संस्कृतियों और विविधताओं का वाहक भी है। पूर्वोत्तर भारत (वर्तमान) में कुल आठ राज्य हैं, जिनमें अरुणाचल प्रदेश, असम, मणिपुर, मिजोरम, नागालैंड, मेघालय, त्रिपुरा (जिन्हें पूर्वोत्तर की सात बहनें कहा जाता है) और सिक्किम शामिल हैं। इनमें सिक्किम वर्ष 2002 में पूर्वोत्तर भारत का हिस्सा बना, इसीलिए इसे पूर्वोत्तर की सात बहनों का भाई कहा जाता है। इन आठों राज्यों की भाषाएँ, बोलियाँ, वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन आदि एक-दूसरे से भिन्न हैं। यहाँ भारत की अधिकांश जनजातियाँ निवास करती हैं, जिनमें कार्बी, राभा, मोनपा, मिसिंग, मिजो, गालो, न्यीशी, आदी, नागा, बोडो, खासी, गारो, जयंतिया, लिंबू, लेप्चा, भूटिया आदि प्रमुख हैं। इस प्रदेश की अंतरराष्ट्रीय सीमाएँ नेपाल, भूटान, चीन, म्यांमार, बांग्लादेश और तिब्बत जैसे देशों से मिलती हैं। अतः इस प्रदेश में सांस्कृतिक रूप से काफी विविधताएँ देखने को मिलती हैं। इस पूरे क्षेत्र में लगभग 400 समुदायों के लोग रहते हैं, जिनके द्वारा करीब 220 भाषाएँ/ बोलियाँ बोली जाती हैं।

इतिहास से लेकर पौराणिक कथाओं में भी पूर्वोत्तर की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत का वर्णन मिलता है। महाभारत काल में पांडवों ने यहीं अपना अज्ञातवास व्यतीत किया। यहीं अर्जुन ने मणिपुर की राजपुत्री चित्रांगदा और नागकन्या उलूपी से विवाह किया था। प्रसिद्ध कामाख्या शक्ति-पीठ भी असम के नीलाचल पर्वत पर है। नेताजी सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में आजाद हिंद फौज ने अंग्रेजों के विरुद्ध अपनी पहली विजय मणिपुर के मोयरंग में हासिल की। परंतु, यह विसंगति ही है कि विविध रूपों से समृद्ध भारत का यह पूर्वोत्तर क्षेत्र लंबे समय तक देश की तथाकथित मुख्यधारा से पृथक रहा। इसे विडंबना ही कहा जाए कि हमारे देश की किसी भी बड़ी खबरों में पूर्वोत्तर को वह स्थान नहीं मिल पाता, जो देश के अन्य हिस्सों को मिलता है। अपने खान-पान, रंग-रूप और वेश-भूषा के कारण भी पूर्वोत्तरवासियों को देश के कई हिस्सों में भेदभाव का शिकार होना पड़ता है। इन्हीं सब कारणों से

पूर्वोत्तर में अस्मिता का प्रश्न हमेशा से ही अहम रहा है, जिसकी झलक पूर्वोत्तर भारत की कई रचनाओं में दिखाई देती है।

भाषायी दृष्टिकोण से पूर्वोत्तर भारत काफी समृद्ध क्षेत्र है। संविधान की आठवीं अनुसूची में भी पूर्वोत्तर की चार भाषाएँ- असमिया, नेपाली, मणिपुरी और बोडो शामिल हैं। इन भाषाओं का भी अपना विपुल साहित्य है। इतनी सारी विविधताओं के बावजूद पूर्वोत्तर भारत में हिंदी भाषा एवं साहित्य का बखूबी विकास हुआ है। हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में पूर्वोत्तर ने अपनी उपस्थिति दर्ज की है, जिसमें हिंदी साहित्यकार एवं हिंदी सेवी संस्थानों का बड़ा योगदान है। साहित्यिक विधाओं में पूर्वोत्तर को लेकर हिंदी में सर्वाधिक लेखन यात्रा-वृत्तांत और कथा-साहित्य के क्षेत्र में हुआ है, केवल उपन्यास की बात करें तो अब तक मूलतः हिंदी में पूर्वोत्तर की पृष्ठभूमि से संबंधित दो दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे जा चुके हैं, जिनमें पूर्वोत्तर के आठों राज्यों से जुड़े उपन्यास शामिल हैं। इन उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत के इतिहास, भूगोल, समाज, संस्कृति, दर्शन, राजनीति, आध्यात्मिक, लोक जीवन तथा आंचलिक परिवेश आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। हिंदी में पूर्वोत्तर पर केंद्रित जो अद्यतन साहित्य प्राप्त है, उससे किसी भी दृष्टिकोण से यह ध्वनित नहीं होता कि भारत का पूर्वोत्तर क्षेत्र हिंदीतर प्रांतों में गिना जाता है।

हिंदी साहित्य में पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित जो उपन्यास लिखे गए हैं, उनमें अधिकांश उपन्यास किसी एक अथवा दो राज्यों के जीवन पर आधारित हैं, जिनमें पूर्वोत्तर राज्यों की संस्कृति, मिथक, मूल्य, समस्याएं आदि पर चर्चा की गई है, जैसे- 'ब्रह्मपुत्र', 'मुक्ति' और 'जय आई असम' उपन्यास असम के जीवन पर; 'मेरी आवाज सुनो', 'उस रात की सुबह', 'जंगली फूल' और 'मिनाम' उपन्यास अरुणाचल प्रदेश के जीवन पर; 'मुक्तावती', 'उत्तर पूर्व' और 'आहुति' उपन्यास मणिपुर के जीवन पर; 'रक्तयात्रा' उपन्यास नागालैंड के जीवन पर; 'जहाँ बांस फूलते हैं' मिज़ोरम के जीवन पर तथा 'रूपतिल्ली की कथा' उपन्यास मेघालय के जीवन पर आधारित है। स्पष्ट है कि यह सभी उपन्यास अपने स्थान, पात्र, प्रकरण, संवाद आदि से पूर्वोत्तर भारत के जीवन पर प्रकाश डालते हैं। इन उपन्यासों

के रचनाकार पूर्वोत्तर भारत से भी हैं तथा भारत के अन्य हिस्सों से भी। इस प्रकार हिंदी साहित्य ने पूर्वोत्तर और भारत के अन्य हिस्सों के बीच एक सेतु का कार्य किया है। स्वाभाविक है कि पूर्वोत्तर के समग्र पक्षों की जानकारी उपरोक्त उपन्यासों में पूर्णतः नहीं मिलती, परंतु इन उपन्यासों में वर्णित जीवन और उठाये गए मुद्दे अपने कलेवर में विस्तृत हैं। किसी रचना की सृजन प्रक्रिया में परिवेश एक महत्वपूर्ण उपादान है, किंतु परिवेश के आधार पर ही रचना का सृजन हो, यह तर्कसंगत नहीं है। पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में परिवेश तथा पात्रों के माध्यम से पूर्वोत्तर का जो परिदृश्य सामने आता है, वह पूर्वोत्तर भारत को जानने में सहायक है। ब्रह्मपुत्र उपन्यास में लेखक देवेन्द्र सत्यार्थी लिखते हैं- “असमीया यथासंभव मर्यादा को नहीं छोड़ता है, पर यदि कहीं उसके आत्मसम्मान को ठेस लगी, तो वह बाढ़ के समय का ब्रह्मपुत्र बन जाता है। आश्रित्य में उसका जवाब नहीं। आज काम चल रहा है तो कल की चिंता क्यों की जाए? आने वाली विपत्ति आएगी तो देख लेंगे। बीते संकट का क्यों स्मरण किया जाए? पुरानी कहावत है- बाघ की सवारी करने वाले को बाघ से उतरने का गुर नहीं आता, पग-पग पर अनुभव हुआ कि असमीया को यह गुर भी आता है। ब्रह्मपुत्र गारा काटता हुआ और इधर को आएगा तो दिसांगमुख और पीछे हट जाएगा।” इसी प्रकार जोराम यालाम का उपन्यास ‘जंगली फूल’ (जो अरुणाचल प्रदेश की आबोतानी समुदाय पर केंद्रित है) में लेखिका लिखती हैं- “जंगल पक्षपाती नहीं होता। उसमें जो जीवन है, वह तटस्थ है! वहां खिलने वाले फूलों की अपनी ही मर्जी और मौज होती है! न मोह, न आसक्ति और न त्याग! सभी तरह के बंधनों से मुक्त स्वतंत्रता का नाम जंगल है! वह स्वतंत्रता, जो परम अनुशासन से उत्पन्न होती है! मौत कदम से कदम मिलाकर चलती रहती है। सतर्कता का नाम जंगल है। चुनौती का नाम जंगल है। जो भटके हुए से लगते हैं, वही रास्ता ढूंढ सकते हैं। जंगल भटका सकता है। लेकिन वही जिंदा भी करता है। बचने का आनंद भी उसी में है।” जैसे वाक्यों से हमें पूर्वोत्तर के लोगों के जीवन, उससे जुड़ी मान्यताएँ, मिथक और दर्शन आदि की जानकारी मिलती है।

प्रस्तुत शोध-कार्य के अंतर्गत पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित उपन्यासों के आलोक में लोक संस्कृति के पक्ष पर विचार किया गया है। 'लोक संस्कृति' किसी भी प्रदेश की प्रधान अस्मिता होती है। लोक संस्कृति का स्वरूप अपनी मूल अवस्था में अपने इतिहास, परंपरा, कला, सभ्यता, मान्यताएं आदि से संपृक्त है। 'लोक' की अपनी विशेष परिधि होती है, जहाँ प्रत्येक स्थापनाओं के पीछे एक विशिष्ट दर्शन होता है जो बदलते जीवन-मूल्यों के साथ परिवर्तित तो अवश्य होता है, परंतु अपनी जड़ों से जुड़ा रहता है। पूर्वोत्तर भारत के सभी राज्यों की अपनी समृद्ध और गौरवशाली परंपरा है, अरुणाचल प्रदेश की अधिकांश जनजातियां प्रकृतिपूजक हैं तथा दोन्यी-पोलो की उपासक भी। जहाँ दोन्यी (सूर्य) स्त्री का प्रतीक है तथा पोलो (चंद्रमा) पुरुष का। मेघालय की खासी जनजाति मातृवंशीय है। नागालैंड की नागा जनजाति पौराणिक नागवंश से संबंध रखती है तथा ब्रजबुलि साहित्य अथवा मणिपुरी रास की कृष्ण भक्ति का संदर्भ भक्तिकाल से जुड़ा हुआ है... इत्यादि। वस्तुतः पूर्वोत्तर भारत के औपन्यासिक पृष्ठभूमि के अंतर्गत हमें विविध लोक संस्कृतियों के दर्शन होते हैं, जिनसे पूर्वोत्तर भारत के जनजीवन को विस्तृत रूप से आत्मसात किया जा सकता है। उक्त विशिष्टताओं को दृष्टिगत रखते हुए पूर्वोत्तर भारत की लोक-संस्कृति के स्वरूप को शोध-अध्ययन के केंद्र में रखा गया है।

1.2 पूर्व शोध कार्यों की समीक्षा

प्रस्तुत शोध कार्य के अंतर्गत मुख्यतः वे हिंदी उपन्यास शामिल किए गए हैं, जो मूल रूप से पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित अथवा संबंधित हैं। इस क्रम में विभिन्न आलोचनात्मक पुस्तकों एवं पत्र पत्रिकाओं से शोधपरक सहायता ली गई है, जिसका विवरण निम्नलिखित है :

पुस्तक आधारित समीक्षा

कृपाशंकर चौबे द्वारा संपादित पुस्तक "हिंदी और पूर्वोत्तर" (2018) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित पूर्वोत्तर भारत के आठों राज्यों के भाषाई और सांस्कृतिक परिदृश्य पर केंद्रित एक महत्वपूर्ण पुस्तक है, जिसमें पूर्वोत्तर भारत की बोली, भाषा, जनजाति, साहित्य, पत्रकारिता, लोक-

संस्कृति और हिंदी की स्थिति से संबंधित कुल 26 आलेख हैं। इस पुस्तक में पूर्वोत्तर भारत में हिंदी के आरंभ और विकास यात्रा का क्रमबद्ध विवरण मिलता है। इसके अतिरिक्त इस पुस्तक में पुरोवाक के रूप में गिरीश्वर मिश्र द्वारा ‘मुख्यधारा का प्रश्न’ शीर्षक से भूमिका लिखी गई है, जिसमें पूर्वोत्तर के अस्मितामूलक संघर्ष और शेष भारत से उसके जुड़ाव पर आवश्यक चर्चा की गई है जो पूर्वोत्तर भारत के सामाजिक संदर्भों को समझने में सहायक है।

डॉ. सी. इ. जीनी की पुस्तक “पूर्वांचल प्रदेश में हिंदी भाषा और साहित्य” (1990) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित, में पूर्वांचल प्रदेश अर्थात् पूर्वोत्तर भारत के राज्यों की भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक स्थितियाँ, भाषाएँ-बोलियाँ, हिंदी शिक्षण, हिंदी की स्थिति व हिंदी संस्थानों का परिचय तथा पूर्वोत्तर के हिंदी साहित्य एवं साहित्यकारों का परिचय शामिल है। वस्तुतः यह पुस्तक डॉ. इ. सी. जीनी का शोध प्रबंध है, इस पुस्तक में कई संदर्भ ग्रंथों के उद्धृत कथन तथा पूर्वांचल प्रदेश के भाषाई सर्वेक्षण का विस्तृत विवरण भी शामिल है।

रमणिका गुप्ता द्वारा संपादित “पूर्वोत्तर आदिवासी सृजन मिथक एवं लोककथाएँ” (2017) राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित पुस्तक पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न प्रांतों एवं लोकभाषाओं की लोककथाओं का संग्रह है। ये सभी कथाएँ आपातानी (अरुणाचल प्रदेश), बोडो (असम), कार्बी (असम), खासी (मेघालय), मिजो (मिजोरम), अंगामी (नागालैंड), पैते (मणिपुर) आदि से संबंधित हैं। ये सभी कथाएँ सृष्टि-सृजन, प्रकृति, कृषि, पशु-पक्षी, वाद्ययंत्र, गोत्र, रीति-रिवाज, प्रेम, स्नेह, मातृत्व आदि मनोभावों एवं मिथकों पर केंद्रित हैं, जिनसे पूर्वोत्तर भारत की जनजातीय संस्कृति एवं सामाजिक प्रतिमानों के निर्माण-विकास प्रक्रिया की जानकारी मिलती है।

पंकज मिश्र ‘अटल’ द्वारा संपादित पुस्तक “साक्षात्कार: संभावना और यथार्थ” (पूर्वोत्तर के हिंदी रचनाधर्मियों से साक्षात्कार), वर्ष 2020, बोधि प्रकाशन, जयपुर से प्रकाशित है। इस पुस्तक में पूर्वोत्तर भारत में रहकर हिंदी भाषा में सृजनात्मक लेखन कर रहे 19 साहित्यकारों के साक्षात्कार शामिल हैं, जिनमें जमुना बीनी तादर, देवेन चंद्र दास ‘सुदामा’, जीना बरुवा, रमेन्द्र कुमार पाल आदि

रचनाकारों के इंटरव्यू सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त शेष रचनाकारों में अधिकांश अनुवादक, पत्रकार, स्वतंत्र लेखक, रेडियो वार्ताकार, शिक्षक जैसे प्रबुद्ध व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने पूर्वोत्तर भारत में हिंदी के प्रचार-प्रसार को एक नई दिशा प्रदान की। लेखक पंकज मिश्र 'अटल' ने प्रत्येक साक्षात्कार से पूर्व रचनाकार का विस्तृत परिचय दिया है, जिससे उनकी वैचारिकता के साथ-साथ हमें उनके कृतित्व का भी परिचय मिलता है।

‘अरुणाचल का आदिकालीन इतिहास’ (2020 संस्करण), राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दिल्ली द्वारा प्रकाशित पुस्तक मूलतः हिंदी में अनूदित पुस्तक है, जिसके अनुवादक सच्चिदानंद चतुर्वेदी हैं। यह पुस्तक मूल अंग्रेजी कृति “Glimpses of the Early History of Arunachal” लेखक एल. एन. चक्रवर्ती का हिंदी अनुवाद है। इस पुस्तक में अरुणाचल प्रदेश के भौगोलिक, सामाजिक, ऐतिहासिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की जानकारी मिलती है। लेखक ने आठ अध्यायों/खण्डों में पुस्तक में निहित सामग्री का वर्गीकरण किया है। इनमें कामेंग, सुबनसिरी, सियांग, लोहित, तिरप सीमांत मंडल की क्षेत्रीय विशेषताएं तथा अरुणाचल प्रदेश के ऐतिहासिक अवशेष के रूप में अरुणाचल के आरंभ से जुड़ी लोककथाएं, मिथक, इतिहास और पुरातात्विक साक्ष्यों की चर्चा की गई है। पुस्तक के अंतिम भाग में ‘असम के मैदानों पर अरुणाचल के निवासियों के आक्रमण’ शीर्षक से अतीत के युद्ध एवं जनजातियों द्वारा वर्चस्व हेतु आक्रमण की एक तालिकाबद्ध सूची दी गई है, जिससे यह पुस्तक पाठकों के समक्ष अरुणाचल प्रदेश के वर्तमान स्वरूप एवं उसके निर्माण प्रक्रिया को जानने-समझने में उपयोगी सिद्ध होती है।

‘पूर्वोत्तर की लोक संस्कृति’ (2019), श्यामबाबू शर्मा द्वारा रचित पूर्वोत्तर भारत की लोक संस्कृति पर केंद्रित एक आलोचनात्मक कृति है। इसका प्रकाशन वर्ष 2019 में अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली से हुआ। इस पुस्तक में पूर्वोत्तर भारत के पौराणिक, ऐतिहासिक, प्राकृतिक, भौगोलिक तथा साहित्यिक परिदृश्य के आधार पर पूर्वोत्तर भारत के आठों राज्यों के लोक-जीवन पर चर्चा की गई है। इस पुस्तक में कुल 14 अध्याय अथवा सांस्कृतिक लेख हैं, जिनमें कामरूप के पौराणिक संदर्भ, मेघालय का लोक-

जीवन, त्रिपुर सुन्दरी की भूमि, दोन्ही पोलो का देश एवं पूर्वोत्तर और अनुवाद की प्रासंगिकता जैसे महत्त्वपूर्ण लेख हैं, जिसमें पूर्वोत्तर भारत के आठों राज्यों के लोक-जीवन, जनजातीय समुदायों की आस्था व सामाजिक व्यवस्था, पर्व-त्यौहार, भाषिक संस्कृति आदि के विषय में तथ्यात्मक जानकारी मिलती है। प्रत्येक लेख/ अध्याय के बाद संदर्भ ग्रंथों की सूची दी गई है, जो शोध-सामग्री की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

आलोक सिंह द्वारा संपादित 'बहुआयामी पूर्वोत्तर भारत' (पूर्वोत्तर भारत की जनजातीय भाषाएँ, साहित्य एवं संस्कृति) पुस्तक वर्ष 2021 में अमन प्रकाशन, कानपुर से प्रकाशित है। इस पुस्तक में पूर्वोत्तर भारत से संबंधित कुल 34 आलेख संकलित हैं। पूर्वोत्तर साहित्य के विशेषज्ञ वीरेन्द्र परमार ने इस पुस्तक की सारगर्भित भूमिका लिखी है, जिसमें उन्होंने पूर्वोत्तर भारत के ऐतिहासिक उद्गम और विकास से लेकर खान-पान, रीति-रिवाज, धर्म-संस्कृति, भाषा-कला आदि विविध पक्षों का संक्षिप्त परिचय दिया है। प्रस्तुत पुस्तक में पूर्वोत्तर भारत के प्रमुख आदिवासी समुदाय, गारिया लोकगीतों की विशेषताएँ, लेप्चा समाज का परिचय एवं इतिहास, मणिपुरी लोकनाट्य शुमांग लीला, हिंदी सिनेमा और पूर्वोत्तर भारत जैसे महत्त्वपूर्ण लेख हैं, जिनमें पूर्वोत्तर भारत के बहुआयामी पक्षों पर विस्तृत जानकारी दी गई है।

'पूर्वोत्तरीय राज्यों में हिंदी साहित्यलेखन का इतिहास' हरेराम पाठक द्वारा लिखित एक शोधपरक पुस्तक है। इसका प्रकाशन वर्ष 2020 में अनंग प्रकाशन, दिल्ली से हुआ। इस पुस्तक में कुल आठ अध्याय हैं, जिनमें मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक पूर्वोत्तर भारत के सभी राज्यों में हिंदी साहित्यलेखन पर प्रकाश डाला गया है। इसमें शंकरदेव, माधवदेव, श्रीराम आता, विश्वंभर द्विज आदि से लेकर लोकनाथ भारती, छगन लाल जैन, नवारुण वर्मा तथा रमण शांडिल्य जैसे लेखकों का रचनात्मक परिचय दिया गया है साथ ही पूर्वोत्तर भारत में हिंदी के प्रचार-प्रसार से लेकर पत्र-पत्रिकाओं, अनुवाद साहित्य आदि पर इतिवृत्तात्मक रूप से चर्चा की गई है। पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी साहित्य इतिहास के दृष्टिकोण से यह एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

डॉ. जयश्री सिंह द्वारा रचित 'पूर्वोत्तर का आदिवासी समाज : लोक साहित्य एवं संस्कृति' (2019) आर. के. पब्लिकेशन, मुंबई से प्रकाशित, पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय समाज पर केंद्रित एक विवरणात्मक पुस्तक है। चार अध्यायों में विभक्त इस पुस्तक में पूर्वोत्तर की आदिवासी जनजातियाँ एक परिचय, पूर्वोत्तर भारत की आदिवासी लोककथाएँ, कथावस्तु के स्रोत तथा पूर्वोत्तर के लोकगीतों में जीवन-दर्शन के अंतर्गत बोड़ो; राभा; खासी; मिज़ो; आदी, नंगामी; कॉकबोरक एवं मैतेई लोककथाएँ, जनजातियों की उत्पत्ति; मिथकों एवं लोककथाओं में सूर्य-चन्द्र; लोककथाओं में हास्य-विनोद तथा बोड़ो; मिज़ो; मणिपुरी; नोक्ते; राभा जनजातियों के लोकगीत आदि का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

'पूर्वोत्तर : साहित्य और लोकजीवन' पुस्तक वर्ष 2021 में ए. बी. एस. पब्लिकेशन, वाराणसी से प्रकाशित है। इसके संपादक द्वय हैं- डॉ. रघुनाथ पाण्डेय तथा डॉ. दिलीप कुमार अवस्थी। इस पुस्तक में कुल 46 आलेखों का संग्रह है, जिनमें असम के जनजीवन में लोककथाएँ, गालो लोक-जीवन में लोकोक्तियों का महत्त्व, मिसिंग जनजातीय समाज में उत्सव-पर्व, सप्तभगिनी के लोकनृत्यों का वैशिष्ट्य, पूर्वोत्तर की भाषाओं का प्रतिरोधात्मक चरित्र आदि लेख हैं। इसमें पूर्वोत्तर के विभिन्न भाषा-बोली, जनजातीय समाज, लोकनृत्य, लोकगीत तथा हिंदी एवं स्थानीय भाषिक साहित्य का तुलनात्मक विवेचन आदि से संबंधित विवरण उपलब्ध है, जिनसे पूर्वोत्तर भारत के साहित्य व संस्कृति की समग्रता में जानकारी मिलती है।

पत्र-पत्रिकाओं से उपलब्ध सामग्री

अयोध्या, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका 'अवध अर्चना' का पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित अंक-1 और 2 (दो खण्डों में) जनवरी-मार्च 2019 तथा अप्रैल-जून 2019 में प्रकाशित हुआ। इसके संपादक विजय रंजन तथा पूर्वोत्तर केंद्रित अंक के अतिथि संपादक सुनील कुमार हैं। इस पत्रिका के पूर्वोत्तर विशेषांक के पहले भाग में दिनेश कुमार चौबे के आलेख 'पूर्वोत्तर भारत का लोक साहित्य' जिसमें विशेष रूप से असम और मेघालय की लोक-संस्कृति की विस्तृत चर्चा की गई है साथ ही

पत्रिका के दूसरे विशेषांक में वीरेन्द्र परमार के आलेख 'पूर्वोत्तर भारत का आदिवासी लोकसाहित्य' में लोकगीत, लोककथा, लोकनृत्य, मिथक, कहावतों आदि के आधार पर पूर्वोत्तरीय राज्य के लोक-संस्कृति का चित्रण मिलता है। इसके अतिरिक्त इन अंकों के अन्य लेखों से भी आवश्यक शोधपरक सामग्री मिलती है।

‘साहित्य त्रिवेणी’ पत्रिका (त्रैमासिक) का पूर्वोत्तर भारत विशेषांक (जनवरी-जून 2020) एक महत्वपूर्ण अंक है। कोलकाता, पश्चिम बंगाल से प्रकाशित इस पत्रिका के संपादक कुँवर वीर सिंह मार्टंड एवं अतिथि संपादक डॉ. हिरेन्द्र कुमार भागवती हैं। इस अंक में पूर्वोत्तर भारत की अद्वितीय संस्कृति, पूर्वोत्तर भारत में 1857 की क्रांति, मणिपुरी नृत्य, अरुणाचल प्रदेश के लोक नृत्य जैसे कुल 43 आलेख हैं। इस विशेषांक की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें पूर्वोत्तर भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक व भौगोलिक आदि सभी पक्षों से संबंधित विवरण शामिल हैं। विशेषकर संपादकीय में पूर्वोत्तर विषयक जो भ्रांतियां, यथार्थ, समस्याएं, वस्तुस्थिति जैसे बिंदुओं पर जो चर्चा की गई है, वह सामान्य पाठक व पर्यटक को पूर्वोत्तर भारत को देखने-समझने का एक नया आयाम देती है।

यूनियन बैंक ऑफ इंडिया की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका ‘यूनियन सृजन’(जुलाई-सितंबर 2019) मुंबई, का ‘पूर्वोत्तर भारत विशेषांक’ उत्तर-पूर्व भारत की सांस्कृतिक विविधता पर केंद्रित एक महत्वपूर्ण अंक है। इस अंक की संपादक डॉ. सुलभा कोरे तथा प्रधान संपादक ब्रजेश्वर वर्मा हैं। 56 पृष्ठों की यह पत्रिका विविध आलेखों एवं पूर्वोत्तर भारत के रमणीय चित्रों से सुसज्जित है। इस पत्रिका में 17 आलेख हैं, जो बैंक कर्मचारियों द्वारा लिखे गए हैं। इनमें ‘पूर्वोत्तर राज्य एक सांस्कृतिक विरासत’, ‘पूर्वोत्तर राज्यों में खान-पान’, ‘पूर्वोत्तर भारत के उत्सव एवं त्यौहार’, ‘पूर्वोत्तर की नदियाँ’ तथा ‘पूर्वोत्तर भारत : धर्म एवं मानसिकता’ जैसे लेख शामिल हैं, इसके अलावा उत्तर-पूर्वी राज्यों की लोक-कला, संगीत, हस्तशिल्प, वेश-भूषा, खान-पान, विवाह-पद्धति, पर्यटन स्थल से भी जुड़ी अनेक महत्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं।

महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से प्रकाशित द्वैमासिक पत्रिका 'पुस्तक वार्ता' का अंक-47 (जुलाई-अगस्त 2013) जिसके संपादक भारत भारद्वाज हैं, में प्रकाशित सुंदरम शांडिल्य का आलेख "हाशिये से संवाद की एक बेचैन प्रेमकथा" पूर्वोत्तर भारत के हिंदी उपन्यासों पर केंद्रित एक समीक्षात्मक विवरण है। प्रस्तुत आलेख में पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों का क्रमबद्ध उल्लेख करते हुए प्रदीप सौरभ कृत उपन्यास 'देश भीतर देश' की समीक्षा की गई है। जिसमें नायक-नायिका के प्रेम-प्रसंग के समानांतर ही पूर्वोत्तर भारत की समस्याएँ जैसे- आतंकवाद, घुसपैठ, नस्लभेद आदि की जानकारी मिलती है, जो मुख्य पात्र के मन में भारत देश के भीतर ही एक अन्य देश की विडंबना पैदा कर देती है, यही इस उपन्यास की मूल कथावस्तु है। वस्तुतः यह लेख समीक्षित उपन्यास एवं उसके समस्यामूलक संदर्भों की आलोचनात्मक व्याख्या करता है।

लखनऊ, उत्तर प्रदेश से शैलेंद्र सागर के संपादन में निकलने वाली त्रैमासिक पत्रिका 'कथा क्रम' का जुलाई-सितंबर 2017 अंक में ब्रह्मपुत्र उपन्यास पर केंद्रित मधुरेश का आलेख 'सांस्कृतिक बहुलता की यायावरी- विशेष संदर्भ : ब्रह्मपुत्र' एक महत्वपूर्ण व दुर्लभ सामग्री है। इसमें देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यास 'ब्रह्मपुत्र' की कथावस्तु, विभिन्न पात्रों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण, स्वतंत्रता संग्राम की क्रांतिकथा, असम की लोक-संस्कृति और उसमें ब्रह्मपुत्र का महत्व आदि विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है। यह आलेख असम की संरक्षित प्रकृति, नदी-संस्कृति तथा धार्मिक व सांस्कृतिक बहुलता पर प्रकाश डालती है।

बांदा, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित नूतनवाग्धारा पत्रिका जिसके संपादक डॉ. अश्विनी कुमार शुक्ल हैं तथा अतिथि संपादक डॉ. अलखनिरंजन सहाय हैं, का अंक- 37 मार्च, 2019 पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित है। 148 पृष्ठों के अंक में कुल 50 लेख हैं, जो लोक संस्कृति, कला, साहित्य, साक्षात्कार, अनुवाद, इतिहास, संस्मरण तथा पुस्तक समीक्षा पर केंद्रित है। इसमें लगभग पूर्वोत्तर भारत के आठों राज्यों पर अध्ययनपरक सामग्री है। इस अंक में 'हिंदी साहित्य में पूर्वोत्तर भारत (मणिपुर के विशेष संदर्भ में)', खामति जनजाति की रामायण 'लिक-चाऊ-लामांग' में राम : एक अध्ययन, त्रिपुरी

लोकनृत्य : एक परिचय, 'लुप्तप्राय आहोम धर्म : अतीत से वर्तमान तक' आदि शोधपरक आलेख हैं, जिनमें उत्तर पूर्वी भारत के विषय में विविध जानकारी मिलती है।

अलीगढ़, उत्तर प्रदेश से वाङ्मय (त्रैमासिक) पत्रिका का अप्रैल-सितंबर 2022 संयुक्तांक शोध सामग्री के दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक अंक है। इसके संपादक डॉ. एम. फीरोज़ अहमद हैं। मूल रूप से यह अंक आदिवासी उपन्यास (2014-2022) पर केंद्रित है। इसी कड़ी में इसमें पूर्वोत्तर भारत केंद्रित तीन पठनीय आलेख हैं- (1) संपन्न कबीले का सपना साकार करने वाला आबोतानी : जंगली फूल - डॉ. जसविंदर कौर बिंद्रा, (2) रोशनी की बाट जोहता आदिवासी समाज : मिनाम - सुधा जुगरान एवं (3) नदी की टूट रही देह की आवाज़ पूर्वोत्तर का जीवंत आख्यान - डॉ. विजेन्द्र प्रताप सिंह। इन तीनों लेखों में रचनाकारों द्वारा वर्णित उपन्यासों के पात्र, उनके जीवन, समस्याएं, राजनीति, संस्कृति आदि पर विस्तृत चिंतन देखने को मिलता है।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा की त्रैमासिक पत्रिका का वर्ष 2021 का जनवरी-दिसंबर अंक 'भारतीयता का अरुणोदय : पूर्वोदय' पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित है। इस अंक के प्रधान संपादक प्रो. रजनीश कुमार शुक्ल तथा सहायक संपादक डॉ. अमित कुमार विश्वास हैं। प्रस्तुत पत्रिका कुल 550 पृष्ठों का एक वृहद अंक है, जिसमें असम, अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड, मेघालय, मिज़ोरम, मणिपुर, सिक्किम, त्रिपुरा और भाषा चिंतन शीर्षक से वर्गीकृत ढंग से अनुक्रमणिका व आलेख संकलित हैं। इसमें पूर्वोत्तर भारत की भाषिक संपदा, असम के त्यौहारों में प्रचलित लोकगीत, अरुणाचल प्रदेश की लोक कला गोदना, नागालैंड तथा उसकी जनजातियां, गारो लोक संस्कृति, मिज़ो समाज और संस्कृति, मणिपुर का कला वैभव, भूटिया समुदाय का साहित्य एवं इतिहास, त्रिपुरा की लोक परंपरा में नृत्यकला जैसे 66 महत्वपूर्ण आलेख हैं। इसमें पूर्वोत्तर भारत के सभी राज्यों पर केंद्रित विस्तृत एवं व्यापक लेखन सामग्री मिलती है, जो शोध की दृष्टि से बेहद ज्ञानवर्धक एवं उपयोगी है।

पूर्व शोध-कार्यों से उपलब्ध सामग्री

वर्ष 2009 में शोधकर्ता राकेश कुमार धर दूबे ने असम विश्वविद्यालय, सिलचर से 'हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत' विषयक शोध डॉ. गोपाल प्रधान के निर्देशन में संपन्न किया। यह शोध पूर्वोत्तर भारत के हिंदी उपन्यासों पर केंद्रित है। इसमें 'ब्रह्मपुत्र', 'उत्तर-पूर्व', 'मुक्ति', 'जहाँ बाँस फूलते हैं' तथा 'रूपतिल्ली की कथा' कुल पाँच उपन्यास हैं। यह शोध-कार्य आठ अध्यायों में विभक्त है, जिनमें उपरोक्त उपन्यासों पर केंद्रित पाँच अध्याय क्रमशः 'असमीया मानस और ब्रह्मपुत्र', 'मणिपुर का सामाजिक जीवन और उत्तर-पूर्व उपन्यास', 'देश विभाजन और मुक्ति उपन्यास', 'मिज़ोरम का सामाजिक जीवन और जहाँ बाँस फूलते हैं उपन्यास' तथा 'मेघालय का औपनिवेशिक रूपांतरण और रूपतिल्ली की कथा उपन्यास' शामिल है। इस शोध-कार्य में शोधकर्ता ने उक्त उपन्यासों के कथावस्तु का बड़ा ही तर्कसंगत विश्लेषण करते हुए उपन्यासों में वर्णित घटनाओं, पात्रों का सामाजिक जीवन, पूर्वोत्तर भारत के राज्यों का सामाजिक व ऐतिहासिक परिदृश्य, उपन्यास के शिल्प आदि पर विस्तृत चर्चा की है। शोधकर्ता ने उपन्यासों पर बड़े ही तटस्थ भाव से अपनी बात कहते हुए एक ओर जहाँ रचनाकार द्वारा उपन्यास के सृजन में वर्णित कमियों को उजागर करते हुए उसकी आलोचना की है तो वहीं पूर्वोत्तर की जनता की समस्या, धार्मिक-सांस्कृतिक संरचना, राजनीतिक व सामाजिक भेदभाव जैसे मुद्दों पर उसकी सराहना भी की है। इस शोध कार्य की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों पर यह अपने ढंग का प्रथम शोध-कार्य है, जिससे संबंधित विषयों पर होने वाले परवर्ती शोध-कार्यों को यथोचित सहायता मिलेगी।

'पूर्वोत्तर भारत आधारित यात्रा संस्मरणों का अध्ययन' विषय पर शोधकर्ता प्रेमदत्त पाण्डेय ने वर्ष 2018 में जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से डॉ. मुकेश कुमार मिरोठा के निर्देशन में शोध-कार्य संपन्न किया। प्रस्तुत शोध-कार्य में पाँच अध्याय हैं- 'हिंदी यात्रा संस्मरण का स्वरूप एवं विकास', 'यात्रा संस्मरण साहित्य का वैचारिक सांस्कृतिक आधार', 'भारत की सांस्कृतिक विविधता और पूर्वोत्तर की संस्कृति', 'पूर्वोत्तर संबंधी यात्रा संस्मरणों में वर्णित जीवन और संस्कृति'

एवं ‘पूर्वोत्तर भारत संबंधी यात्रा संस्मरणों में निहित वैचारिकी’। इस शोध-कार्य में शोधार्थी ने हिंदी साहित्य में यात्रा संस्मरण विधा की साहित्यिक एवं वैश्विक अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसके भाव-सौंदर्य, सांस्कृतिक, वैचारिक, दार्शनिक आदि पहलुओं पर चर्चा की है। इस शोध से पूर्वोत्तर भारत पर आधारित यात्रा संस्मरण जैसे काका कालेलकर द्वारा लिखित ‘असम एक झांकी’, ‘मणिपुर इंफाल दर्शन’ और ‘पहाड़ का फूल सिक्किम’, अज्ञेय द्वारा रचित यात्रा संस्मरण ‘माझुली’, ‘परशुराम से तूरखम’ व ‘बहता पानी निर्मला’, कृष्णनाथ का ‘अरुणाचल यात्रा’, चंडी प्रसाद भट्ट का ‘पर्वत-पर्वत बस्ती-बस्ती’ आदि यात्रा संस्मरणों की इस कड़ी में अनिल यादव, असगर वजाहत, पंकज बिष्ट, मृदुला गर्ग, सांवरमल सांगानेरिया आदि रचनाकारों की कृतियों का परिचय मिलता है, जिससे पूर्वोत्तर भारत के अनुपम प्राकृतिक सौंदर्य, जीवन-दर्शन तथा रक्तरंजित संघर्षों आदि के विषय में बहुत सी नई जानकारी मिलती है, साथ ही संदर्भ ग्रंथ सूची की लंबी फेहरिस्त और आंकड़े पूर्वोत्तर भारत के शोधपरक अध्ययन के लिए बहुत ही उपयोगी व ज्ञानवर्धक है।

वर्ष 2022 में शोधार्थी रोज़ी कामेई ने जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से ‘हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत का आदिवासी समाज’ विषय पर प्रो. दिलीप शाक्य के निर्देशन में अपना शोध-कार्य संपन्न किया। यह शोध कुल पांच अध्यायों ‘पूर्वोत्तर भारत के आदिवासी : अवधारणा एवं स्वरूप’, ‘आदिवासी साहित्य एवं पूर्वोत्तर भारत का आदिवासी समाज’, ‘हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत का आदिवासी जीवन’, ‘हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत के आदिवासियों का निरूपण’ और ‘उपन्यासों में चित्रित आदिवासी लोक-विश्वास एवं मिथक’ में विभक्त है। इस शोध-ग्रंथ के मूल में पूर्वोत्तर भारत के हिंदी उपन्यासों और वहाँ का आदिवासी जीवन-दर्शन है। आधार ग्रंथ के तौर पर इस शोध-कार्य में कुल 11 उपन्यासों को शामिल किया गया है। इस शोध-कार्य में पूर्वोत्तर भारत के आदिवासी समाज पर मुख्य रूप से बात की गई है। इसके अंतर्गत उनकी ऐतिहासिक व सांस्कृतिक संरचना, भाषा, परंपरा, लोकधर्मिता, आदिवासी एवं गैर आदिवासी लेखन, महिला रचनाकारों की रचनादृष्टि और अनुभव, पहचान का संकट- बाहरी घुसपैठ जैसे संवेदनशील मुद्दे,

आदिवासी संघर्ष एवं प्रतिरोध-गाथा आदि प्रमुख बिंदुओं पर अध्यायवार चर्चा की गई है। इसमें पूर्वोत्तर के आदिवासी समाज में प्रचलित लोक-पदावली और उसके अर्थ-विस्तार की जानकारी नवीन व रोचक है। पूर्वोत्तर भारत के हिंदी उपन्यासों में आदिवासी समाज को केंद्र में रखकर किया गया यह संभवतः प्रथम शोध-कार्य है, जिससे पूर्वोत्तर भारत के आदिवासी विमर्श पर होने वाले भावी शोध-कार्यों को एक नई दिशा मिलेगी।

गुवाहाटी विश्वविद्यालय से शोधार्थी संजीव मंडल ने डॉ. रीतामणि वैश्य के निर्देशन में 'हिंदी कथा साहित्य में चित्रित पूर्वोत्तर भारत का जनजीवन' विषय पर वर्ष 2022 में अपना शोध-कार्य संपन्न किया। इस शोधप्रबंध में शोधकर्ता ने मुख्य रूप से पूर्वोत्तर भारत के हिंदी कथा-साहित्य के अंतर्गत कहानी एवं उपन्यास की चर्चा की है, साथ ही पूर्वोत्तर भारत केंद्रित कविता, निबंध, आलोचना, नाटक, लोक साहित्य, जीवनी, गीत, यात्रा-वृत्तांत, संस्मरण, डायरी, अनूदित साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ आदि की भी परिचयात्मक चर्चा की गई है। यह शोध कुल 7 अध्यायों में लिखित है, जो क्रमशः निम्नलिखित हैं:- 'पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित हिंदी साहित्य', 'हिंदी कथा-साहित्य में चित्रित पूर्वोत्तर भारत का राजनीतिक जीवन', 'हिंदी कथा- साहित्य में चित्रित पूर्वोत्तर भारत का सामाजिक जीवन', 'हिंदी कथा-साहित्य में चित्रित पूर्वोत्तर भारत का आर्थिक जीवन', 'हिंदी कथा-साहित्य में चित्रित पूर्वोत्तर भारत का धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन', 'विवेच्य कथा-साहित्य की भाषा और शैली' और 'निष्कर्ष'। इस शोध में बहुत ही बड़े कलेवर में पूर्वोत्तर भारत के हिंदी साहित्य का समग्रता में विश्लेषण किया गया है। पूर्वोत्तर भारत के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन का वर्णन करके हुए शोधकर्ता ने प्रशासनिक विफलता, बांग्लादेशी घुसपैठ, सेना-विद्रोही संगठन, संघर्ष, स्त्री शिक्षा, विवाह, जाति-पाति, भीतरी-बाहरी लोगों की अवधारणा, बाढ़, खेती, अकाल, गरीबी, भ्रष्टाचार, व्यवसाय, धार्मिकता, सामाजिक संरचना, लोकाचार आदि की विस्तृत चर्चा करते हुए कथा-साहित्य के शिल्प-पक्ष का भी विश्लेषण किया है। प्रस्तुत शोध-कार्य अपने वृहद पृष्ठाकार और पूर्वोत्तर के हिंदी साहित्य का सर्वांग विवेचन करने के क्रम में अन्य शोध-प्रबंधों से पृथक एवं विशिष्ट जान पड़ता है।

‘आधुनिक हिंदी साहित्य में पूर्वोत्तर भारत की जनजातीय सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति’ शोध विषय पर पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग से शोधार्थी अरविंद कुमार यादव ने प्रो. माधवेंद्र प्रसाद पाण्डेय के निर्देशन में वर्ष 2024 में शोध-कार्य पूर्ण किया। उक्त शोध-कार्य में साहित्य की समस्त विधाओं में उल्लेखित पूर्वोत्तर भारत का विश्लेषण किया गया है। यह शोध कार्य कुल 6 अध्यायों में विभक्त है। इसमें प्रथम अध्याय ‘हिंदी साहित्य में पूर्वोत्तर भारत’ के अंतर्गत ‘हिंदी में जनजातीय साहित्य लेखन की पहचान एवं परख : एक ऐतिहासिक विवेचन’, में पूर्वोत्तर भारत विषयक साहित्य लेखन (यथा काव्य, कथा, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत, रेखाचित्र इत्यादि) और हिंदी में पूर्वोत्तर भारत विषयक अनूदित साहित्य लेखन शामिल है। द्वितीय अध्याय ‘जनजातीय सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की पहचान एवं पूर्वोत्तर भारत’ के अंतर्गत पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का अध्ययन और विश्लेषण किया गया है। तृतीय अध्याय ‘आधुनिक हिंदी कविता में जनजातीय सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति’ के अंतर्गत जनजातीय सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का विश्लेषण करने के लिए हिंदी कविता को आधार बनाया गया है। चतुर्थ अध्याय ‘हिंदी उपन्यासों में जनजातीय सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति’ पर केंद्रित है। इसमें पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में चित्रित संस्कृति, भाषा, सामाजिक ढाँचे, जीवन-शैली और प्राकृतिक परिवेश से जुड़ी जीवन-दृष्टि का प्रस्तुतीकरण मिलता है। पंचम अध्याय ‘हिंदी कहानियों में जनजातीय सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति’ पर आधारित है तथा षष्ठ अध्याय ‘हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं में जनजातीय सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति’ है, जिसमें संस्मरण, रेखाचित्र और यात्रा-वृत्तांत से संबंधित विवरण शामिल हैं।

‘हिंदी कथा साहित्य में पूर्वोत्तर के अस्मिता-संघर्ष का आलोचनात्मक अध्ययन’ विषय पर जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से शोधार्थी वाहीदा परवेज़ ने डॉ. कहकशां एहसान साद के निर्देशन में वर्ष 2024 में शोध संपन्न किया। इस शोध-कार्य को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। पहले अध्याय में अस्मिता-विमर्श और पूर्वोत्तर भारत को समझने का प्रयास

किया गया है। इसमें पहले अस्मिता की अवधारणा, उसके अर्थ और स्वरूप पर विद्वानों के विचारों के आधार पर चर्चा की गई है, इसके बाद हिंदी साहित्य में स्त्री, दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक अस्मिता से जुड़े विमर्शों को समझा गया है। इसी अध्याय में हिंदी कथा-साहित्य में पूर्वोत्तर भारत का चित्रण भी प्रस्तुत किया गया है, जिसमें वहाँ के जीवन, संघर्ष और सांस्कृतिक विविधताओं को रेखांकित है। दूसरा अध्याय पूर्वोत्तर भारत के विविध परिवेश और विशेषताओं पर केंद्रित है, जिसमें सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक विविधता, राजनीतिक समस्याएँ और क्षेत्र के ऐतिहासिक महत्त्व पर चर्चा की गई है। इस अध्याय में पूर्वोत्तर के सामाजिक जीवन, जनजातीय समुदायों की सांस्कृतिक पहचान, लंबे समय से चली आ रही राजनीतिक चुनौतियों और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट किया गया है। तीसरे अध्याय में हिंदी कथा-साहित्य में पूर्वोत्तर की सामाजिक अस्मिता, विशेषकर स्त्री और आदिवासी समुदायों के संघर्षों का विश्लेषण किया गया है। इसमें पूर्वोत्तर की स्त्रियों से संबंधित मुद्दों, मातृवंशीय समाज में उनकी भूमिका, आदिवासी समाज की संरचना और आधुनिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न पहचान-संकट पर प्रकाश डाला गया है। चौथा अध्याय पूर्वोत्तर क्षेत्र की राजनीतिक अस्मिता से जुड़े संघर्षों को प्रस्तुत करता है, जिसमें अलगाववाद, उग्रवाद, सैन्य हस्तक्षेप, प्राकृतिक आपदाओं से उत्पन्न चुनौतियाँ तथा स्थानीय और बाहरी लोगों के बीच होने वाले टकराव को कथा-साहित्य के आधार पर समझाया गया है। पाँचवाँ अध्याय पूर्वोत्तर की सांस्कृतिक अस्मिता पर केंद्रित है, जिसमें वहाँ की वेश-भूषा, खान-पान, पर्व-त्यौहार, स्थानीय परंपराओं और भाषाई विविधताओं का विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबंध पूर्वोत्तर भारत की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अस्मिता को हिंदी कथा-साहित्य के माध्यम से सरल, समग्र और स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयास करता है।

दृष्टव्य है कि हिंदी साहित्य में पूर्वोत्तर भारत के संदर्भ में लगभग सभी विधाओं में रचनात्मक लेखन हुआ है। लोक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखें तो इन रचनाओं में पूर्वोत्तर भारत की लोक संस्कृति एवं सांस्कृतिक विरासत की जीवंत उपस्थिति दिखाई देती है। पूर्व शोध कार्यों के समीक्षात्मक

विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि अनुसंधान की दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत के लोक पक्ष पर केंद्रित मेरे संज्ञान में अब तक कोई स्वतंत्र शोध कार्य नहीं हुआ है, अतः इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत शोध-विषय का चयन मौलिक है।

1.3 शोध समस्या का कथन

लोक संस्कृति किसी भी व्यक्ति, समाज, समुदाय, परिवेश, क्षेत्र विशेष आदि की एक स्वतंत्र एवं पृथक् सत्ता होती है। लोक संस्कृति किसी भी व्यक्ति अथवा समाज को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से प्रभावित करती है। अतः समाज में व्याप्त कोई भी व्यक्ति, वस्तु, स्थान आदि लोक संस्कृति की परिधि से बाहर नहीं। उदाहरणस्वरूप किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थानादि का नाम ही लोक-संस्कृति का प्रथम परिचायक है। तत्पश्चात् उसकी जीवन-शैली, भाषा-बोली, इतिहास, भूगोल जैसे तत्त्वों में भी उसकी लोक संस्कृति निहित होती है। साहित्य को जिस समाज के दर्पण के रूप में देखा जाता है, वह समाज लोक-संस्कृति के माध्यम से ही निर्मित एवं विकसित होता है। साहित्य के विभिन्न विधाओं में लोक-संस्कृति की विशिष्ट उपस्थिति होती है। प्रस्तुत शोध-कार्य 'पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त लोक संस्कृति का स्वरूप' मूल रूप से पूर्वोत्तर भारत की लोक संस्कृति पर केंद्रित है। इस शोध में यह अन्वेषण किया गया है कि हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत की लोक संस्कृति किस रूप में चित्रित है? और पूर्वोत्तर की सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण, स्वरूप, प्रवृत्ति आदि अपने साहित्यिक रूप में किस प्रकार अभिव्यक्त हुई है?

किसी भी शोध की समस्या उस शोध अथवा अनुसंधान का प्रथम सोपान होती है। समस्या ही अपने हलस्वरूप प्रश्नाकुलता, उद्देश्य, समाधान प्रक्रिया, निष्कर्ष एवं सिद्धांत जैसे कारकों को जन्म देती है। प्रस्तुत शोध-कार्य में हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत की लोक संस्कृति की पड़ताल की गई है। अध्ययन के क्रम में विषय से संबंधित कई ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे समक्ष उभरते हैं, जिन पर विचार किया जाना आवश्यक है। मसलन- (i) उपन्यासों के पात्र एवं घटनाओं ने लोक संस्कृति को किस रूप

में प्रभावित किया है? (ii) पूर्वोत्तर की लोक संस्कृति अपने आदिम और वर्तमान स्वरूप में किस प्रकार मौजूद है? (iii) घटनापरक और विमर्शपरक उपन्यासों में जनता का प्रतिरोध व संघर्ष लोक संस्कृति को कैसे प्रभावित करता है? (iii) जनजातीय समाज द्वारा अपनी परंपराओं और मान्यताओं को जीवित रखना तथा उनमें फेरबदल का अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव कैसे पड़ता है? (iv) उपन्यासों में वर्णित लोक संस्कृति अपनी वास्तविक स्थिति से कितनी भिन्न व साम्य है? (v) पूर्वोत्तर का समाज और संस्कृति भारत के अन्य भागों से किस प्रकार सम्बद्ध है? (vi) कृषि, कला, भोजन, वेश-भूषा एवं भाषा-बोली आदि तत्वों में लोक संस्कृति किस प्रकार सन्निहित है? (vii) बाहरी लोगों के साथ संपर्क, उनके आगमन, घुसपैठ जैसी चीजों से लोक-संस्कृति किस रूप में प्रभावित हुई है? (viii) स्थानीय लोगों के विस्थापन, आधुनिकता, विज्ञान, इंटरनेट, पाश्चात्य संस्कृति आदि का लोक संस्कृति पर क्या प्रभाव पड़ा है? (ix) लोक-संस्कृति के निर्माण में इतिहास की क्या भूमिका है? (x) प्राकृतिक आपदाएं जैसे बाढ़, सूखा, भूकंप जैसी चीजें क्या लोक संस्कृति को प्रभावित करती है? (xi) समाज में स्त्री-पुरुष, वृद्ध एवं बच्चे आदि की दशा एवं परिवर्तन में लोक संस्कृति कैसे महत्वपूर्ण है? (xii) अंधविश्वास, मिथक, जादू-टोना, पूजा-पद्धति आदि पर लोक-संस्कृति के प्रभाव किस प्रकार पड़ते हैं? आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो किसी भी लोक सांस्कृतिक अध्ययन में विशेष भूमिका निभाते हैं। इनके बिना लोक-संस्कृति का अध्ययन-अन्वेषण संभव नहीं। वस्तुतः ये प्रश्न ही प्रस्तुत शोध के समस्यामूलक प्रश्न तथा अनुसंधान के मानक आधार हैं।

1.4 शोध का उद्देश्य

1. पूर्वोत्तर राज्यों की लोक संस्कृति तथा जनजीवन को केंद्र में रखकर हिंदी साहित्य में बहुत ही अल्प रचनाएँ हुई हैं, जो अपने पुनर्पाठ और विश्लेषण की मांग करती हैं। इस दृष्टि से देखें तो प्रस्तुत शोध कार्य का मुख्य उद्देश्य पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में लोक संस्कृति के स्वरूप का अध्ययन एवं विश्लेषण है।

2. पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति अपने मूल स्वभाव के कितने निकट है, इसका विश्लेषण करना भी इस शोध का लक्ष्य है।
3. पात्र और परिवेश के माध्यम से उपन्यासों में पूर्वोत्तर का लोक जीवन, लोक विश्वास, मिथकीय संदर्भ, अस्मिता-बोध, स्त्री-जीवन एवं सांस्कृतिक मूल्य आदि का अध्ययन भी प्रस्तुत शोध के माध्यम से किया गया है।
4. लोक संस्कृति के चित्रण में पूर्वोत्तर तथा पूर्वोत्तर से बाहर के रचनाकारों के विषयों एवं कथ्य-निर्धारण का अध्ययन भी प्रस्तुत शोध के उद्देश्य में शामिल है।
5. शिल्पगत संरचना में लोक-संस्कृति किस रूप में विन्यस्त है, का विश्लेषण भी प्रस्तुत शोध में निहित है।

1.5 शोध के प्रश्न

1. पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में लोक संस्कृति का स्वरूप किस रूप में अभिव्यक्त हुआ है?
2. उपन्यासों में लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति अपने मूल स्वरूप से कितनी संबद्ध है?
3. लोक संस्कृति के चित्रण में पूर्वोत्तर तथा पूर्वोत्तर से बाहर के रचनाकारों ने किस प्रकार अपने विषय एवं कथ्य का निर्धारण किया है?
4. पात्र और परिवेश के माध्यम से उपन्यासों में पूर्वोत्तर का जनजातीय जीवन, अस्मिता-बोध, लोक विश्वास, मिथकीय चेतना, स्त्री-जीवन एवं सांस्कृतिक चेतना किस रूप में अभिव्यक्त हुई है?
5. लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति में उपन्यासों के शिल्पगत विन्यास में किस तरह के अभिनव प्रयोग हुए हैं?

1.6 शोध-प्रविधि

प्रस्तुत शोध में मुख्य रूप से निगमनात्मक प्रविधि के प्रयोग के साथ शोध पद्धति के रूप में आलोचनात्मक, विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक एवं साक्षात्कार पद्धतियों का प्रयोग किया गया है। यह शोध उपन्यासों में वर्णित लोक सांस्कृतिक पक्षों पर केंद्रित है। प्रस्तुत शोध के अंतर्गत तथ्य और आवश्यक सामग्री प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतों से संकलित किए गए हैं। प्राथमिक सामग्री स्रोत के तौर पर चयनित उपन्यासों को शामिल किया गया है। शोध में आलोचनात्मक पुस्तकों, लेखों, पत्र-पत्रिकाओं, शोध ग्रंथों एवं साक्षात्कार आदि सामग्री का प्रयोग द्वितीयक स्रोत के रूप में किया गया है। इसके साथ-साथ डिजिटल माध्यम के जरिए ऑनलाइन सामग्री का संकलन भी द्वितीयक स्रोत के तहत किया गया है।

1.7 शोध की सीमा

प्रस्तुत शोध-कार्य का मुख्य विषय पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों का लोक-सांस्कृतिक अध्ययन है, इसलिए प्रस्तुत शोध में उन उपन्यासों को अध्ययन के केंद्र में रखा गया है, जिसमें लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति प्रमुख रूप से दर्ज हुई है। प्रस्तुत शोध में पूर्वोत्तर भारत को केंद्र में रखकर लिखे गए हिंदी उपन्यासों को आधार ग्रंथ के रूप में लिया गया है, इसमें किसी भी तरह की अनूदित रचना सम्मिलित नहीं है। वस्तुतः अध्ययन की सुविधा एवं सीमांकन को दृष्टिगत रखते हुए प्रस्तुत शोध-कार्य के अंतर्गत वर्ष 2020 तक के प्रकाशित पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों को ही शामिल किया गया है।

अध्याय : 2

लोक संस्कृति का सैद्धांतिक पक्ष : अवधारणा एवं स्वरूप

2.1 लोक संस्कृति : अवधारणा एवं मान्यताएं

2.2 लोक और साहित्य का अंतःसंबंध

2.3 पूर्वोत्तर भारत का लोकवृत्त एवं सांस्कृतिक चेतना

2.1 लोक संस्कृति : अवधारणा एवं मान्यताएं

मानव सभ्यता का जन्म सृष्टि की एक अति महत्वपूर्ण और युगप्रवर्तक घटना है। मनुष्य का अपने विचार, व्यवहार, परिवेश, संबंध, आवास, भाषा, कृषि, खान-पान, कला, वेश-भूषा, जीविका आदि के ज्ञान ने उसके अंदर समन्वय और दायित्वबोध जैसे गुणों का विकास किया। इन्हीं गुणों का समेकित रूप 'लोक' है, जिसके आधार पर उसने अपनी सभ्यता को विकसित और संरक्षित किया। 'लोक' मानव समाज की आधारभूत इकाई है, जिसके आधार पर समाज के नीति-नियम, प्रथाएं, वर्गीकरण, जाति-धर्म, शिक्षा-दीक्षा, परंपराएं, क्षेत्र-विशेष आदि की रचना हुई। वस्तुतः 'लोक' एक ऐसी सार्वभौमिक सत्ता है, जो मनुष्य एवं उससे संबंधित मूर्त-अमूर्त, चल-अचल, प्राकृतिक-कृत्रिम आदि सभी तत्वों को मानसिक तथा व्यावहारिक स्तर पर प्रभावित तथा नियंत्रित करती है।

लोक की अवधारणा-

लोक एक बहुअर्थी तथा बहुआयामी शब्द है। 'लोक' का सामान्य अर्थ तो मनुष्य व जनसमूह है, परंतु अपने प्रायोगिक अर्थ एवं संदर्भ के कारण इसकी एक विस्तृत पृष्ठभूमि है। लोक की परिधि इतनी विस्तृत है कि स्थूल से लेकर सूक्ष्म, जड़ से लेकर चेतन, मनुष्य से लेकर प्रकृति, दृश्य से लेकर अदृश्य, सजीव से लेकर निर्जीव तथा समस्त जीव, प्राणी, वस्तु, ग्रह-नक्षत्र आदि सभी कुछ इसमें समाहित हो जाते हैं। अतः संसार में व्याप्त कुछ भी लोक से परे नहीं। जैसे- कोई व्यक्ति कहाँ जन्मा है?, उसका नाम, उसका रंग-रूप, वेश-भूषा, खान-पान, भाषा-बोली आदि इन सभी प्रश्नों में उसके 'लोक' की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। यही आधार पेड़-पौधे, जीव-जंतु तथा अन्य चीजों पर भी लागू होती है। एक प्रकार से देखें तो मनुष्य जन्म से, अपितु जन्म के पहले से ही अपने लोक से जुड़ जाता है। 'लोक' की अवधारणा इतनी विस्तृत है कि आदिकाल से प्रचलित इस शब्द को समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने अपने अनुसार परिभाषित किया क्योंकि विविध संदर्भों में इसके अर्थ एवं प्रयोग की दशा-

दिशा परिवर्तित होती रहती है। वस्तुतः लोक वह उद्गम स्रोत है, जहाँ से विभिन्न विषयों, विचारों, विधाओं आदि की विविध धाराएं निकलती हैं।

‘लोक’ शब्द के अर्थ पर विचार करें तो “‘सिद्धांत कौमुदी’ के अनुसार ‘लोक’ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार संभव है - ‘लोक’ शब्द संस्कृत के ‘लोक दर्शने’ धातु से बना है। इसमें ‘घञ्’ प्रत्यय लगने से ही ‘लोक’ शब्द निष्पन्न हुआ है। इस धातु का अर्थ है - देखना। इसका लट् लकार में अन्य पुरुष एकवचन का रूप लोकते है। अतः ‘लोक’ शब्द का मूल अर्थ हुआ ‘देखने वाला’। वह समस्त जन समुदाय जो इस कार्य को करता है ‘लोक’ कहलाएगा।”¹ अब अगर इस अर्थ को ग्रहण करें तो भोजपुरी भाषा का शब्द ‘लौकना’ बड़ा समीचीन जान पड़ता है, जिसका अर्थ है – देखना/दिखाई देना। इसके अलावा बांग्ला, मराठी अथवा ओड़िया भाषा में मनुष्य या जनसमूह के लिए ‘लोक’ शब्द प्रचलित है, परंतु ‘लोक’ शब्द के अन्य और भी कई अर्थ मिलते हैं, जैसे संसार के अर्थ में इहलोक, मर्त्यलोक, पाताललोक, स्वर्गलोक, नर्कलोक आदि। हिंदी में प्रचलित ‘लोग’ शब्द इसी ‘लोक’ का अपभ्रंश रूप है।

लोक शब्द की उत्पत्ति के प्रमाण वैदिक ग्रंथों में भी मिलते हैं, वेदों में ‘लोक’ का अर्थ स्थान या जन के रूप में प्रयुक्त हुआ है। कालांतर में आर्यों के आगमन के पश्चात् आर्य तथा आर्येतर जातियों के सांस्कृतिक टकराव के बाद ‘वेद’ एवं ‘वेदेतर’ संस्कृति का जन्म हुआ, जिससे लोक का अर्थ वेद-विरोधी हो गया। आगे चलकर लोक के संदर्भ में यही अर्थ क्रमशः अनपढ़, गंवार आदि होता चला गया। इस प्रकार गाँवों में रहने वाले ‘लोक’ और नगरों में रहने वाले ‘शिष्ट’ समाज का जन्म हुआ, पर कुछ विद्वानों का मानना है कि नगर में रहने वाले व्यक्ति का भी अपना पृथक् लोक होता है, क्योंकि बिना ‘लोक’ के किसी समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

¹ उप्रेती, कुंदनलाल. (2017). लोकसाहित्य के प्रतिमान. पृ. 13-14

‘लोक’ शब्द की प्राचीनता-

‘लोक’ शब्द एक महनीय एवं अति प्राचीन शब्द है, जिसका उल्लेख वैदिक ग्रंथों में भी मिलता है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर ‘लोक’ एवं ‘जन’ शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। जैसे- “वैदिक ऋषि कहता है कि विश्वामित्र के द्वारा उच्चारित यह ब्रह्म या मंत्र भारत ‘जन’ की रक्षा करता है।

य इमे रोदसी उभे, अहमिन्द्रमतुष्टवम् ।
विश्वामित्रस्य रक्षति, ब्रह्मेदं भारतंजनम् ॥

ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त में ‘लोक’ शब्द का व्यवहार जीव तथा स्थान दोनों अर्थों में हुआ है।¹ पाणिनि में अपने ग्रंथ ‘अष्टाध्यायी’ में भी ‘लोक’ और ‘सर्वलोक’ जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। भरतमुनि के ‘नाट्यशास्त्र’ तथा पतंजलि के ‘महाभाष्य’ जैसे प्राचीन ग्रंथों में भी ‘लोक’ शब्द का प्रयोग हुआ है। महर्षि वेदव्यास ने ‘महाभारत’ की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि-

“अज्ञानतिमिरांधस्य लोकस्य तु विचेष्टः ।
ज्ञानांजनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ।

अर्थात् (यह ग्रंथ महाभारत) अज्ञान के अंधकार से अंधे तथा दुःखी लोक (साधारण जनता) के नेत्रों को ज्ञान रूपी अंजन की सलाई लगाकर खोल देता है।² ‘लोक’ शब्द का उल्लेख उपनिषदों में भी पाया जाता है। “जैमनीय उपनिषद् ब्राह्मण में यथार्थ ही कहा गया है:

बहु व्याहितो वा अयं बहुशो लोकः ।

क एतद् अस्य पुनरीहितो अयात् ॥

यह लोक अनेक प्रकार से फैला हुआ है। प्रत्येक वस्तु में यह प्रभूत है। कौन प्रयत्न करके इसे पूरी तरह जान सकता है?”³ इसी प्रकार “भगवद्गीता में ‘लोक’ तथा ‘लोक संग्रह’ अदि शब्दों का प्रयोग अनेक स्थानों पर पाया जाता है। गीता में लोक संग्रह पर बड़ा बल दिया गया है।

¹ उपाध्याय, कृष्णदेव. (2009). लोक संस्कृति की रूपरेखा. पृ. 8-9

² उप्रेती, कुंदनलाल. (2017). लोकसाहित्य के प्रतिमान. पृ.15

³ दिवाकर, रामधारी सिंह. (संपा.). (1999). परिषद्-पत्रिका. लोकसंस्कृति अंक. पृ. 10

कर्मणैव हिंसंसिद्धिमास्थिताः जनकादयः ।

लोक संग्रह मेवापि सम्पशन् कर्तमर्हसि ॥”¹

इसी प्रकार ‘लोक’ शब्द का वर्णन पालि भाषा के बौद्ध साहित्य और प्राकृत के जैन साहित्य में भी मिलता है। हिंदी साहित्य में भी लोक शब्द का वर्णन बहुत पहले से प्रयुक्त है। “महाकवि तुलसीदास ने ‘लोक’ तथा ‘वेद’ के मूल्यों को प्रेम के आधार पर सामान मानते हुए लिखा है कि-

लोकहुं वेद सुसाहिब रीती ।

विनय सुनत पहुँचानत प्रीती ॥”²

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि ‘लोक’ शब्द का प्रयोग बहुत ही प्राचीन काल से चला आ रहा है तथा अपने प्रयोग एवं अर्थवत्ता के आधार पर लोककला, लोक साहित्य, लोक संस्कृति, लोकगीत, लोकनृत्य, लोकवृत्त, लोकवार्ता, लोकविद्या, लोकभाषा जैसे अनेक शब्दों का जन्म हुआ जो लोक के वास्तविक अर्थ को विस्तार देते हैं।

विभिन्न शब्दकोशों में लोक का अर्थ-

1. बृहत् हिंदी कोश के अनुसार ‘लोक’ का अर्थ- विश्व का एक विभाग, भुवन (साधारणतः स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल - ये तीन लोक माने जाते हैं, पर विशेष विभाग के अनुसार १४ माने जाते हैं - ७ ऊपर, ७ नीचे... ‘सप्तपाताल’, ‘सप्तलोक’), संसार, पृथ्वी, मानवजाति, समाज, प्रजा, समूह, भूभाग, प्रांत, निवासस्थान, दिशा, सांसारिक व्यवहार, दृश्य, ७ या १४ की संख्या, यश।”³

¹ उपाध्याय, कृष्णदेव. (2009). लोक संस्कृति की भूमिका. पृ.10

² उप्रेती, कुंदनलाल. (2017). लोकसाहित्य के प्रतिमान. पृ. 15

³ प्रसाद, कलिका. सहाय, राजवल्लभ एवं श्रीवास्तव, मुकुंदी लाल. (संपा.). (2014). बृहत् हिंदी कोश. पृ. 99

2. प्रामाणिक हिंदी कोश के अनुसार 'लोक' का अर्थ - “१.ऐसा स्थान या भूभाग जिसका बोध प्राणी को हो अथवा जिसकी उसने कल्पना की हो, जैसे इहलोक, परलोक। २.पृथ्वी के ऊपर-नीचे के कुछ विशिष्ट कल्पित स्थान, भुवन...। ३.संसार, जगत्। ४.लोग, जन। ५.सारा समाज, जनता।”¹
3. वर्धा हिंदी शब्दकोश के अनुसार- “1.किसी देश या स्थान आदि का समाज 2.जनसामान्य, जनता, आवाम 3.विश्व का एक विभाग, भुवन, जैसे- पृथ्वीलोक, पाताललोक आदि 4.स्थान, जगह 5. (पुराण) किसी देवता के रहने का विशिष्ट स्थान, जैसे- शिवलोक, विष्णुलोक आदि 6.संसार, दुनिया।”²
4. शिक्षार्थी हिंदी शब्दकोश के अनुसार - “1. संसार (जैसे- तीनों लोक का स्वामी) 2. जगह (जैसे- प्रत्येक लोक में निवास करना) 3. विश्व का कोई विशेष भाग (जैसे देवलोक, ब्रह्मलोक, मर्त्यलोक) 4. प्रजा, लोग (जैसे- राज लोक) 5. लोगों में प्रचलित प्रथा या प्रणाली (लोक व्यवहार, लोक कर्म)।”³

लोक की परिभाषाएं-

‘लोक’ शब्द की व्यापकता अपनी परिभाषा से अधिक संवेदना और अनुभूति के निकटस्थ है। लोक की इसी महत्ता के कारण विभिन्न विद्वानों ने इसे अपने ढंग से व्याख्यायित किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - “लोक शब्द का अर्थ ‘जनपद’ या ‘ग्राम्य’ नहीं है, बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समस्त जनता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि संपन्न तथा सुसंस्कृत समझने वाले लोगों की अपेक्षा, अधिक सरल तथा अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और

¹ वर्मा, आ. रामचंद्र. (संपा.).(2014). लोकभारती बृहत् प्रामाणिक हिंदी कोश. पृ. 841

² सक्सेना, राम प्रकाश. (2013). वर्धा हिंदी शब्दकोश. पृ. 2619

³ बाहरी, हरदेव. (1990). शिक्षार्थी हिंदी शब्दकोश. पृ. 727

सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं उन्हें उत्पन्न करते हैं।”¹ आ. द्विवेदी का मंतव्य लोक के देशज और भदेस रंग को पुष्ट करता है, जो नगरीयबोध से पृथक्, किसी प्रकार से बनावटी जीवन-शैली से दूर सादगी भरे अंदाज में जीवन जीते हैं। यद्यपि अक्षर ज्ञान में ये शहरवासियों से भले ही पीछे हों पर शिक्षा से अछूते नहीं हैं। लोकजीवन का अपना अलग ज्ञान-विज्ञान होता है, परंतु नगरीय आपूर्ति के सभी संसाधन इन्हीं ग्रामवासियों के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। अतः यहाँ हजारी प्रसाद द्विवेदी उस मान्यता को नकारते हैं जो नगरीय सभ्यता को श्रेष्ठ ग्रामीण सभ्यता को कमतर मानते हैं।

पंडित विद्यानिवास मिश्र के अनुसार- “लोक देश का ही एक अनुभाविक रूप है। ‘लोक’ शब्द की व्युत्पत्ति रुच/लुच से है, जिसका अर्थ प्रकाशित होना है और प्रकाशित करना भी है, जो सामने प्रकाशित दिख रहा है और जो प्रकाशित कर रहा है। इसके सजातीय शब्द हैं- आलोक, लोचन (आँख), आलोचना (अच्छी तरह देखकर विवेचना करना), रोचन (प्रकाशमान, सुंदर, शोभन, इसीलिए प्रीतिकर, प्रीतिकर संदेश, संतानोत्पत्ति का संदेश, इसी से संबद्ध फारसी का रोशन और रोशनी है), अवलोकन, प्रत्यवलोकन (पीछे की तरफ देखना), लौकिक दृश्य (व्यवहार के अर्थ में), लोकोत्तर (लोक में रहते हुए लोक से ऊपर उठने वाला), लोकायत (ऐसा मत जो प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता हो)। इस शब्द से संबद्ध अनेक शब्द यूरोप की भाषाओं में हैं, जिनमें यही अर्थ सूत्र की तरह व्याप्त है।

इस प्रकार लोक अपने में विशाल अर्थक्षेत्र समेटता है। जो भी दृष्टिगत संसार है अथवा जो भी इन्द्रियगोचर संसार है, वह लोक है। इस लोक का अर्थ है जो यहाँ है, जो प्रस्तुत है। लोक का विस्तृत अर्थ है- लोक में रहने वाला मनुष्य, अन्य प्राणी और स्थावर संसार के पदार्थ, क्योंकि ये सब भी प्रत्यक्ष अनुभव के विषय हैं। लोक के अर्थ का और विस्तार करते हैं तो लोक-व्यवहार, लोक के द्वारा स्वीकृत व्यवहार या आचार-लोक के इस अर्थ को ही लाक्षणिक रूप में लेते हुए हम कहते हैं तीन लोक - भूलोक (पृथ्वी लोक), भुवलोक (अंतरिक्ष) और स्वर्गलोक (द्युलोक)। इन तीनों को त्रिलोकी कहते हैं।

¹ उपाध्याय, कृष्णदेव. (2009). लोक संस्कृति की रूपरेखा. पृ. 10

पृथ्वी के उस पार को हम पाताललोक या नागलोक या असुरलोक भी कहते हैं। इन सब प्रयोगों में यह अर्थ अभिव्याप्त है कि किसी सीमित और परिभाषित आकाश का नाम लोक है। यह लोक अवधारणा मात्र नहीं, यह कर्मक्षेत्र है।”¹ पं. विद्यानिवास मिश्र प्रारंभ में ही लोक की अनुभवजन्यता पर विशेष बल देते हुए इसके मूर्त स्वरूप को स्पष्ट करते हैं और साथ ही लोक शब्द की अर्थवत्ता पर बल देते हुए यूरोपीय देशों में भी लोकसंबद्ध समानार्थी शब्दों के अस्तित्व का प्रमाण देते हैं। इसके अतिरिक्त व आध्यात्मिक एवं दार्शनिक अर्थ से जोड़ते हैं।

वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार- “लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान, सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक कृत्स्न ज्ञान और संपूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूतता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव, यही हमारे नये जीवन का अध्यात्मशास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक पृथ्वी-मानव, इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।”² यह परिभाषा लोक के देशव्यापी और गहनता को प्रदर्शित करती है। साथ ही वे इसके अक्षुण्णता और संरक्षण के भी आग्रही हैं ताकि लोक अपनी वास्तविकता अवस्था में बना रहे।

श्याम परमार के शब्दों में- “‘लोक’ साधारण जन-समाज है, जिसमें भू-भाग पर फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित हैं। यह शब्द वर्ग-भेद रहित, व्यापक एवं प्राचीन परंपराओं की श्रेष्ठ राशि सहित अर्वाचनीय सभ्यता-संस्कृति के कल्याणमय विकास का द्योतक है। भारतीय समाज में नागरिक एवं ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का प्रायः उल्लेख किया जाता है, किंतु ‘लोक’ दोनों संस्कृतियों में विद्यमान है। वही समाज का गतिशील अंग है।”³ डॉ. परमार लोक के भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों को उजागर करते हुए ग्राम एवं नगर दोनों में लोक के अस्तित्व को

¹ मिश्र, विद्यानिवास. (2009). लोक और लोक का स्वर. पृ. 11

² उप्रेती, कुंदनलाल. (2017). लोकसाहित्य के प्रतिमान. पृ. 15-16

³ वही, पृ.17

स्वीकारते हैं, क्योंकि कुछ विद्वान 'लोक' को केवल ग्रामीण जीवन तक ही सीमित मानते हैं। इसके पीछे पाश्चात्य विचारकों का प्रभाव देखा जा सकता है, जहाँ Folk शब्द का सीधा संबंध गंवार और असभ्य जातियों से हैं। किंतु गाँव हो या शहर मनुष्य तो वही रहता है। अतः उसके आचार-संस्कार उसके निवास स्थान के आधार पर पूरी तरह नहीं बदलते।

डॉ. सत्येंद्र के शब्दों में- “‘लोक’ मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य चेतना के अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं वे लोक-तत्त्व कहलाते हैं।”¹ डॉ. सत्येंद्र ‘लोक’ के सीधे और सादगी भरे गुणों की बात करते हैं। इस संदर्भ में वे ज्ञान चेतना के नकारात्मक पक्ष अहंकार की भी चर्चा करते हैं, जिसका प्रयोग आम जीवन में दृष्टिगोचर होता है परंतु परंपरा के प्रवाह के साथ वह अपनी मूल जड़ों से भी जुड़ा रहता है, जो उसके अस्तित्व को ठोस और मजबूत बनता है।

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के मतानुसार- “आधुनिक सभ्यता से दूर, अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली, तथाकथित अशिक्षित एवं असंस्कृत जनता को ‘लोक’ कहते हैं, जिनका आचार-विचार एवं जीवन परंपरायुक्त नियमों से नियंत्रित होता है।”² डॉ. उपाध्याय भी लोक के उस परंपरागत निर्वहन की बात कहते हैं, जिसे पूर्ववर्ती विद्वानों ने कहा है। वे इन्हें प्रकृति के ज्यादा समीप मानते हैं। प्रकृति लोक का अभिन्न अंग है और उसके अस्तित्व का मानक भी। तथाकथित शब्द यहाँ व्यंग्यसूचक है, जिससे वे सुदूर पाश्चात्य विचारकों के मतों का खंडन करते हैं। दरअसल विदेशों में ‘लोक’ बहुत पहले ही एक अध्ययन का क्षेत्र बन गया, अतः विदेशों में उस पर शोध तथा अकादमिक गतिविधियाँ ज्यादा हुई। भारत में यह कार्य अपेक्षाकृत बाद में हुआ, जिससे यह आवश्यकता महसूस की गई कि ‘लोक’ और ‘लोक परंपरा’ को उसके वास्तविक रूप में संरक्षित किया जाए।

¹ सत्येंद्र. (1971). लोक साहित्य विज्ञान. पृष्ठ. 03

² उपाध्याय, कृष्णदेव. (2013). लोक-साहित्य की भूमिका. पृ. 11

उड़िया भाषा के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. कुंजबिहारी दास ने ‘लोकगीत’ को परिभाषित करते हुए ‘लोक’ के विषय में कहा है- “लोकगीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है, जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर रह कर कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में निवास करते हैं।”¹ डॉ. दास का मत लोक के सांस्कृतिक पक्ष संगीत पर केंद्रित है। लोकगीत अपने मधुर ध्वनि एवं अपने कथ्य के मर्म के कारण बहुत प्रसिद्ध है। अपनी प्रवाहमयता और कर्णप्रियता के कारण लोकगीत आज ‘लोक संस्कृति’ के प्रतिनिधि रूप बन गए हैं। शहरों में आजकल लोकधर्मिता के साधारणीकरण के लिए लोकगीत व लोकनृत्य का प्रदर्शन एक प्रमुख माध्यम हैं। अतः उसकी विशिष्टता, प्राचीनता एवं मूल अस्तित्व के लिए उसका संरक्षण आवश्यक है, ताकि लोकगीतों के साथ उसका लोकस्वरूप भी बचा रहे।

डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय के अनुसार- “विद्वानों ने ‘लोक’ शब्द से तात्पर्य उन लोगों से लिया है, जो विशिष्ट संस्कृति, शासक वर्ग की विचारधारा तथा लिखित प्रमाणवाली जातियों से अप्रभावित रहते हैं। ऐसे लोग किसी सभ्य राष्ट्र में मुख्यतः सामान्य कार्यकर्ता हुआ करते हैं। इस प्रकार की वैचारिकता की भूमि पर उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में नृतत्वशास्त्र का विस्तार होता है।”² डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय ने अपने पूर्ववर्ती विचारकों की स्थापना को आगे बढ़ाते हुए उसे विज्ञान की शाखा ‘नृतत्वशास्त्र’ से जोड़ने का प्रयास किया है। नृतत्वशास्त्र, जिसमें मनुष्य के प्रागैतिहासिक काल एवं उसके विकास-प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है, उसके लिए भी ‘लोक’ की भूमिका अति आवश्यक है क्योंकि लोक अपने आप में मानव जाति के इतिहास का मौखिक दस्तावेज है, जो कई पीढ़ियों से अनवरत प्रवाहमान है।

डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा के अनुसार - अशिक्षित और अप्रशिक्षित आदिम मानस के मूल नैसर्गिक लक्षण लोक-मानस में परंपरागत रूप से सुरक्षित रहते हैं। लोक-मानस ही शिक्षित तथा प्रशिक्षित (ट्रेण्ड)

¹ उप्रेती, कुंदनलाल. (2017). लोकसाहित्य के प्रतिमान. पृ. 16

² पाण्डेय, त्रिलोचन. (1978). लोक साहित्य का अध्ययन. पृ. 100-101

होकर शिष्ट या अभिजात-मानस में परिणत हो जाता है। किंतु अभिजात-मानस में भी लोक-मानस के आदिम तत्त्व कुछ-न-कुछ अंशों में सुरक्षित रहते हैं। लोक-मानस अपने प्रकृत या नैसर्गिक रूप को सदैव बनाए रखता है। अतः ऊपरी दिखावे, शिष्टाचार, दुराव-छिपाव आदि के आवरणों से मुक्त आडंबरहीन सहज मानस ही लोक-मानस है।”¹ उक्त कथन में भी लोक के सरल तथा आडंबरहीन स्वरूप पर बल दिया गया है, जैसा कि पहले के विद्वानों ने दिया है। परंतु डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा का कथन इस तथ्य का समर्थन करता है कि ग्रामीण एवं नगरीयबोध में मनुष्य तो अंततः वही रहता है, केवल उसके व्यक्तित्व पर उसके परिवेश का हावीपन उसके स्वरूप को कमोबेश बदल देता है।

“बंगाल के शंकर सेनगुप्ता ने ‘लोक’ शब्द की व्याख्या अपने ढंग से की है। उनके अनुसार किसी न किसी रूप में हम सभी लोग लोक शब्द से संबोधित किए जा सकते हैं, क्योंकि हममें से कोई भी परंपराविहीन तथा पूर्वजों के द्वारा छोड़े गए मौलिक ज्ञान से वंचित नहीं है।”² शंकर सेनगुप्ता का यह तर्क पूर्ववर्ती सभी मतों को समन्वयवादी रूप से अपने में अंगीकार कर लेता है और विचारकों के सभी पक्षों को अपने में समाहित कर लेता है। जो वर्तमान मनुष्य के विकसित, सुसंस्कृत एवं पारंपरिक गुणधर्मों का अनुपालन करते हुए भविष्य में वाद-विवाद-संवाद की पृष्ठभूमि तैयार करता है।

पाश्चात्य मत-

‘लोक’ शब्द के समकक्ष अंग्रेजी में कोई सही उपयुक्त शब्द नहीं मिलता जो ‘लोक’ के स्वरूप को अभिव्यक्त कर सके, परंतु पाश्चात्य अवधारणा में लोक के समतुल्य ‘Folk’ शब्द प्रचलित है। “फॉक (FOLK) शब्द की उत्पत्ति एंग्लो-सैक्सन शब्द Fore से हुई है। जर्मनी में यह Volk के रूप में प्रचलित है। ‘फोक’ शब्द के संकुचित और व्यापक दोनों अर्थ उपलब्ध होते हैं। संकुचित अर्थ में फोक शब्द से असंस्कृत और मूढ़ समाज का बोध होता है तथा व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग सुसंस्कृत राष्ट्र

¹ वर्मा, हरिश्चन्द्र. (2016). शोध-प्रविधि. पृ. 82

² कालरा, शकुंतला. (2020). लोकसाहित्य समाज की अमूल्य निधि. (भारतीय लोकसाहित्य, संपादक: डॉ. अमरसिंह वधान एवं सुनीता शर्मा). पृ.31

के सभी लोगों के लिए होता है। इस फोक शब्द के लिए हिंदी में लोक, जन और ग्राम-तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है, किंतु लोक शब्द को ही उपयुक्त महत्त्व प्राप्त है, जन और ग्राम शब्दों का प्रयोग किंचित संकुचित अर्थ में होता है, जबकि लोक शब्द अपने अर्थ में अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है।”¹

‘Folk’ का कोशगत अर्थ-

1. कैम्ब्रिज डिक्शनरी में ‘फोक’ को “People, especially those of a particular group or type; old, used when speaking informally to a group of people; someone’s parents; traditional to or a typical of a particular group or country, especially one where people mainly live in countryside, and usually passed on from parents to their children over a long period of time.”² आदि संदर्भों से अभिहित किया गया है। कैम्ब्रिज डिक्शनरी में फोक की एक विस्तृत सीमा का अर्थ लिया गया है, जिसमें किसी के माता-पिता अथवा अनौपचारिक तौर पर बातचीत में किसी जनसमूह को ‘फोक’ से संबोधित किया जा सकता है। किसी ग्राम अथवा क्षेत्र विशेष में रहने वाले विशेष अथवा पारंपरिक लोगों को भी फोक के अंतर्गत रखा जा सकता है।
2. ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार - “Folk- *noun* 1 (also folks especially in *AmE* [pl.] (informal) people in general: ordinary working-class folk, the folks back home (=from the place where you come from) 2 (Folks) [pl.] (informal) a friendly way of addressing more than one person: 3 (folks) [pl.] (informal. especially *AmE*) the members of your family, especially your parents: 4 [pl.] people from

¹ चौहान, विद्या. (2020). लोक साहित्य. पृ. 11

² कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस एण्ड एसेसमेंट (शब्दकोश) वेब पृष्ठ से उद्धृत
(<https://dictionary.cambridge.org/dictionary/english/folk>)

a particular country or region, or who have a particular way of life: ”¹ ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के शब्दों में संज्ञा के संदर्भ में Folk (विशेषकर अमेरिका में) का बहुवचन folks के रूप में प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ है- सामान्य जन, कामकाजी वर्ग, जहाँ से व्यक्ति संबंधित हो। अनौपचारिक तौर पर एक से अधिक व्यक्ति के संबोधन, पारिवारिक सदस्य विशेषकर माता-पिता, क्षेत्रविशेष व्यक्ति अथवा जीवन जीने की विशेष पद्धति के लिए इसका व्यवहार किया जाता है।

Folk शब्द की प्राचीनता-

“यूरोप में सर्वप्रथम 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में रीति रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार आदि पर अनुसंधान लोकप्रिय पुरावशेष के नाम से प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम ब्रेन्ड ने पॉपुलर एन्टिक्विटीज के नाम से अपने ग्रंथ का प्रकाशन किया। इसके बाद इंग्लैण्ड में ‘टामस पर्सी ने इस दिशा में कार्य किया। इसने सन् 1765 ई. में ‘रेलिक्स ऑफ एंशियेन्ट इंग्लिश पोएट्री’ नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें भूत, प्रेत, परियों आदि की रोमांचक कथा तथा गीत थे। इसी के साथ सन् 1746 में रेवेरेन्ड हेनरी ने अपनी पुस्तक ‘एन्टीक्स ऑफ दी कॉमन पीपल की रचना की थी, किंतु यूरोप में व्यवस्थित रूप से लोक संस्कृति पर कार्य करने का श्रेय “ग्रिम बंधुओं को है, जिनके नाम जेकब ग्रिम (1785-1863) तथा विल्हेम ग्रिम (1786-1859) थे, इन दोनों भाइयों ने मिलकर जर्मनी के लोक गीतों तथा कथाओं के संग्रह के साथ ही जर्मन माइथोलॉजी पर अभूतपूर्व अनुसंधान कार्य किया। रूस के पश्चात इंग्लैण्ड में 1826 में होम्स ने अपनी पुस्तक (एन्रीडे बुक) में प्राचीन विश्वास, प्रथाओं, आचार-विचार लोकगीतों का उल्लेख किया एवं विलियम टाम्स ने 1884 में पूर्वकाल में प्रचलित ‘पापुलर एन्टिक्विटीज’ नाम की जगह ‘कोलोर’ शब्द की सृष्टि की जो आगे चलकर काफी प्रसिद्ध व लोकप्रिय हुआ।”²

¹ Wehmeier, Sally. (Editor). (2001). Sixth edition. Oxford Advanced Learner’s Dictionary. Pg- 496

² गावीत, जयश्री. (2007). लोक साहित्य : विविध आयाम और नई दृष्टि. पृ. 39

19वीं शताब्दी के मध्य में जब सुप्रसिद्ध विशन एडवर्ट टाइलर ने नृतत्व (एन्थ्रोपोलॉजी) के विषय को गंभीरता के साथ विवेचित किया, तब उस शास्त्रीय चिंतन की भूमि पर केवल सामान्य संस्कृति का ही विवेचन होता था। इसलिए पाश्चात्य चिंतन ने लोक का अर्थ असंस्कृत तथा असभ्य मूढ़ समाज के लिए ही किया था। इसी को डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय लिखते हैं कि विद्वानों ने लोक शब्द से तात्पर्य उन लोगों से लिया जो विशिष्ट संस्कृति, शासक वर्ग की विचारधारा तथा लिखित प्रमाण वाली जातियों से अप्रभावित रहते हैं। ऐसे लोग किसी सभ्य राष्ट्र में मुख्यतः सामान्य कार्यकर्ता हुआ करते हैं। भारतीय विद्वान डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, क्षितिमोहन सेन, झवेरचंद्र मेघाणी, रामनरेश त्रिपाठी, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि जैसे विद्वान भी 'Folk' शब्द को 'लोक' का सही पर्याय नहीं मानते। वस्तुतः हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य सभ्यता में 'फोक' शब्द असभ्यता, अनगढ़ता एवं अनभिज्ञता का द्योतक है, क्योंकि वहाँ भौतिकता को ही सभ्यता का पर्याय माना जाता है। किंतु भारत जैसे देश में 'लोक' सभ्यता का मूलाधार है। अतः फोक को लोक का पर्याय मानना उचित नहीं है, क्योंकि दोनों के अर्थ, पृष्ठभूमि, स्वरूप सभी अलग हैं। चूंकि अंग्रेजी में लोक के समानार्थी कोई शब्द नहीं है, इसीलिए केवल अनुवाद और अन्य भाषा में समानार्थक शब्द के रूप में Folk को ग्रहण किया जा सकता है।

संस्कृति की अवधारणा-

‘संस्कृति’ मनुष्य के सभ्यता, संस्कार, मूल्यों, परंपरागत विरासत, नैतिकता आदि का संयुक्त स्वरूप है। यह किसी भी व्यक्ति, समाज, प्रांत, राष्ट्र आदि की अमूल्य निधि होती है। किसी संस्कृति के निर्माण में एक दीर्घकालिक समयावधि का अंतराल लगता है। संस्कृति मनुष्य के व्यावहारिक अर्थ में जितनी बाहरी प्रस्तुति है, उतना ही आंतरिक मनोभाव भी। संस्कृति एक अर्जित संपदा है, जो मनुष्य अपने माता-पिता, परिवार, आस-पास, शिक्षा-दीक्षा आदि के माध्यम से देखकर तथा अनुसरण कर सीखता है। मनुष्य का खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, आचार-विचार, नृत्य-गीत, संगीत-साहित्य आदि सभी तत्त्व उसकी संस्कृति के द्योतक हैं। कुछ मान्यताओं के अनुसार, संस्कृति शब्द संस्कार से बना है। संस्कार का अर्थ है- सुधारना या परिष्कार करना। ‘संस्कार’ वह पवित्र व उदात्त कार्य व विचार

है जो जीवन को व्यवस्थित व संयमी बनाते हैं। संस्कार के स्वरूप पर अधिक ध्यान देने से यह स्पष्ट अनुभव होता है कि संस्कार शोध या परिष्कार करने की एक विशेष पद्धति है, जिसे इस पद्धति द्वारा परिष्कृत कर दिया गया है वह 'संस्कृत' और परिष्कार करने की प्रेरणा शक्ति ही संस्कृति है।

मानव जीवन की समस्त क्रियाकलाप एवं कार्य-प्रणाली इसी संस्कृति के आधार पर संचालित होती हैं, क्योंकि मनुष्य के शाश्वत भाव जैसे हर्ष, शोक, प्रेम, घृणा, उल्लास आदि सभी भाव इसी संस्कृति के माध्यम से ही प्रकट होते हैं। संस्कृति एक अमूर्त पद है, जिसे वैज्ञानिक पदों की भांति परिभाषा की सीमा में बांधना संभव नहीं। "यूनेस्को के अनुसार संस्कृति को आमतौर पर कला का रूप माना जाता है। हम नैतिक मूल्यों और मानवीय संबंधों में लोगों के व्यवहार को संस्कृति से जोड़ते हैं। इसे किसी समाज या किसी सामाजिक समूह के हित में किए जाने वाले कार्य, व्यवहार और प्रवृत्ति से भी उपलक्षित किया जाता है। संस्कृति से हमारा तात्पर्य जीवन स्तर, निवास वेशभूषा और भौतिक अनुशीलन से है। हम भाषा, विचार, कार्य की संस्कृति से इसका आकलन करते हैं।"¹ संस्कृति शब्द संस्कार से बना है। संस्कार का अर्थ है सुधारना या परिष्कार करना 'संस्कार' वह पवित्र व उदात्त कार्य व विचार हैं, जो जीवन को व्यवस्थित व संयमी बनाते हैं। संस्कार के स्वरूप पर अधिक ध्यान देने से यह स्पष्ट अनुभव होता है कि संस्कार शोध या परिष्कार करने की एक विशेष पद्धति है जिसे इस पद्धति द्वारा परिष्कृत कर दिया गया है वह 'संस्कृत' और परिष्कार करने की प्रेरणा शक्ति ही 'संस्कृति' है।

संस्कृति की परिभाषाएं-

'संस्कृति' किसी समाज, वर्ग, समुदाय आदि के जीवन-व्यवहार, सोच, परंपरा, मूल्य, मान्यता, भाषा, कला, साहित्य, रीति-रिवाज तथा जीवन-शैली का वह समुचित रूप है, जिससे उसके वास्तविक स्वरूप का निर्माण तथा सर्वांगीण विकास होता है। संस्कृति से मनुष्य का गहरा जुड़ाव होता है, क्योंकि वह उसकी संवेदना एवं अस्मिता से जुड़ी होती है। संस्कृति की इन्हीं विशिष्टताओं के कारण विभिन्न

¹ स्वर्णलता. (1979). लोक साहित्य विमर्श. पृ. 34

विद्वानों ने समय-समय पर अपने ढंग से इसकी विवेचना की है। आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार- “संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है। ‘धर्म’ के समान वह भी अविरोधी वस्तु है। वह समस्त दृश्यमान विरोधों में सामंजस्य स्थापित करती है। भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सबसे सुंदर परिणति को ही भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है।”¹ आ. द्विवेदी संस्कृति को एक अर्जित तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। वे संस्कृति को केवल बाह्य आचरण, परंपराओं या रीति-रिवाजों तक सीमित नहीं मानते, बल्कि मनुष्य के समग्र विकास का उत्कृष्ट परिणाम मानते हैं। उनके अनुसार संस्कृति धर्म की ही तरह धारण करने योग्य है तथा वह भारतीय जनमानस की समन्वयशील एवं सौहार्द्रपूर्ण संरचना है।

रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार- “संस्कृति एक ऐसी चीज है जिसे लक्षणों से तो हम जान सकते हैं, किंतु उसकी परिभाषा नहीं दे सकते। कुछ अंशों में वह सभ्यता से भिन्न गुण है।.....संस्कृति एक ऐसा गुण है, जो हमारे जीवन में छाया हुआ है। एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य स्वभाव में उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार फूलों में सुगंध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता, युग-युगांतर में होता है।”² दिनकर संस्कृति को मनुष्य के जीवन का अत्यंत सूक्ष्म, आत्मिक और दीर्घकालिक अनुभव मानते हैं। उनके अनुसार संस्कृति किसी एक घटना, परंपरा या परिभाषा में सीमित नहीं होती, बल्कि यह मनुष्य के समग्र जीवन में व्याप्त एक गहन गुण है। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार- “भारतीय संस्कृति का अर्थ है- संस्कार संपन्न जीवन। ये संस्कार मन, कर्म और वचन के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। विश्व के विराट मंच पर स्वयं प्रकृति इन संस्कारों को उत्पन्न करती है।”³ उक्त कथन के अनुसार भारतीय संस्कृति का मूल अर्थ है- संस्कार संपन्न जीवन। यहाँ ‘संस्कार’ मात्र धार्मिक अनुष्ठानों का नाम नहीं, बल्कि मनुष्य के चरित्र, आचरण, सोच और व्यवहार की श्रेष्ठता का प्रतीक है। डॉ. अग्रवाल प्रकृतिसम्मत मानवीय संस्कृति को श्रेयस्कर मानते हैं।

¹ सिंह, नामवर. (संपा.). (2014). हजारीप्रसाद द्विवेदी संकलित निबंध. पृ. 76

² दिनकर, सिंह. रामधारी. (2008). संस्कृति भाषा और राष्ट्र. पृ. 11

³ गुप्ता, रुचि. (2006). भारतीय संस्कृति : शाश्वत जीवन दृष्टि एवं संगीत. पृ. 03

लीलाधर जगूड़ी के शब्दों में- “संस्कृति में संपूर्ण जीवन पद्धति का समावेश होना चाहिए। लेकिन व्यावहारिक अर्थ में ऐसा पूरी तौर पर नहीं हो पाता है, क्योंकि लोकाचार और लोकधर्मिता के कई अस्वीकार्य रूप संस्कृति को छोड़ने पड़ते हैं। सुचिंतित चयन के बाद जो लोकाचार, जो लोकधर्म, जो लोक व्यवस्था और जो लोक दृष्टि अपने क्षेत्र में सबका हित पोषित कर सके, वही पद्धति अपने परिमार्जित रूप में संस्कृति का हिस्सा बन पाती है। ‘संस्कृति’ शब्द सामान्यतः लोकधर्मिता और लोकप्रियता के विरुद्ध जाता है जैसा कि स्वयं ‘संस्कृति’ शब्द से ध्वनित होता है कि वह परिनिष्ठित और परिमार्जित के पक्ष में ज्यादा दिखता है।”¹ प्रस्तुत परिभाषा संस्कृति के आदर्श एवं यथार्थ रूपी दोनों पक्षों को उजागर करती है। संस्कृति के निर्माण में परिस्थितियों की विशेष भूमिका है। अतः संस्कृति वही तत्त्व स्वीकार करती है, जो विचारपूर्वक चयनित हों और समाज में सामूहिक हित, नैतिकता और संतुलन को बढ़ावा दे। इस प्रकार केवल वे ही लोकाचार, व्यवस्था और दृष्टियाँ संस्कृति का हिस्सा बनती हैं, जो मानव-हित में परिमार्जित रूप से उपयोगी हों।

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार- “एक पीढ़ी आती है। वह अपने आचार-विचार, रुचि-अरुचि, कला-संगीत, भोजन-वस्त्र तथा किसी दूसरी आध्यात्मिक धारणा के बारे में स्नेह की मात्रा अगली पीढ़ी के लिए छोड़ जाती है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी दूसरी के बाद तीसरी और आगे बहुत सी पीढ़ियाँ आती-जाती रहती हैं और सभी अपना प्रभाव या संस्कार अगली पीढ़ी पर छोड़ती जाती हैं। यही प्रभाव संस्कृति है।”² अपने अभिमत में राहुल सांकृत्यायन संस्कृति को एक गत्यात्मक और परिवर्तनशील विरासत मानते हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती है। वस्तुतः इसी कारण संस्कृति में उत्थान और पतन जैसे गुण-दोष भी शामिल होते हैं।

दिनेश्वर प्रसाद के अनुसार- “संस्कृति सामाजिक मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी वास्तविकता है। इसी साधन के द्वारा वह परिवेश के साथ अपना समायोजन करता है। उसके द्वारा अपनी संस्कृति को

¹ उनियाल, राजेश्वर. (2014). हिंदी लोकसाहित्य का प्रबंधन. पृ. 122

² घोष, श्याम सुंदर. (2012). लोक साहित्य विविध प्रसंग. पृ. 27

अर्जित करने की संस्कृतीकरण की यह प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। लेकिन जीवन के आरंभ से ही अपने को संस्कृति विशेष में पाने के कारण वह शायद ही इसे अपने ऊपर आरोपित अनुभव करता है। पूर्व प्रदत्त होने के कारण वह सहज हो जाती है। इसका चेतन धरातल पर अनुभव तभी होता है। जब मनुष्य अपने से भिन्न संस्कृति के संपर्क में आता है।¹ उक्त कथन में डॉ. प्रसाद संस्कृति को मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार करते हैं, जिससे वह अपने समाज का निर्माण करता है। संस्कृति मनुष्य के साथ आजन्म चलती है और सांस्कृतिक आदान-प्रदान से ही मनुष्य को अपनी संस्कृति की भिन्न-भिन्न विशिष्टताओं का पता चलता है।

महादेवी वर्मा के शब्दों में कहें तो- “संस्कृति शब्द से हमें जिसका बोध होता है, वह वस्तुतः ऐसी जीवन पद्धति है, जो एक विशेष प्राकृतिक परिवेश में मानव निर्मित परिवेश संभव कर देती है और फिर दोनों परिवेशों की संगति में निरंतर स्वयं आविष्कृत होती रहती है। यह जीवन पद्धति न केवल बाह्य, स्थूल और पार्थिव है और न मात्र आंतरिक, सूक्ष्म और अपार्थिव। वस्तुतः उसकी ऐसी दोहरी स्थिति है, जिसमें मनुष्य के सूक्ष्म विचार, कल्पना, भावना आदि का संस्कार उसकी चेष्टा, आचरण आदि बाह्याचार की परिष्कृति उसके अंतर्जगत पर प्रभाव डालती है।”² महादेवी अपने कथन में संस्कृति को मानव परिवेश हेतु अनुकूलन मानती हैं। यह भौतिक एवं आंतरिक दोनों स्तरों पर सृजित होने वाली प्रक्रिया है। संस्कृति का प्रभाव मनुष्य पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है, वह किसी भी अवस्था एवं प्रक्रिया में अपनी संस्कृति से पृथक नहीं रह सकता।

संपूर्णानंद के अनुसार- “संस्कृति वह साँचा है जिसमें समाज के विचार ढलते हैं, वह बिंदु है, जहाँ से जीवन की समस्याएँ देखी जाती है।”³ उक्त परिभाषा में डॉ. संपूर्णानंद संस्कृति को समाज की परिधि मानते हैं, जिसके आकार में समाज का निर्माण होता है। अतः कोई भी समाज अपनी संस्कृति से बाहर नहीं हो सकता, अपितु संस्कृति वह मूल केंद्र है, जहाँ से मानव समाज के विचार पनपते हैं।

¹ प्रसाद, दिनेश्वर. (1973). लोकसाहित्य और संस्कृति. पृ. 85

² वर्मा, महादेवी. (1984). भारतीय संस्कृति के स्वर. पृ. 47

³ निरगुणे, वसंत. (2024). लोक संस्कृति. पृ. 12

उपरोक्त परिभाषा में जीवन की समस्याओं का आशय व्यक्ति के जीवन के हर सुख-दुःख, आशा-निराशा, उतार-चढ़ाव आदि संवेदनात्मक पहलुओं से हैं, जिनके समाधान हमें संस्कृति के माध्यम से ही मिलते हैं।

शंभुनाथ के अनुसार- “किसी भी देश की जनता की संस्कृति उस देश की जनता के आपसी लगाव, सहचरता और विश्वास की मुख्य धुरी है। इसके बिना न मनुष्य मनुष्य के बीच संबंध की कल्पना की जा सकती है, न जीवन के अर्थ और शैली की।”¹ शंभुनाथ संस्कृति को राष्ट्रीय स्तर पर मानवतावादी दृष्टिकोण से देखने के आग्रही हैं। उनके अनुसार संस्कृति मनुष्य को मनुष्य के निकट लाती है और इसी भाव से उसका जीवन संचालित होता है। संस्कृति का यह संवेदनात्मक पक्ष उसे इंसानियत का पर्याय बनाती है, जो उसे मनुष्यता के धरातल पर पूरे विश्व से जोड़ती है।

एस. आबिद हुसैन के मतानुसार- “संस्कृति किसी एक समय में पाई जाने वाली उच्चतम मूल्यों की वह चेतना है, जो सामाजिक प्रथाओं, व्यक्तियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं, मनोवृत्तियों, आचरण के साथ-साथ उसके द्वारा भौतिक पदार्थों के विशिष्ट स्वरूप दिए जाने में अभिव्यक्त होती है।”² अपने इस अभिमत में एस. आबिद हुसैन संस्कृति को समय-सापेक्ष मानते हुए उसके तात्कालिक स्वरूप पर बल देते हैं, जिसका प्रतिफलन मनुष्य के बाहरी एवं भीतरी स्वभाव में दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि यह कथन तर्कसंगत है, किंतु उक्त संदर्भ में संस्कृति के समसामयिक परिप्रेक्ष्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है, जबकि संस्कृति चिरंतन एवं कालातीत है जो अपनी ग्राह्यता के अनुरूप संचरण करती है तथा अपनी प्रकृति से भूत, भविष्य और वर्तमान को प्रभावित करती है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार-

संस्कृति मानव जीवन की वह आधारशिला है, जो व्यक्ति को सोचने, समझने और समाज में आचरण करने की दिशा प्रदान करती है। यह केवल कला, साहित्य, संगीत या परंपराओं तक सीमित

¹ गौतम, सुरेश. (2002). लोक साहित्य : अर्थ और व्याप्ति. पृ. 25

² गुप्ता, रुचि. (2006). भारतीय संस्कृति : शाश्वत जीवन दृष्टि एवं संगीत. पृ. 03

नहीं होती, बल्कि जीवन-शैली, मूल्य, नैतिकता और सामाजिक व्यवहार का संपूर्ण स्वरूप है। संस्कृति व्यक्ति को पहचान देती है और उसे सामाजिक बंधन में जोड़ती है। अतः संस्कृति के अध्ययन के लिए उसे वैश्विक परिदृश्य में देखना समीचीन होगा। पाश्चात्य विद्वान मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार- “किसी समाज और राष्ट्र की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ ही संस्कृति है, जिससे राष्ट्र, समाज परिचित होता है।”¹ अर्नोल्ड संस्कृति को किसी भी समाज की संरचना का परिचायक मानते हैं। संस्कृति में उन सभी श्रेष्ठ परंपराओं, मूल्यों, विचारों, ज्ञान, कला, साहित्य और जीवन-आदर्शों का समावेश होता है, जिन्हें समाज ने लंबे अनुभवों और साधनाओं से अर्जित किया है। यही वे तत्त्व हैं, जिनसे एक राष्ट्र की पहचान बनती है और जिनके माध्यम से समाज स्वयं को समझता और विकसित करता है।

टायलर भी मानते हैं कि- “संस्कृति मानव की सामाजिक विरासत है और व्यक्ति के व्यक्तित्व को समाज का ‘उपहार’ है, जो उसे समाज का सदस्य होने के नाते मिलता है।”² यह कथन स्पष्ट करता है कि संस्कृति कोई व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं, बल्कि समाज द्वारा लंबे समय में निर्मित एक सामूहिक विरासत है। प्रत्येक व्यक्ति जन्म के साथ समाज में आता है और वहीं से उसे भाषा, व्यवहार, रीति-रिवाज, नैतिक मूल्य, परंपराएँ और जीवन जीने के तरीके प्राप्त होते हैं। ये सब मिलकर उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। इस अर्थ में संस्कृति समाज का वह ‘उपहार’ है, जो हर व्यक्ति को केवल समाज का सदस्य होने के कारण मिलता है। व्यक्ति अपनी पहचान, सोच और आचरण समाज से ही ग्रहण करता है, इसलिए संस्कृति मानव-व्यक्तित्व की आधारभूत शक्ति है।

हावेल का कहना है कि- “सभी व्यवहार प्रतिमानों की समग्रता को संस्कृति कहते हैं तथा संस्कृति सामाजिक आविष्कारों का परिणाम है।”³ उक्त कथन के अनुसार संस्कृति केवल कुछ चुने हुए आचरणों या परंपराओं का नाम नहीं, बल्कि समाज में प्रचलित सभी व्यवहार प्रतिमानों जैसे विचार, बोलचाल, रीति-रिवाज, विश्वास, आदतें और जीवन-शैली की समग्रता है। मनुष्य अपने सामाजिक

¹ गुप्ता, रुचि. (2006). भारतीय संस्कृति : शाश्वत जीवन दृष्टि एवं संगीत. पृ. 04

² वही, पृ. 04

³ वही, पृ. 04

अनुभवों, आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार नए-नए विचार, तकनीकें, परंपराएँ और व्यवस्थाएँ विकसित करता है। यही सामाजिक आविष्कार संस्कृति का रूप ग्रहण कर लेती है।

बेकन के अनुसार- “संस्कृति को मानवता का वह प्रयत्न कहा जा सकता है जिसमें वह अपने आंतरिक स्वतंत्र अस्तित्व को प्रभावित ढंग से संस्थापित करती है।”¹ प्रस्तुत कथन में संस्कृति को मानवता का वह रचनात्मक प्रयास कहा गया है, जिसके माध्यम से मनुष्य अपने आंतरिक स्वतंत्र अस्तित्व को अभिव्यक्त और स्थापित करता है। मनुष्य के भीतर स्वतंत्र सोच, भावनाएँ, नैतिकता और सृजनशीलता होती है, संस्कृति इन्हीं गुणों का बाहरी रूप है। संस्कृति मनुष्य को अपनी पहचान बनाए रखने, अपने विचारों को अर्थ देने तथा समाज में अपने अस्तित्व को सार्थक रूप से स्थापित करने में मदद करती है। इसी कारण संस्कृति मानव की आंतरिक स्वतंत्रता की सशक्त अभिव्यक्ति मानी जाती है।

जेम्स हेस्टिंग्स का मतव्य है- “संस्कृति मानव के आध्यात्मिक जीवन के विविध पक्षों को प्रकाशित करती है। इसमें देश विदेश की विभूतियों के महनीय विचार और भावनाएँ निहित रहती हैं।”² उक्त कथनानुसार संस्कृति मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को दिशा देती है और उसके भीतर मौजूद संवेदनाओं, मूल्यों तथा आदर्शों को उजागर करती है। इसमें देश-विदेश के महान व्यक्तित्वों के विचार, अनुभव और उच्च भावनाएँ संचित होती हैं, जो मानव जीवन को प्रेरणा, ज्ञान और नैतिक उन्नति प्रदान करती हैं।

अतः संस्कृति एक ऐसी अवस्था है जो ऐतिहासिक परंपराओं, भौगोलिक परिस्थितियों में रह कर मानव जीवन के विभिन्न राग-द्वेषों का परिमार्जन करती हुई अपनी विशिष्ट पहचान बनाती है, जिसको विभिन्न लक्षणों से पहचाना जा सकता है और वे लक्षण लोक के भीतर ही निहित होते हैं। संस्कृति में सारी जीवन पद्धति का समावेश होता है, जो व्यक्ति के जीवन को संस्कारित करने और परिशुद्ध करने का साधन है। आज के वैश्वीकरण के युग में संस्कृति की आवश्यकता और बढ़ गई है,

¹ गावीत, जयश्री, लोक साहित्य : विविध आयाम एवं नयी दृष्टि. पृ. 35

² वही, पृ. 36

क्योंकि बाहरी प्रभावों एवं विभिन्न सांस्कृतिक टकरावों के बीच अपनी मौलिकता और परंपरागत मूल्यों को बनाए रखना महत्वपूर्ण हो गया है। संस्कृति समाज में एकता और सामंजस्य स्थापित करती है तथा विभिन्न समुदायों के बीच संवाद और सहयोग को प्रोत्साहित करती है। यह पीढ़ियों को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में कार्य करती है, जिससे ज्ञान, अनुभव और जीवन-मूल्य सुरक्षित रहते हैं।

लोक और संस्कृति का अंतःसंबंध-

लोक और संस्कृति के बीच अत्यंत घनिष्ठ, स्वाभाविक और परस्पर पूरक संबंध है। लोक किसी समाज की मूल चेतना, जीवन-पद्धति, विश्वासों, परंपराओं और सामूहिक अनुभवों का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि संस्कृति उन सभी लोकानुभावों, मूल्यों और व्यवहारों की समग्र अभिव्यक्ति है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि लोक, संस्कृति की जड़ है और संस्कृति लोक की विकसित, परिष्कृत और सतत प्रवाहमान रूपरेखा। लोक के भीतर और बाहर मनुष्य और उसके द्वारा निर्मित भौतिक और आत्मिक सामंजस्य का संवेदनशील वातावरण सर्वथा उपस्थित रहता है, जिसमें मनुष्य अपने स्वप्न, स्मृतियों और क्रियाशीलता के सहारे समाज की गतिविधियों को संचालित करता है। बिना मनुष्य और समाज के लोक की कल्पना संभव नहीं है, मनुष्य से समाज की निर्मिति होती है। समाज मनुष्य की उस सामूहिक चेतना का नाम है, जिसमें मनुष्य प्रकृति प्रदत्त उपादानों के सहारे अपने रहने के लिए एक अनुकूल परिवेश बनाता है, इसी अनुकूलता का नाम संस्कृति है और जिसमें यह अनुकूलता संचरित व विकसित होती है, उसका नाम लोक है।

लोक में ही संस्कृति का जन्म एवं विकास होता है। लोक में ही विभिन्न कलाएँ, गीत, विश्वास एवं संस्कार जन्म लेकर अपना विकसित रूप ग्रहण करते हैं एवं पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते हैं। लोक में प्रचलित परंपराएँ, वेश-भूषा, रहन-सहन, आचार-विचार, व्यवहार आदि लोक संस्कृति को प्रदर्शित करती है। अतः हम लोक व संस्कृति को अलग-अलग नहीं कर सकते। लोक एवं संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जिनकी परिभाषाएँ अलग हो सकती हैं किंतु इनका अलग अस्तित्व संभव नहीं। लोक एवं संस्कृति का सम्मिलित रूप ही 'लोक संस्कृति' है, जिसके अंतर्गत शिष्ट एवं जन संस्कृति

दोनों का ही सम्मिश्रण है, इसमें रीति रिवाज, पर्व त्यौहार, खान-पान, वेश भूषा, ललित कलाएँ एवं लोक विश्वास आदि समस्त मानवीय क्रियाकलाप सम्मिलित हैं।

लोक-संस्कृति : अर्थ एवं स्वरूप-

हर समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है, किसी भी समाज का परिचय उसकी संस्कृति से स्वतः ही मिल जाता है। प्रत्येक क्षेत्र विशेष के अपने विश्वास, विचार, भाव, धारणाएँ, अपनी मान्यताएँ, परंपराएँ, रीति-रिवाज, खान-पान, पहनने-ओढ़ने के ढंग, रहन-सहन के तरीके इन्हीं सबका समुच्चय ही लोक- संस्कृति का निर्माण करता है, ये सभी लोक-संस्कृति रूपी शरीर के अंग हैं। राजेश्वर उनियाल लिखते हैं कि “लोक-संस्कृति कोई वायवीय अवधारणा नहीं है इसका एक सुगठित शरीर है, लोक-संस्कृति पर विचार करने के लिए उसके शरीर विज्ञान पर विचार करना होगा।”¹

इस प्रकार लोक-संस्कृति को समझने के लिए उसकी मूल चेतना को समझना आवश्यक है। अंग्रेजी के ‘फोकलोर’ शब्द के लिए ‘लोक-संस्कृति’ शब्द का प्रयोग होता है। हिंदी में लोक-संस्कृति बहुत प्रचलित शब्द है। इसके उच्चारण मात्र से ही जन-जीवन का चित्र उसकी संस्कृति की झलक हमारे सामने उपस्थित हो जाती है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी ‘फोकलोर’ के लिए हिंदी में ‘लोक-संस्कृति’ का ही सुझाव दिया है। यहाँ पर राजेश्वर उनियाल का मंतव्य उल्लेखनीय है कि - “लोक संस्कृति को लेकर भारतीय विद्वानों के मन में भ्रामक धारणा प्रचलित है। वे लोक-संस्कृति को नगरों में व्याप्त आभिजात्य या शिष्ट संस्कृति के प्रतिकूल ग्रामीण अंचलों में फैली पसरी संस्कृति कहकर एक ऐसी संस्कृति के रूप में उसका प्रतिपादन करते हैं, जो आभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार शून्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित टोने-टोटके, भोजन, उत्सव, प्रतीक, वेश-भूषा, उक्तियाँ, स्वाँग आदि तक ही लोक-संस्कृति को सीमित करते हैं। इस प्रकार की धारणा एवं मत के प्रस्तुत करने के मूल में पश्चिमी विद्वानों की फोक के संबंध में की गई वे

¹ उनियाल, राजेश्वर. (2004). हिंदी लोक साहित्य का प्रबंधन. पृ. 38

परिभाषाएँ और व्याख्याएँ हैं, जिन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार करने या उन्हें अपने कथन की पुष्टि हेतु रेखांकित करके भारतीय विद्वान गौरव का अनुभव करते हैं। परंतु यहाँ डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय का मत सर्वाधिक उपयुक्त है। फोकलोर के लिए लोक संस्कृति शब्द को ही ग्रहण करना उपयुक्त तथा समीचीन है। लोक संस्कृति के अंतर्गत जीवन से संबंधित जितने भी आचार-विचार, रहन-सहन, विधि-निषेध, प्रथा-परंपरा, धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, खान-पान, वेश-भूषा और मूढाग्रह अनुष्ठान आदि हैं वे सभी इसके अंतर्गत आते हैं।”¹

समाज और साहित्य से लोक-साहित्य का निर्माण होता है एवं कालांतर में यही लोक-साहित्य उस समाज एवं संस्कृति को अक्षुण्य बनाए रखता है। लोक-साहित्य में समाज एवं संस्कृति इस प्रकार घुल-मिल गये हैं कि जैसे मानव-जीवन में रक्त एवं प्राण वायु, इसमें से किसी को भी अलग करना या कम आँकना निरर्थक है। “चीन के प्रसिद्ध लेखक फेंग जाइकाइ के अनुसार लोक-संस्कृति निम्नलिखित तीन तत्त्वों से निर्धारित होती है-

1. लोक परिधान।
2. लोक-साहित्य।
3. लोक कला।”²

उपरोक्त तीनों तत्त्वों के आधार पर लोक और सांस्कृतिक अवयवों का विश्लेषण किया जा सकता है।

“लोक साहित्य के वर्गीकरण के संदर्भ में डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय का मत सर्वाधिक मान्य व उपयुक्त है, जिसका पाँच वर्गों में विभाजन इस प्रकार से है -

1. लोक-गीत
2. लोक गाथा
3. लोक-कथा

¹ उनियाल, राजेश्वर. (2004). हिंदी लोक साहित्य का प्रबंधन. पृ. 41

² परमार, श्याम. (1994). लोक साहित्य विमर्श. पृ. 45

4. लोक नाट्य और

5. लोकभाषा।”¹

लोक-संस्कृति के महत्त्व का पता तब चलता है जब हमारी संस्कृति को दूसरा (अन्य) अपना रहा हो, और हम स्वयं उसे विस्मृत-सा कर रहे हों इसका सबसे बड़ा उदाहरण चीन का पारंपरिक त्यौहार ‘ड्रेगन बोट फेस्टिवल’ है। लोक-संस्कृति लोक-जीवन पर आधारित होती है उसमें बनावटी या कृत्रिमता नहीं होती है। लोक-संस्कृति का एक गुण सामूहिकता है जो साझा संस्कृति को जन्म देती है यह साझी संस्कृति जीवन को समाज की ओर ले जाती है। लोकगीतों का रचनाकार साझा होता है। उसकी सृजनात्मकता साझी है और इसके साझे सृजन का आनंद भी साझा है। संतराम देशवाल लिखते हैं कि- “जो संस्कृति लोक की होती है, लोक के द्वारा होती है, लोक के लिए होती है, उसे ‘लोक संस्कृति’ कहना चाहिए। प्रत्येक लोक संस्कृति की उत्पत्ति ‘लोक मानस’ से होती है।”²

भारत का लोक अधिकांशतः गांवों में बसता है, अतः ग्रामीण संस्कृति ही लोक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है और शहरी संस्कृति आभिजात्य संस्कृति का। शहर भौतिकता का जनक है तो गांव प्राकृतिक सुषमा और मानव मन में सरलता का विकास करता है। आज जैसे-जैसे गांवों के ऊपर शहरी सभ्यता का प्रभाव बढ़ रहा है, वैसे-वैसे गांव लोक कलाओं, लोक गीतों एवं लोकंजन से दूर होते जा रहे हैं। लोक में व्याप्त रीति-रिवाज, पर्व और त्यौहार, मेले, उत्सव उसके मानसिक विकास के साधन हैं, इनके अभाव में मानव भटकाव और अलगाव की स्थिति को प्राप्त होता जा रहा है।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्टतः कहा जा सकता है कि ‘लोक संस्कृति’ अपने अर्थ में व्यापकता लिए हुए है, उसे केवल ग्रामीणांचल तक सीमित करना अनुचित होगा। यह जरूर है कि क्षेत्र विशेष की अपनी लोक-संस्कृति होती है, इस आधार पर उसका मूल्य कम करना न्यायोचित नहीं है। प्रत्येक जनपद क्षेत्र विशेष के अपने विश्वास, धारणाएँ, मान्यताएँ, परंपराएँ, रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन

¹ उपाध्याय, कृष्णदेव. (1991). भारतीय लोक विश्वास. पृ. 65-66

² घोष, श्याम सुंदर. (2012). लोक साहित्य विविध प्रसंग. पृ. 51

के तरीके पहनने-ओढ़ने के ढंग होते हैं, इन्हीं सारे तत्त्वों का समुच्चय लोक संस्कृति होती है। लोक संस्कृति तो संस्कृति का जीवंत रूप होती है। लोक-संस्कृति को जनमानस का अमरकोश कहा जाता है। सामान्य जन की चिंतनशीलता तथा भावनाओं के प्रस्फुटन के लिए लोकसाहित्य एक विशाल क्षेत्र है, जिसमें लोक की बात, लोक के द्वारा, लोक के लिए, सामान्य बोलचाल की भाषा में कही जाती है। यही लोकसाहित्य लोक संस्कृति का दर्पण कहा जाता है। इसकी बनावट एवं बुनावट में पूरे समाज का हाथ होता है। यह ऊँच-नीच, काले-गोरे के भेद से मुक्त होती है तथा अमीर-गरीब, बाल-वृद्ध सबसे जुड़ी होती है। लोकसाहित्य का जन्म आडंबर व आधुनिकता से दूर ग्रामीण अंचल में होता है।

लोक संस्कृति की अवधारणा-

भारतीय संस्कृति को लोक-संस्कृति के निकट रखा जाता है, पूरक माना जाता है या यों कहें कि भारतीय संस्कृति की शाखाएँ लोक-संस्कृति हैं। प्रसाद, निराला, प्रेमचंद, हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिनकर, हरिशंकर परसाई आदि लेखकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से संस्कृति के व्यापक स्वरूप की व्याख्या की है। इन लेखकों ने समाज में प्रचलित अवधारणा में लोक-संस्कृति की अवधारणा पर जोर दिया। लोक-संस्कृति को लोक जीवन के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में देखा जाता है। संस्कृति का पूर्व रूप लोक-संस्कृति है, आदिम स्वरूपों में लोक-संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है।

लोक संस्कृति का तात्पर्य जन संस्कृति से है। वैदिक काल से ही लोक संस्कृति रूपी अजस्र धारा अनंत जनता के मन को नैसर्गिक शांति, उत्साह, आनंद प्रदान करने वाली दिव्य जलधारा की तरह पूजित है। लोक संस्कृति जीवन की अमूल्य निधि है, लोक संस्कृति का अभिप्राय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से है, यदि संस्कृति जीवन जीने का तरीका है तो उस तरीके को पुष्ट करती है लोक-संस्कृति। प्राचीन काल से ही संस्कृति की दो अलग-अलग धाराएँ चलती आ रही हैं- 1. लोक संस्कृति और 2. शिष्ट संस्कृति।

सत्येंद्र लिखते हैं कि- “शिष्ट संस्कृति से तात्पर्य आभिजात्य वर्ग की संस्कृति से है जो बौद्धिक विकास के शिखर पर पहुंचा हुआ था, जिसकी संस्कृति का स्रोत वेद था। लोक संस्कृति का अभिप्राय

जन साधारण की उस संस्कृति से है जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती थी, जो बौद्धिक विकास का निम्न स्तर था। यदि अथर्ववेद लोक संस्कृति का परिचायक है तो सामवेद में तो संगीत का लहरतारा ही लहरा रहा है। संगीत लोक संस्कृति का अत्यंत महत्वपूर्ण तत्त्व है, जिससे लोक मानस आनंदित होता है। उसके मनोरंजन का महत्वपूर्ण साधन है संगीत। आज गीत, संगीत की परंपरा को कायम रखने की जरूरत महसूस की जा रही है, तभी लोक संस्कृति को भी बचाया जा सकता है और तभी हमारी भारतीय संस्कृति की भी रक्षा हो सकेगी। कितने ही आक्रमणकारी आततायी भारत पर आक्रमण किए, इसकी संस्कृति पर कुठाराघात किए, लेकिन यहाँ की संस्कृति को नष्ट नहीं कर पाए। यह इसकी एकता और शक्ति का प्रमाण है। भारत की उदारता, सदाशयता और शरणागत वत्सलता ने विदेशियों एवं धर्मावलंबियों को भी यहाँ सुख, शांति से रहने के लिए आश्रय प्रदान किया। चाहे वो तुर्क हों, अफगानी हों, मुगल हों, डच, पुर्तगाली, अंग्रेज ही क्यों न हों, सभी को भारत ने आश्रय दिया, लेकिन सभी ने इसकी संस्कृति पर कुठाराघात किया किंतु फिर भी कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी, सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहाँ हमारा। भारत अपनी संस्कृति बचाने में कामयाब रहा यह इस देश की सबसे बड़ी विशेषता है।”¹

2.2 लोक और साहित्य का अंतःसंबंध

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, परंतु वह समाज तो लोक से ही निर्मित होता है। साहित्य का लोक से अटूट संबंध है। प्रत्येक समाज की घटनाएँ साहित्य में प्रतिबिंबित होती हैं। हर एक समाज की अपनी संस्कृति होती है, उस संस्कृति का वर्णन उस काल के साहित्य में दिखाई देता है। इसी कारण समाज का परिचय उस संस्कृति से तथा संस्कृति का पता उस समाज से अवश्य मिल जाता है। किसी भी लोक-साहित्य के संरक्षण हेतु सर्वप्रथम लोक-संस्कृति का विस्तृत अध्ययन करना अपेक्षित

¹ सत्येंद्र. (1996). लोक साहित्य विज्ञान. पृ. 116

होता है। साहित्य समाज को व्यक्त करता है और लोक उस व्यक्त की अनुभूति है। अतः साहित्य और लोक एक दूसरे के पूरक हैं एवं कोई भी साहित्य बिना लोकधर्मिता के जीवित नहीं रह सकता।

लोक और साहित्य का संबंध अत्यंत प्राचीन, स्वाभाविक और अविच्छेद्य है। लोक किसी समाज की मूल चेतना, जीवनानुभव, विश्वास, परंपराएँ और व्यवहार का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि साहित्य उन अनुभवों और भावनाओं को कलात्मक रूप में अभिव्यक्त करने का माध्यम है। इस प्रकार लोक साहित्य की प्रेरणा-शक्ति भी है और आधार-भूमि भी। साहित्य का बीजारोपण लोक जीवन की उसी उर्वर मिट्टी में होता है, जहाँ मनुष्य अपने सुख-दुख, आशा-निराशा, ऋतु-परिवर्तन, पर्व-त्यौहार, रीति-रिवाज और कर्मकांडों आदि को अभिव्यक्त करता आया है।

लोक और साहित्य का पहला संबंध भाषिक स्तर पर दिखाई देता है। लोकभाषा सहज, स्वाभाविक और जन-भावों की वास्तविक वाहक होती है। साहित्यकार जब लोकभाषा से सामग्री लेता है, तो उसकी रचनाएँ अधिक जीवंत, प्रभावपूर्ण और यथार्थपरक बन जाती हैं। तुलसीदास, सूरदास, कबीर, मीरा, नागार्जुन रेणु और त्रिलोचन आदि जैसे रचनाकारों के साहित्य में लोक की मिट्टी की सुगंध स्पष्ट दिखाई देती है। उनकी रचनाओं ने यह सिद्ध किया है कि साहित्य तभी प्रभावी बनता है, जब वह लोकचेतना को आत्मसात करता है।

दूसरा महत्वपूर्ण संबंध सांस्कृतिक स्तर पर स्थापित होता है। लोक-संस्कृति में निहित उत्सव, लोक-कथाएँ, गीत, नृत्य, सामाजिक मूल्य और जीवन-दर्शन साहित्य का स्थायी स्रोत हैं। लोक परंपराएँ समाज के सामूहिक अनुभवों का भंडार होती हैं, जिनसे साहित्य न केवल कथाभूमि पाता है, बल्कि उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी समृद्ध होती है। लोककथाओं, दंतकथाओं और पुरानी मान्यताओं ने आधुनिक कहानी, उपन्यास और नाटक को भी नई दिशा दी है।

लोक और साहित्य का संबंध भावनात्मक स्तर पर भी अत्यंत गहरा है। लोकजीवन में उमड़ने वाली सहज भावनाएँ जैसे- ममता, प्रेम, क्रोध, करुणा, ईर्ष्या, श्रम, संघर्ष, आस्था आदि साहित्य को

मानवीय संवेदनशीलता प्रदान करती हैं। यही भावनाएँ साहित्य को जीवन के वास्तविक धरातल से जोड़ती हैं।

वस्तुतः लोक और साहित्य एक-दूसरे के पूरक हैं। लोक जीवन-सामग्री प्रदान करता है और साहित्य उसे सौंदर्य, संरचना और दार्शनिक गहराई देता है। साहित्य का विकास लोक के बिना संभव नहीं, और लोक की अभिव्यक्ति साहित्य के बिना अधूरी है। दोनों मिलकर समाज की सांस्कृतिक धारा को निरंतर प्रवाहित करते हैं और मानव सभ्यता को समृद्ध बनाते हैं। यद्यपि 'लोक संस्कृति' एक समष्टिगत पद है, अतः इसकी कोई एक निर्दिष्ट परिभाषा नहीं दी जा सकती। लोक संस्कृति का शाब्दिक अंग्रेजी अनुवाद Folk Culture होगा, परंतु इसकी प्रवृत्ति के आधार पर Folklore (फोकलोर) शब्द इसके ज्यादा समीचीन है। जिसके समकक्ष हिंदी में लोकवार्ता शब्द प्रचलित है। वस्तुतः लोक संस्कृति एक भावात्मक तत्त्व व अनुभूति है। प्रत्यक्ष रूप में यह विभिन्न विधाओं में प्रस्फुटित होती है, जैसे- लोकगीत, लोकगाथा, लोक विश्वास, लोकपर्व, लोकनाट्य, लोककला, मिथक, पहेलियाँ, कहावतें आदि। समग्र रूप में ये ही वे अवयव हैं जिनसे लोक संस्कृति का निर्माण होता है।

लोकगीत-

लोकगीत किसी भी समाज की सांस्कृतिक विरासत का जीवंत और प्रामाणिक रूप होते हैं। यह गीत लोकजीवन की अनुभूतियों, भावनाओं, परंपराओं और जीवन-मूल्यों को सहज भाषा में अभिव्यक्त करते हैं। लोकगीत लिखित न होकर मौखिक परंपरा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी संप्रेषित होते रहे हैं, इसलिए इनमें जीवन की नैसर्गिकता, सरलता और आत्मीयता स्पष्ट दिखाई देती है। यह गीत खेती-बाड़ी, विवाह, जन्म-मरण, त्यौहार, ऋतु-वर्णन, श्रम, प्रेम तथा सामाजिक संबंधों से जुड़े अनेक प्रसंगों को स्वर देते हैं।

सामाजिक दृष्टि से लोकगीत समुदाय को जोड़ने का कार्य करते हैं। ये साझा गान भावना, एकता और सामूहिकता को मजबूत बनाते हैं। बदलते समय और आधुनिकता के प्रभाव के बावजूद

लोकगीत आज भी अपनी आत्मीयता और सांस्कृतिक महत्त्व के कारण प्रासंगिक बने हुए हैं। “लोकगीतों में व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों का कोई स्थान नहीं होता। लोकगीतों के मूल में समष्टिगत अभिव्यक्ति होती है। एक लोकगीत को बनने में एक या दो वर्ष पर्याप्त नहीं होते। अनुभव से गुजरते हुए उसे सौ से भी अधिक वर्ष लग सकते हैं। एक लोकगीत पीढ़ियों से खरे अनुभव से तपकर बनता है, तभी तो उनकी मार्मिकता, काव्यात्मकता, रसोद्रेकता, संगीतात्मकता अधिक सरल, स्पष्ट और व्यापक होती है।”¹ लोकगीतों का सबसे बड़ा गुण उनकी सहजता और सरलता है। इनमें व्यक्त भावनाएँ किसी भी वर्ग, आयु या लिंग के व्यक्ति को आसानी से स्पर्श कर लेती हैं। इनमें न कृत्रिमता होती है, न जटिल शब्दावली। ये सीधे हृदय से निकलते हैं और हृदय तक पहुँचते हैं। चाहे वह विवाह के शुभ अवसर पर गाए जाने वाले गीत हों, कृषि-चक्र से जुड़े गीत हों, उत्सवों के गीत हों, या किसी व्यक्ति के सुख-दुख की भावनाओं को प्रकट करने वाले गीत। लोकगीत मानव जीवन की प्रत्येक स्थिति को अपने भीतर समाहित करते हैं।

लोकगाथा-

लोकगाथा भी लोकगीतों के समान अधिकतर गेय और सांगीतिक होते हैं। इनमें सामान्यतः कोई कथा होती है, जिसका वर्णन लोकगायक या विदूषक गीत के रूप में करता है। लोकगाथा प्रायः ऐतिहासिक या धार्मिक विषयों पर केंद्रित होते हैं। अंग्रेजी में इसे वैलेड (Vallad) कहा जाता है। यह एक प्रकार की मौखिक गाथा होती है। इन गाथाओं में समसामयिक विषयों पर भी प्रस्तुति होती है। यह एकल और सामूहिक दोनों प्रकार के होते हैं। लोककथा या लोकगाथा के रचयिता अमूमन अज्ञात होते हैं। ये प्रायः मौखिक होते हैं और श्रुति परंपरा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होते हैं। लोकगाथाओं को विभिन्न प्रांतों में अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है, जैसे महाराष्ट्र में इन्हें ‘पवाड़ा’ कहते हैं, गुजरात में इन्हें ‘कथागीत’ और राजस्थान में ‘गीत कथा’ कहा जाता है। “लोक-

¹ निरगुणे, वसंत. (2024). लोक संस्कृति. पृ. 108

भाषा के माध्यम से सामान्य लोक-जीवन में प्रचलित, त्रैकालिक विश्वास, आस्था और परंपरा पर आधारित कथाएँ, 'लोक-गाथा' के अंतर्गत आती हैं। शांति और अशांति के विभिन्न क्षणों में ये लोक कथाएँ जन समुदाय में स्फूर्ति एवं प्रेरणा का रक्त संचार करती हैं। लोक-मानस में परिव्याप्त होकर असीम आनंद की लहरों में सुंदर सत्य का उद्घाटन करती हैं।¹ डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने भी वर्ण्यविषय के आधार पर लोककथाओं का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है- 1. नीतिकथा, 2. व्रतकथा, 3. प्रेमकथा, 4. मनोरंजन कथा, 5. दंतकथा और 6. पौराणिक कथा। पश्चात्य विद्वानों ने भी वर्ण्य-विषय के अनुसार लोककथाओं की अनेक श्रेणियाँ स्थापित की हैं, यथा- कल्पित कथा (फेबुल), परियों की कथा (फेयरी टेल्स), दंतकथा (लीजेंड) और पौराणिक कथा (मिथ)।

लोक गाथाओं के विषय रोचक, अनोखे और शिक्षाप्रद होते हैं। इनमें किसी प्रकार की अश्लीलता और फूहड़ता नहीं होती। लोककथाओं में भक्ति/पिता-पुत्र/पति-पत्नी/भाई-बहन/प्रेमी-प्रेमिका/जीव-जंतु आदि की कहानियाँ होती हैं। जैसे- स्वाधीनता की कथा, रामायण-महाभारत की कथा, हीर-रांझा की प्रेमकथा, गोरा-बादल/आल्हा-ऊदल की वीर कथाएँ, जातक कथाएँ आदि।

लोक विश्वास-

लोक विश्वास आम जनमानस की एक सामाजिक धारणा है, जिसे मनुष्य बड़ी प्रतिबद्धता से अनुपालन करता है। ये मानव-जीवन के नीति-निर्देशक तत्त्व हैं। समाज का कोई भी प्राणी इसकी परिधि से बाहर नहीं। लोक विश्वास सदियों से चली आ रही मान्यताओं का रूढ़ रूप है, इसकी शुरुआत कब और कैसी हुई, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। ये लोक विश्वास धारणाएँ एवं भ्रांतियों के रूप में कार्य करती हैं, जैसे कोई व्यक्ति कहीं जा रहा था और एक बिल्ली उस रास्ते को काटते हुए पार कर गई, जिसके बाद वह व्यक्ति दुर्घटना का शिकार हो गया। तब से यह लोक-विश्वास बन गया कि जब बिल्ली रास्ता काटे तो कुछ अनिष्ट होने की संभावना रहती है। अब ये विश्वास सभ्य समाज में इतने

¹ चौहान, विद्या. (2020). लोक साहित्य. पृ. 21-22

गहराई से अपनी पैठ बना चुके हैं कि पढ़े-लिखे आधुनिक लोग भी इस दकियानूसी विचार से खुद को अलग नहीं रख सकते। अतः ये लोक विश्वास ही शकुन-अपशकुन, अंधविश्वास, दैवीय प्रकोप का भय, दान-धर्म, छुआ-छूत, लोक-लाज, शुभ-अशुभ, जादू-टोना, वशीकरण, काला जादू जैसे विश्वासों का दृढ़तापूर्वक पालन करते हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमें अपने आस-पास देखने को अनायास ही मिलते रहते हैं, जैसे- रात को नाखून नहीं काटना चाहिए, बाएं हाथ से भोजन नहीं करना चाहिए, सुबह का सपना सच होना, बाईं आंख का फड़कना शुभ लक्षण है, यात्रा के आरंभ में किसी का छींकना अपशकुन है, टूटे शीशे में प्रतिबिंब नहीं देखना चाहिए आदि। ऐसी अनगिनत लोक नियमावली हैं, जिसे मनुष्य को कभी अपनी इच्छा से तो कभी दबाववश पालन करना पड़ता है और विडंबना यह है कि यह नियम या विश्वास जिस रूप में शुरू हुए थे, आज उस रूप में नहीं हैं और इसे मानने वाले भी इसकी वास्तविकता से अनभिज्ञ रहते हैं।

लोकपर्व-

लोकपर्व एक प्रकार का मांगलिक अनुष्ठान हैं, जो किसी विशेष प्रांत या समुदाय के होते हैं। किसी विशेष गाँव का कोई प्राचीन पेड़, मनुष्य या शिलाकृति जिस पर लोगों का अटूट विश्वास होता है उस गाँव का लोक देवता होता है और वर्ष में कोई एक दिन एक निश्चित समय पर उसकी पूजा-अर्चना होती है। ऐसे त्यौहार लोकपर्व कहलाते हैं। ये त्यौहार बेहद साधारण और समूहबद्ध उपस्थिति में मनाए जाते हैं। ऐसे पर्व कभी अच्छी खेती या वर्षा के लिए, संतानोप्राप्ति के लिए, प्राकृतिक आपदाओं से सुरक्षा के लिए, फसल-पूजा आदि के लिए मनाये जाते हैं। ऐसे पर्वों से ही लोकदेवता और कुलदेवता जैसी अवधारणाओं का जन्म हुआ। उदाहरणस्वरूप मध्य प्रदेश का मांडू महोत्सव, तमिलनाडु का जल्लीकट्टू, केरल का ओणम, झारखण्ड का सरहुल, सिक्किम का बुमचू, अरुणाचल प्रदेश का लोसार, असम का बिहू आदि कुछ ऐसे ही लोकपर्व हैं।

लोक नाट्य-

“गीत, नृत्य और संगीत से युक्त लोकानुरंजक कथावस्तु का लोकभाषा में अभिनीत होना लोक नाट्य है। सामान्य जीवन में अवकाश के क्षणों में लोक-नाट्य सार्वजनिक मनोरंजन का सर्वोत्तम साधन होता है। दिन भर की परिश्रम-जन्य क्लान्ति, चिंताओं और अवसाद का परिहार मनुष्य इस प्रकार मनोरंजक कार्यक्रमों में पाता है, प्रत्येक देश का लोक-जीवन लोक-नाट्यों की झंकार से गुंजित है।

लोक-नाट्य की परंपरा अति प्राचीन है। नाटकों की उत्पत्ति का इतिहास वैदिक काल से आरंभ होता है। भरतमुनि के ‘नाट्य-शास्त्र’ में नाटक की उत्पत्ति के संबंध में एक कथा का उल्लेख है कि इंद्र तथा अन्य देवताओं ने ब्रह्मा से मनोविनोद का ऐसा साधन उत्पन्न करने की प्रार्थना की, जो श्रव्य और दृश्य हो और जिसमें सभी वर्गों के व्यक्तियों का मनोरंजन हो सके। चारों वेदों का पठन-पाठन शूद्रों के लिए निषिद्ध था, अतः पंचमवेद की आवश्यकता हुई। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर ‘नाट्यवेद’ की रचना की। इस प्रकार नाटक समस्त व्यक्तियों के अनुरंजन का साधन हुआ है।”¹

मुहावरे-

मुहावरा अरबी भाषा का शब्द है। इसका अर्थ होता है- परंपरा, बात-चीत और सवाल-जवाब करना। अंग्रेजी भाषा में इसे ‘इडियम’ नाम से संबोधित करते हैं। संस्कृत में इस शब्द के यथार्थ अर्थ का बोधक कोई शब्द नहीं है। कतिपय विद्वानों के द्वारा ‘प्रयुक्तता’, ‘वाग्रीति’ एवं ‘रमणीय प्रयोग’ का व्यवहार इस शब्द के लिए हुआ है। परंतु, इन शब्दों से मुहावरों के भाव का सम्यक् प्रकाशन नहीं होता, अतएव यह शब्द-रूप उपयुक्त नहीं हैं।

¹ चौहान, विद्या. (2020). लोक साहित्य. पृ. 24

अरबी में मुहावरा शब्द का अर्थ सीमित है, परंतु हिंदी और उर्दू में यह अधिक व्यापक हो गया है। वहां लक्षणा अथवा व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य को ही मुहावरा कहते हैं। मुहावरे का अर्थ, उसके अभिधेयार्थ से भिन्न होता है- यथा ‘फूटी आँख से देखना, मुहावरे का अर्थ इस अभिधेयार्थ भिन्न घृणा करना है।

पहेलियाँ-

पहेली एक प्रकार के कथन या वाक्यांश होते हैं, जिसमें किसी तरह का कोई प्रश्न-उत्तर, रहस्य अथवा वस्तु, स्थान का नाम आदि होता है। सामान्यतः पहेली का व्यवहार खेल एवं मनोरंजन के साधन के रूप में किया जाता है। जिसमें एक पक्ष पहेलीनुमा सवाल पूछता है और दूसरा पक्ष अपने तर्क व बुद्धि से उसे बूझकर (समझकर) उसका उत्तर देता है। पहेली की कई शैलियाँ होती हैं- जैसे शाब्दिक, गणितीय, चित्रात्मक, संबंधपरक, तर्कशील, द्विअर्थी आदि। “पहेलियाँ हृदय की अनंत भावनाओं का स्रोत हैं। इन अनंत भावनाओं में बहुत सी इस प्रकार की भावनाएँ होती हैं जो सार्वजनिक हो सकती हैं, जिनकी अभिव्यक्ति उन्मुक्त रूप से की जा सकती है और बहुत सी ऐसी भावनाएँ भी होती हैं, जिनकी अभिव्यक्ति सबसे साझा नहीं की जा सकती। यहीं पर मनुष्य में गोपनीयता की प्रकृति जन्म लेती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य निर्दिष्ट व्यक्ति तक अपनी भावना को प्रेरित करने के लिए गुप्त साधनों का प्रयोग करता है। पहेली वाणी का वह दुरुह व्यापार है, जिसमें मनुष्य की गोपनीयता की प्रवृत्ति अंतर्भूत है। डॉ. फ्रेजर ने लिखा है कि पहेलियों की रचना उस समय हुई होगी जब कुछ कारणों से वक्ता को स्पष्ट शब्दों में किसी बात को कहने में किसी प्रकार की अड़चन पड़ती होगी। दुर्बोध कथन-पद्धति को पहेली कहते हैं। प्रारंभ में पहेली का जन्म मनुष्य की इसी स्वाभाविक गोपनीयता की आवश्यकतावश हुआ होगा, पर आगे चलकर यह बौद्धिक माप का मनोरंजक पैमाना बन गई।”¹

¹ चौहान, विद्या. (2020). लोक साहित्य. पृ. 31

लोकोक्तियाँ-

लोकोक्ति उस संक्षिप्त, प्रचलित और सारगर्भित कथन को कहते हैं, जो लोकजीवन के दीर्घ अनुभव से जन्मा होता है और किसी सामान्य सत्य, नीति, व्यवहार या जीवन-बोध को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करता है। लोकोक्तियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परंपरा के माध्यम से चली आती हैं और सामान्यतः किसी विशेष स्थिति में उदाहरण या उपदेश के रूप में प्रयुक्त होती हैं। जैसे- जैसी करनी वैसी भरनी, देर आए दुरुस्त आए तथा नाच न जाने आँगन टेढ़ा आदि। “लोकोक्तियों में अनुभव सिद्ध ज्ञान का वृहत् कोष छिपा हुआ है। जन सामान्य में लोकोक्तियों का अत्यधिक प्रचलन रहता है। बच्चे से लेकर बूढ़े सभी में इन लोकोक्तियों का कंठस्थ स्वरूप लक्षित होता है, इन्हें मानवी ज्ञान का सूत्र भी कहा जा सकता है। जिन सत्य तथ्यों का साक्षात्कार मनुष्य अपने जीवन काल में करता रहा है, उनका संपूर्ण सार लोकोक्तियों में प्लावित होता रहता है। चिर संचित अनुभव एवं ज्ञान-राशि का सूत्रबद्ध संक्षिप्त प्रकाशन लोकोक्तियों में प्राप्त होता है। लोकोक्तियों के लघु आकार में भी सागर के समान नीति, शिक्षा, आध्यात्म, राष्ट्र सभी समाज एवं जाति के व्यापक नियम, सिद्धांत एवं आचार-विचारों का समावेश रहता है। लोकोक्ति की एक छोटी-सी सीमा में विशाल राष्ट्र का स्वरूप प्रतिबिंबित हो सकता है। लोकोक्तियाँ व्यक्ति-परक न होकर सामूहिकता से संबंधित होती हैं। व्यक्ति की एक सहज उक्ति ही लोक से स्वीकृति हो जाने पर लोकोक्ति बन जाती है। वैयक्तिक अनुभव ही समस्त मानव-प्राणियों के मन एवं मस्तिष्क पर प्रभाव डालकर सर्वजनीन एवं सर्व ग्राह्य बन जाता है तब लोकोक्ति कहलाता है।”¹

मिथक-

“मिथक शब्द अंग्रेजी के ‘मिथ’ (Myth) शब्द से गढ़ लिया गया है और उसका हिंदी प्रतिरूप बन गया है। ‘मिथ’ शब्द का उद्भव यूनानी शब्द ‘मिथॉस’ (Mythos) से हुआ है, जिसका अर्थ है ‘मुँह से निकल हुआ।’ अतः उसका संबंध ‘मौखिक कथा’ से जुड़ गया क्योंकि कथा भी सुनी सुनाई जाती

¹ चौहान, विद्या. (2020). लोक साहित्य. पृ. 26

थी।”¹ हिंदी में मिथक के लिए पुराकथा, पुराख्यान, कल्पकथा, किंवदंती आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है, किंतु ये सभी शब्द ‘मिथक’ की व्यापक व्याख्या को पूर्ण रूप से नहीं व्यक्त कर पाते। मिथक केवल कहानी नहीं, बल्कि मनुष्य की आस्था, भावना और विश्वासों का सांकेतिक समुच्चय है, जो समय के प्रवाह में विकसित होकर समाज की सामूहिक चेतना का रूप ग्रहण करता है।

“मिथ या मिथक प्राचीन मनुष्य के सृजन-विज्ञान के वे सूत्र हैं, जिनसे एक ओर हम प्राचीन मनुष्य की दुनिया के बारे में जानते हैं तो दूसरी ओर अपने रचनागत विकास में अतीत की इस संपदा को एक अपरिहार्य अनुप्रेरणा के रूप में पाते हैं। प्राचीन मिथकों में कितना मिथ्यातत्त्व है और कितना इतिहास, इसके अन्वेषण, अनुमान और विवेचना में असंख्य विद्वान लगे हुए हैं, किंतु यह एक महत्तम सत्य है कि प्राचीन मिथकों के द्वारा हम तक अतीत अभी भी अत्यंत आसानी से संचरित हो रहा है। पुरा कथाओं या इतिहास कथाओं के अतिरिक्त जातीय गौरव के अनेक चिह्न इसी मिथकीय प्रभामण्डल से आलोकित हैं। ‘मिथकों’ की मात्रा अत्यंत दिलचस्प खोज हो सकती है, क्योंकि समय के प्रवाह के साथ मानव सर्जना के मिथक पुराकथाओं से होते हुए भाषा और व्यवहारगत प्रतीकों में आज भी मनुष्य के लिए अपनी अनिवार्यता कई रूपों में स्पष्ट करते हैं। मिथक और प्रतीक अपनी रचनात्मक निर्मिति में अत्यंत निकट हैं और एक-दूसरे के वस्तुगत रूप में संक्रमण भी करते रहते हैं। इसीलिए कई मिथक प्रतीकधर्मी होकर मिथकीय प्रतीक हो जाते हैं तो कई प्रतीक अपने प्रतीकरूप को ध्वस्त कर ‘मिथकों’ में रूपान्तरित हो जाते हैं।”²

वस्तुतः ‘लोक संस्कृति’ ऐसे ही लोकरंजन के उपादानों से मिलकर बनती है। ये सारे उत्सव, भाषाहिक प्रयोग, शिल्पकला, साहित्य, नृत्य-संगीत आदि सभी से मिलकर एक साझी संस्कृति का विकास होता है। यह किसी भी देश, प्रांत या समाज की वास्तविक अस्मिता होती है। इसी कारण जब कहीं भी अपने क्षेत्र का परिचय देना होता है तो उस क्षेत्र के भौतिक और लोक विशिष्टताओं को दर्शाने

¹ अमरनाथ. (2016). हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली. पृ. 281

² शंभुनाथ. (संपा.). मिथक और भाषा. पृ. 56

के लिए लोकगीत या लोकनृत्य की प्रस्तुति की जाती है। जिस कारण ऐसे अनुष्ठानों को सांस्कृतिक कार्यक्रम कहा जाता है। ये सदैव अक्षुण्ण रहती हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित और जीवंत रहती हैं।

2.3 पूर्वोत्तर भारत का लोकवृत्त एवं सांस्कृतिक चेतना

भारत का पूर्वोत्तर क्षेत्र केवल भौगोलिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि अपनी सांस्कृतिक संपन्नता, सामाजिक विविधता और परंपरागत लोकजीवन के कारण भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। यहाँ के आठों राज्यों की भाषाओं, लोकाभ्यासों, वस्त्रों, खान-पान और रहन-सहन में उल्लेखनीय भिन्नताएँ पाई जाती हैं। यह क्षेत्र अनेक जनजातीय समुदायों का निवास स्थल है, जिनकी सांस्कृतिक विरासत देश की प्राचीन आदिम परंपराओं को आज भी संरक्षित किए हुए है। नेपाल, भूटान, चीन, म्यांमार, बांग्लादेश और तिब्बत जैसे देशों से लगी अंतर्राष्ट्रीय सीमाएँ इस प्रदेश को भाषिक व सांस्कृतिक रूप से अत्यधिक बहुवर्णी बनाती हैं। लगभग 400 समुदाय और 220 से अधिक भाषात्मक स्वरूप यहाँ की लोक-सांस्कृतिक उर्वरता और विविध आयामी चेतना के प्रतीक हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि पूर्वोत्तर भारत भारतीय राष्ट्रीय अस्मिता में निहित “विविधता में एकता” के सिद्धांत की सुदृढ़ अभिव्यक्ति है। यह संपूर्ण क्षेत्र अपने प्राकृतिक सौंदर्य, जनजातीय पहचान, धार्मिक आस्थाओं एवं ऐतिहासिक-पौराणिक चेतना के कारण भारतीय लोक संस्कृति का जीवंत संग्रहालय है, इसलिए यहाँ के प्रत्येक राज्य की सांस्कृतिक संरचना का अवलोकन आवश्यक है।

अरुणाचल प्रदेश की संस्कृति एवं लोक विरासत-

भौगोलिक दृष्टि से अरुणाचल प्रदेश भारत की पूर्वोत्तर सीमा पर स्थित है। इसे 20 फरवरी, 1987 को पूर्ण राज्य का दर्जा मिला, इससे पहले यह 20 जनवरी, 1972 तक नार्थ ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी (नेफ्रा) कहलाता था। स्थानीय व्याख्या के अनुसार अरुणाचल- ‘अरुण’ + ‘अचल’ है अर्थात् जहाँ सूर्य स्थित है। यह हिमालय की बर्फीली चोटियों से लेकर ब्रह्मपुत्र के मैदानों तक फैला हुआ है और अपनी प्राकृतिक सुंदरता, ऊँचे पहाड़ी क्षेत्र, जलधाराएँ तथा घने वन के लिए विख्यात है। उत्तरपूर्व में

तिब्बत/चीन, पश्चिम में भूटान, दक्षिण में असम तथा नागालैंड और पूर्व में म्यांमार इसकी सीमाएँ हैं। पर्वतीय भौगोलिकता के कारण आबादी फैली हुई है, पर दर्रे और नदियाँ संचार व आवागमन के मार्ग बनाती हैं।

“अरुणाचल प्रदेश की प्रमुख नदियाँ सियांग, तीरप, कामेंग, लोहित और सबनसिरी हैं, जो आगे चलकर असम में ब्रह्मपुत्र की विशालता में वृद्धि करती हैं। हिमालय से निकलने वाली ये नदियाँ वर्ष भर जल से भरी रहती हैं और राज्य को पाँच नदी घाटियों में विभाजित करती हैं। पहाड़ी तलहटियों की जलवायु उपोष्ण, यानी हल्की गर्म है, किंतु पहाड़ों पर तापमान ऊँचाई बढ़ने के साथ ही कम होता जाता है। राज्य में वर्षा बहुत होती है और उसका वार्षिक औसत 2,000 मि.मी. से 4,000 मि.मी. (80-160 इंच) तक रहता है।”¹ अरुणाचल प्रदेश की राजधानी ईटानगर है, जिसका नाम ईटों से बने किले पर पड़ा। यहाँ लोग प्राचीन आस्थाएँ बनाए रखते हुए ईसाई, हिंदू और बौद्ध धर्म भी मानते हैं, अनेक जनजातियाँ प्रकृति-पूजक हैं और ‘दोन्यी-पोलो’ जैसे स्थानीय धर्म भी प्रचलित हैं, जिसमें सूर्य को माता एवं चंद्र को पिता माना जाता है।

अरुणाचल प्रदेश की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि पर आधारित है। प्रमुख फसलें- धान, दलहन, गन्ना, गेहूँ, ज्वार-बाजरा, तिलहन, अदरक और मक्का। बड़े वनक्षेत्र, झूम तथा सीढ़ीदार कृषि प्रचलित हैं, नदी घाटियों व पहाड़ी तलहटियों में भिन्न-कृषि पद्धतियाँ मिलती हैं। “झूम खेती में पर्वतों पर वन को जलाकर साफ कर वहां 3-4 वर्ष खेती करते हैं, कुछ दिनों में पूर्व की खेती वाली भूमि पर वन हो जाता है। घाटियों में जहां सिचाई की सुविधा उपलब्ध है, वहां की खेती को ‘पानी खेती’ कहते हैं। यहाँ मुख्य रूप से धान पैदा होता है। इसके अतिरिक्त मकई, गेहूँ, जौ, बाजरा, गन्ना, आलू इत्यादि पैदा होते हैं। फलों में अनानास, केला, सेब, अमरूद, संतरा, कटहल, पपीता पैदा होता है। अदरक और हल्दी बहुत होती है। दिरांग क्षेत्र में लूसी का फूल मसाले का काम करता है।”² धान मिल, फल प्रसंस्करण,

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ.01

² प्रसाद, माता. (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. पृ. 144

हथकरघा, हस्तशिल्प और पर्यटन उद्योग भी आय के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। अरुणाचल प्रदेश के संतरे (वाक्रो), खामती चावल (खाव ताई) और याक छुरपी (याक के दूध से बने उत्पाद) जैसे खाद्य पदार्थ भौगोलिक संकेत (GI tag) की सूची में शामिल हैं।

अरुणाचल प्रदेश में मुख्यतः कुल 26 से भी अधिक जनजातियां और 110 से अधिक उपजनजातियां निवास करती हैं और सबकी भाषा-बोली परस्पर एक-दूसरे से भिन्न है, जिस कारण यहां के लोग आपसी संवाद के लिए हिंदी का ही प्रयोग करते हैं। “अरुणाचल प्रदेश में अनेक आदिम जनजातियां रहती हैं, जिनकी अपनी-अपनी बोलियाँ व भाषाएँ हैं। राज्य में कुल मिलाकर 82 भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें से अधिक बोली जाने वाली भाषाएँ मिशमी, आदी, गालो, मोनपा, हुसो, नोक्ते, खामति, न्यीशी, वांचो, साजलॉंग, तागिन, तांग्सा, शारदुकपेन, आपातानी, नह, सिंगपो, सरतांग इत्यादि हैं। इन जनजातीय भाषाओं के अलावा, अरुणाचल प्रदेश के निवासी हिंदी, असमीया और अंग्रेज़ी भी बोलते हैं।”¹

अरुणाचल प्रदेश की वेश-भूषा रंग-बिरंगी, सुंदर और प्रतीकात्मक है। यहाँ की जनजातियां अपनी विशिष्ट पोशाकें पहनती हैं, कपड़े अक्सर प्राकृतिक रेशों, ऊन या बुने गए धागों से बनते हैं और सामाजिक-वैवाहिक स्थिति के संकेत देते हैं। “विवाह संस्कार के अवसरों पर लोग विभिन्न प्रकार के सहायक आभूषण एवं उपकरण धारण करते हैं, जैसे- बिआंग सीपी (रंगीन मनकों की जंजीर), तलेई (मिले-जुले आकार के प्याले या कटोरे), बुआह टैप और कामको टैप (दूल्हे द्वारा पहने जाने वाले कड़े), बौहचे (दूल्हे की तलवार), बुआह गतजिआंग (लाल रंग का मनका, जो दूल्हे की बाईं कलाई में बाँधा जाता है), कोकतुंग (शिरोभूषा), दौमुइ चे (दुल्हन की तलवार), हाबोटेटी (लड़कियों द्वारा पहनी जाने वाली माला), पेबर (एक आयताकार जेवर) और विभिन्न प्रकार के मनकों की मालाएँ, जिन्हें

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 02

‘साम्पू’, ‘संगियांग’, ‘अनाबाउ’ और ‘सेंगमे’ कहा जाता है।¹ सांस्कृतिक अवसरों पर पुरुष अक्सर पंखों से सजी टोपी और मनकों/कर्णफूलों के आभूषण धारण करते हैं।

स्थानीय आहार साधारणतः चावल आधारित है, बाँस के अंकुर, अचार, सूखा मांस, विशिष्ट चटनियाँ और जंगली खाद्य पदार्थ प्रचलित हैं। “अरुणाचल प्रदेश के लोग अपने भोजन में चावल, बाँस के अंकुर (कोंपल), पीके-पिल्ला (अचार), लुत्तर (पके हुए सूखे मांस और बड़ी लाल मिर्च या भूतजोलोकिया की फाँकों की मिलावट) और पेहक (एक मसालेदार चटनी, जो खमीरदार सोयाबीन और लाल मिर्च को पीसकर बनाई जाती है) लेते हैं। आपोंग (ज्वार-बाजरे या चावल की बीयर) एक लोकप्रिय पेय है, जो सामान्य रूप से सर्वत्र पिया जाता है।”² मांस (चिकन, सूअर) और मछली व्यापक रूप से खायी जाती हैं साथ ही स्थानीय जड़ी-बूटियाँ और मसाले (अदरक, इलायची आदि) का व्यापक उपयोग होता है।

जनजातीय विविधता के कारण अरुणाचल प्रदेश में वर्ष भर विभिन्न त्यौहार मनाये जाते हैं, सामुदायिक गीत-नृत्य व अनुष्ठान सामान्य हैं। “‘बुद्ध महोत्सव’ और ‘दावा सागा’ नामक दो बौद्ध महोत्सव राज्यभर में मनाए जाते हैं, जिनमें बौद्ध मठ और परंपरागत जनजातीय नृत्य और स्थानीय कलाकृतियाँ और खान-पान विशेष रूप से प्रस्तुत किए जाते हैं। ‘दिगारू’ और ‘तामलादू’ मिश्मी समुदाय द्वारा मनाया जाने वाला त्यौहार है। इसी प्रकार ‘संगेन’ एक बौद्ध उत्सव है, जो लोहित ज़िले में खामति समुदाय द्वारा मनाया जाता है। इसी दिन इस समुदाय का नव वर्ष प्रारंभ होता है।”³ ओजियाले, मोपिन आदि अन्य क्षेत्रीय पर्व कृषि, शीत या धार्मिक संदर्भों से जुड़े हैं। अरुणाचल प्रदेश में प्रत्येक जनजाति के अपने-अपने पर्व-त्यौहार हैं, इनमें तोंगा, लोसार, खिक्शाबा, दूबा, बूरीबूत, फंगलीन, चिदांग, बाई, सी-दोन्यी, इतोर आदि प्रसिद्ध हैं।

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 03

² वही, पृ. 04

³ वही, पृ. 04

लोक-नृत्य और संगीत यहाँ की सांस्कृतिक पहचान हैं, प्रत्येक जनजाति के विशिष्ट नृत्य, गीत और वाद्ययंत्र हैं। “यहाँ की प्रत्येक जनजाति का अपना पारंपरिक नृत्य होता है, जो सामान्यतः तीज-त्यौहार तथा शादी-विवाह के अवसरों पर प्रस्तुत किया जाता है। इन नृत्यों में से पोनुंग और पू नृत्य (आदी), निएची दोउ (हुसो), पक्कु-इतू (आपातानी), रिखमपदा (न्यीशी), इगु नृत्य (इदु मिशमी), सिंह एवं मयूर नृत्य और आझी ल्हामू मूकामिनय (मोनपा और शरदुकपेन), लोकूबवांग (नोकते), मोह उत्सव नृत्य (तांगसा) और ओजीले (वांचो) उल्लेखनीय हैं। इन नृत्यों के साथ निश्चित रूप से गीत और स्थानीय संगीत, वाद्ययंत्र, जैसे- गूगा (बाँस का बना तंत्रीय वाद्य) उजुक तापुआ (लौकी का बना सुशिर वाद्य) और सरकंडे की बनी बाँसुरी, जैसे- पूपे और तापू होते हैं।”¹ पोनु योक्षी और डफ/खोंग जैसे वाद्य धार्मिक व सामुदायिक अवसरों पर प्रयुक्त होते हैं।

अरुणाचल प्रदेश की हस्तशिल्प कला में बाँस और बेंत शिल्प का विशेष स्थान है। यहाँ के कारीगर बाँस और बेंत से टोकरी, चटाई, मछली पकड़ने के जाल, टोपी, फर्नीचर, बर्तन और कृषि उपकरण बनाते हैं। यह शिल्प न केवल सौंदर्यपूर्ण होता है, बल्कि दैनिक जीवन की आवश्यकताओं से भी जुड़ा होता है। “प्रदेश के हर भाग में लड़कियां परिवार की जरूरत के पारंपरिक वस्त्र घरों में ही बुन लेती हैं। पहले सूत तैयार कर लेती हैं, किंतु अब बाजार से रंगीन सूत खरीद लेती हैं। ट्राइसम योजनाओं के अंतर्गत लड़कियों को विभिन्न डिजाइनों के कपड़े बुनने का काम सिखाया जाता है। तवांग क्षेत्र तथा मियांव क्षेत्र में अच्छे ऊनी कालीन बुने जाते हैं। इस प्रदेश में काष्ठ पर आधारित उद्योग बहुत हैं। तवांग, नामसाई तथा खोंसा में लकड़ी की मूर्तियां और मुखौटे बनते हैं। बांस, बेंत के फर्नीचर, टोकरी सर्वत्र बनते हैं। बेंत के टोप बड़े सुंदर बनाये जाते हैं। चौइंखम में चेकदार लुंगी बनती है। बांस से पानी पीने के गिलास, चटाई आदि बनते हैं। गांवों में लोहे के दाव बनते हैं। तवांग क्षेत्र में लुगदी से धार्मिक मंत्रों के कागज बनते हैं।”²

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ.05

² प्रसाद, माता. (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. पृ. 144

शिक्षा और नई प्रौद्योगिकी के आगमन से पारंपरिक शिल्प और पारंपरिक तरीकों में परिवर्तन आया है, फिर भी नए उत्पादों ने बाजार में पहुँच बनाकर आय बढ़ाई है। “यहाँ मठ और प्राकृतिक सौंदर्य के स्थल भी सैलानियों को राज्य भ्रमण करने के लिए आकर्षित कर रहे हैं। सियांग नदी महोत्सव ऐसा ही एक आकर्षण है, जिसके फलस्वरूप राज्य में पर्यटन को बढ़ावा मिल रहा है। पहले यह महोत्सव तेजू और पासीघाट में ब्रह्मपुत्र दर्शन महोत्सव के रूप में मनाया जाता था। वर्ष 2005 से यह महोत्सव हर वर्ष दिसंबर माह में तूतिंग, इंकिओंग और पासीघाट आदि स्थलों पर सियांग नदी महोत्सव के रूप में मनाया जाने लगा है।”¹ पर्यटन के क्षेत्र में तीर्थ व ऐतिहासिक स्थलों में तवांग गोम्पा, मालिनीथान, भीष्मक नगर फोर्ट, तामरेश्वरी देवी मंदिर, भालुकपोंग और टिप्पी, पखुई अभयारण्य, परशुराम कुंड, नामदफा राष्ट्रीय उद्यान, विजयनगर स्तूप, बेंजीलीने आदि प्रसिद्ध हैं।

असम का सांस्कृतिक वैभव-

असम पूर्वोत्तर भारत का बड़ा और महत्वपूर्ण राज्य है। ऐतिहासिक रूप से इसे महाभारत काल में ‘प्रागज्योतिषपुर’ और बाद में ‘कामरूप’ कहा जाता था। “असम नाम के संबंध में दो विचार हैं। एक विचार यह कि यहां पर अहोम राजाओं का बहुत दिनों तक राज्य था। इसीलिए इसे ‘अहोम राज्य’ कहा जाने लगा, उसी से असम बना। दूसरा विचार यह कि असम का विस्तृत राज्य था, जिसमें बहुत बड़े मैदान और कहीं-कहीं पर्वत थे। इसीलिए यहां की भूमि असमान होने के कारण इसे ‘असम’ कहा जाने लगा।”² अहोम शासकों के बाद बर्मी शासन हुआ और 1826 की यंडाबू संधि के बाद अंग्रेज सत्ता में आए, अंततः यह भारत का भाग बना। असम का क्षेत्रफल लगभग 78,438 वर्ग कि.मी. है और यह मुख्यतः दो बड़ी घाटियों उत्तर में ब्रह्मपुत्र और दक्षिण में बराक तथा उनके बीच फैली पहाड़ियों (कार्बी, उत्तरी कछार, बरैल) से बना है, इसलिए इसे ‘लाल नदी और नीले पहाड़ का देश’ भी कहा जाता है।

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 07

² प्रसाद, माता. (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. पृ. 13

यह क्षेत्र सदियों से विविध जातीय और भाषिक समूहों का आवास रहा है- प्रमुख जनजातियां बोडो, मिसिंग, राभा, देवरी, तिवा, कछारी, कार्बी, हाजोंग, मेच तथा चाय-जनजातियां (चाय बागानों के श्रमिक समुदाय) और गैर-जनजातीय समूह जैसे कोच, अहोम, मोरान, बंगाली, नेपाली व मारवाड़ी आदि। इन सबका मेल ही आज की समृद्ध असमीया संस्कृति का आधार है। “राज्य की लगभग 65 प्रतिशत भूमि कृषि योग्य हैं, जिसमें पटसन, चाय, धान, कपास व तिलहन आदि उगाया जाता है। राज्य की कुछ भूमि बागवानी के लिए भी उपयुक्त है। यहां पर लगभग 17581 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र वनों के लिए आरक्षित है। इस राज्य को प्रकृति ने भी भरपूर समृद्धि प्रदान की है। यहां पर प्राकृतिक तेल, गैस, कोयला एवं अन्य खनिज पदार्थ भी भरपूर मात्रा में उपलब्ध हैं। यह राज्य प्राकृतिक तेल व गैस के कुल राष्ट्रीय उत्पादन का 50 प्रतिशत से भी अधिक उत्पन्न करता है। चाय उत्पादन में यह सबसे अग्रणी क्षेत्र है। भारत के चाय उत्पादन का 58 प्रतिशत तथा संसार का 30 प्रतिशत अकेले उत्पादन करता है। इसके अतिरिक्त यह भारत का 60 प्रतिशत प्लाईवुड तथा 30 प्रतिशत जूट उत्पन्न करता है।”¹

असमीया सर्वाधिक प्रचलित भाषा है और संपर्क-भाषा के रूप में भी पूर्णतः व्यवहृत है, इसके विकास में मागधी का योगदान माना जाता है और क्षेत्रीय बोलियों के पूर्वी, मध्य व पश्चिमी समूह पाए जाते हैं। यह भारत की प्रमुख 22 भाषाओं में शामिल एक शास्त्रीय भाषा है। “बोडो या ‘बोरो’ एक अन्य महत्वपूर्ण भाषा है, जो राज्य में बोली जाती है। बोडो, तिब्बती-बर्मी भाषा परिवार की एक भाषा है और यह अधिकतर बोडोलैंड टेरिटोरियल काउंसिल के अंतर्गत आने वाले इलाकों में बोली जाती है तथा यह वहाँ की आधिकारिक भाषा (सरकारी कामकाज की भाषा) के रूप में भी प्रचलित है। सन् 2009 में हुए भारतीय संविधान के 92वें संशोधन के द्वारा बोडो को देश की 22 अनुसूचित भाषाओं में भी शामिल किया गया है।”² बराक घाटी में बांग्ला व्यापक है और अन्य स्थानों पर दिमासा, मिशिंग, कार्बी, राभा, तीवा तथा ताइ-समूह की भाषाएँ भी बोली जाती हैं।

¹ मिश्र, सुरेश कुमार एवं मिश्र, आकाश. (2007). भारत के पूर्वोत्तर में उग्रवाद. पृ. 119

² भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ.09

असमीया भाषा प्राचीन साहित्यिक परंपरा वाली भाषा है। लोकगीत, वीरगाथाएँ, कहावतें और बौद्ध ग्रंथों में भी असमीया के प्राचीन स्वरूप मिलते हैं। हेमा सरस्वती का प्रह्लादचरित्र (13वीं सदी) असमीया साहित्य की पहली लिखित कृति मानी जाती है। 14वीं सदी में शंकरदेव व माधवदेव के योगदान से साहित्य को और बल मिला। आधुनिक युग में बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य, मामोनी रायसोम गोस्वामी (इंदिरा गोस्वामी) तथा होमेन बोगोहाई जैसे नाम प्रमुख हैं।

असम की वेश-भूषा परंपरागत और आकर्षक है। पुरुषों का परंपरागत धारण- धोती व गमछा, स्त्रियाँ मेखला-चादर पहनती हैं। आधुनिकता के कारण पुरुषों में पैंट-शर्ट भी प्रचलित हैं। बिहू जैसे उत्सवों पर मेखला (मूंगा रेशम) पहनी जाती है, विवाह में दुल्हनें पाट रेशम की मेखला व रिहा पहनती हैं। विभिन्न जनजातियों के विशेष वस्त्र जैसे मिशिंग का संपन/गालुक, कार्बी का पोहो/पिनिकैम्प्लक, देवरी का इगो राज्य की पोशाक विविधता दर्शाते हैं। असमीया गमछा या 'गामोसा' यहां की संस्कृति व अस्मिता की मुख्य पहचान है। सफेद कपड़े पर लाल धागे से की गई सुंदर कढ़ाईदार नक्काशी बड़ी मनमोहक लगती है, इसे भौगोलिक संकेत (GI tag) भी मिला है।

असमीया भोजन सरल और सुगंधित है, तेल-मसालों का कम प्रयोग होता है पर स्थानीय मसाले व्यापक हैं। चावल मुख्य भोजन है और दोनों निरामिष व सामिष व्यंजन लोकप्रिय हैं। प्रमुख व्यंजन पालंग साकर खार, भेंडिर सरसरी, माछर टेंगा, खार, आलू पिटिका, पातोत दिया माछ आदि। स्थानीय अचार, चटनियाँ और पिठा-समान (सुतुली पिठा, तिल पिठा, नारिकोल पिठा, सुंगु पिठा आदि) भी विस्तृत रूप से प्रयुक्त व लोकप्रिय हैं।

असम में अनेक उत्सव व मेले मनाए जाते हैं, सर्वाधिक महत्वपूर्ण है बिहू, जो वर्ष में तीन बार माघ (भोगाली), रंगाली (बोहाग) और काति (कंगाली) बिहू मनाया जाता है। "बिहू पर्व असमीया जाति की सांस्कृतिक पहचान है। यह प्राचीन मान्यताओं को प्रभावित करने वाला पर्व है। बिहू तीन प्रकार के होते हैं – कार्तिक बिहू, माघ बिहू और रंगाली बिहू। कार्तिक बिहू अक्टूबर के मध्य में, माघ बिहू जनवरी के मध्य में और रंगाली बिहू अप्रैल माह के मध्य में मनाया जाता है। यह स्मरण रखने की

बात है कि तीनों बिहू पर्व संक्रांति के अवसर पर मनाये जाते हैं, इनका संबंध फसलों से होता है।”¹ कामाख्या मंदिर का अंबुबाजी मेला असम का एक विशाल महोत्सव है, जिसमें देश भर के तंत्र साधक शामिल होते हैं। मान्यता है कि इस समय देवी रजस्वला होती है और इस दौरान तीन दिन तक मंदिर के कपाट बंद कर दिए जाते हैं। इसके अलावा अन्य त्यौहार जैसे, दुर्गा पूजा, काली पूजा, ईद, क्रिसमस आदि बड़े धूमधाम से मनाए जाते हैं। जनजातीय समाज में कर्म पूजा, पराग, महखेदा, बैशागू, बैखो, रोंकर, वांचुवा, सोगरा आदि प्रसिद्ध हैं।

“असम में प्रदर्शन कलाओं की एक समृद्ध परंपरा है।...जैसे अप्सरा नृत्य, शालि नृत्य, झुमरु और नाडु भंगी, भंगी (बोर-गीत के साथ) आदि के साथ-साथ बिहू (एक समूह नृत्य जो परंपरागत वेश-भूषा में सुसज्जित स्त्रियों और पुरुषों द्वारा स्वर और ताल एवं अनेक भाव-भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत किया जाता है।), बागुरुम्बा (बोडो समुदाय द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला समूह नृत्य), जूमर या झूमर आदि सभी कला रूप पहली श्रेणी में आते हैं। वहीं आदिवासियों द्वारा प्रस्तुत बागुरुम्बा बोडो नृत्य एक समूह और अन्य जनजातीय नृत्य, जैसे- मिशिंग समुदाय का ‘अलिआई-लिगांग’ और ‘पो-राग’, कार्बी समुदाय ‘बंजर-केकान’, ‘निमसों केरांग’ और ‘हच्चा केकान’, हाजोंग समुदाय का ‘जखमारा’ और ‘लेवाताना’, तीवा ‘संग्रामिसावा’ और ताइफ के समुदाय का ‘का-पाइ’, ‘का-पान’ समुदाय और ‘का-योन-कोंग’ आदि नृत्य दूसरी श्रेणी में आते हैं।”² इसके अतिरिक्त भारतीय शास्त्रीय नृत्य ‘सत्रीय’ असम का एक पारंपरिक नृत्य है। यह वैष्णव भक्तिमार्ग का एक नृत्य है जिसे श्रीमंत शंकरदेव ने विकसित किया था।

असम की दृश्यकलाएँ- चित्रकला, मूर्तिकला व मिट्टी के शिल्प पुरानी परंपराओं से परिपूर्ण हैं। अहोम काल की चित्र आकृतियाँ और मदन-कामदेव जैसे मंदिर स्थापत्य कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

¹ प्रसाद, माता. (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. पृ. 34

² भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ.14-15

धुबरी के आसारिकांडी मिट्टी व सोलापिथ के शिल्प व्यापक रूप से प्रसिद्ध हैं। मृण्मूर्तियाँ, मुखौटे और अन्य हस्तशिल्प पारंपरिक नृत्यों व उत्सवों में उपयोग होते हैं।

स्वतंत्रता के बाद असम ने राजनीतिक पुनर्निर्माण देखा, पर सांस्कृतिक विविधता बनी रही। राज्य ने संस्थागत संरक्षण व महोत्सवों के माध्यम से संस्कृति-संरक्षण पर बल दिया। ब्रह्मपुत्र महोत्सव, चाय महोत्सव, हाथी महोत्सव, देहिंग पटकाइ महोत्सव आदि पर्यटन व सांस्कृतिक उन्नयन में सहायक हैं। “ब्रह्मपुत्र महोत्सव प्रति वर्ष जनवरी माह में असम बोट रेसिंग और रोविंग एसोसिएशन द्वारा पर्यटन विभाग के सहयोग से गुवाहाटी में राज्य की पारंपरिक कलाओं तथा शिल्प को बढ़ावा देने के लिए मनाया जाता है। इस अवसर पर अनेक साहसिक खेल-कूद भी आयोजित किए जाते हैं साथ ही यह उत्सव नदी के किनारे रहने वाले लोगों को नदी के महत्त्व और तट संबंधी पर्यावरण प्रणाली से परिचित कराता है। इसी प्रकार पर्यटन विभाग प्रतिवर्ष नवंबर माह में चाय महोत्सव जोरहाट में आयोजित करता है, जिसका उद्देश्य राज्य की संस्कृति तथा अर्थव्यवस्था के प्रति विश्व स्तर पर लोगों का ध्यान आकर्षित करना है, क्योंकि यहाँ की अर्थव्यवस्था एवं संस्कृति काफ़ी हद तक चाय बागानों से जुड़ी है। दूसरी ओर हाथी महोत्सव प्रति वर्ष फ़रवरी माह में काजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान में आयोजित किया जाता है, जिसका उद्देश्य यह बताना है कि पर्यावरण प्रणाली में हाथियों के बीच उत्पन्न होने वाले संघर्ष को दोनों के हित में कैसे सुलझाया जाए।”¹

1985 के असम समझौते के बाद स्थापित शंकरदेव कला क्षेत्र जैसी संस्थाएं असमीया पहचान व विरासत के संरक्षण में सक्रिय हैं। तीर्थ स्थल और पर्यटन के क्षेत्र में कामाख्या मंदिर, पांडुनाथ मंदिर, माजुली, शिवसागर, उमानंदा, हाजो, काजीरंगा नेशनल पार्क, मानस अभ्यारण्य, बोरदुआ, हाफलोंग आदि प्रसिद्ध हैं।

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ.17

नागालैंड की लोकधर्मिता एवं संस्कृति-

ऐसा अनुमानित है कि 'नागालैंड' का उद्भव नागा भाषा के 'नकांची' या 'नागांची' से हुआ है। यह भी माना जाता है कि नागा जनजाति कई बार विस्थापित हुई और वह भारत के उत्तरी-पूर्वी इलाके में बस गई, जहाँ उन्होंने अपने विशिष्ट प्रभुत्व वाले पर्वतीय इलाके और गाँव बसाए। नागा संस्कृति बहुत हद तक पड़ोसी राज्य असम के अहोम साम्राज्य से मिलती-जुलती है। नागा जनजाति के समूह सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक रूप से असम और म्यांमार की जनजाति से जुड़े हुए थे। "सन् 1826 में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने नागालैंड पर कब्ज़ा कर लिया। अपने समाज को विस्तार देने के लिए उन दिनों नागा जनजातियाँ आपसी युद्ध में उलझकर परस्पर सिर काटने में लगी थीं या फिर धार्मिक समारोहों का जश्न मना रही थीं। ब्रिटिशों ने जनजातियों के आंतरिक मतभेदों और सिर काटने (हेड हंटिंग) की प्रथा को जबरन बंद करवाया। वर्ष 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय यह क्षेत्र सन् 1957 में असम का नागा हिल और त्वेनसंग सीमा दोनों मिलकर एक प्रशासनिक इकाई बन गया। 01 दिसंबर 1963 को आधिकारिक तौर पर इसे राज्य का दर्जा दिया गया।"¹

नागालैंड में 17 प्रमुख जनजातीय भाषाएँ पाई जाती हैं। "सभी जनजातियों की अपनी-अपनी अलग भाषाएँ हैं। यहां की भाषा तिब्बती-बर्मी परिवार की मानी जाती है। यह तीन भागों में बँटी है। पश्चिमी उपसमूह, मध्य देशीय उपसमूह और पूर्वी उपसमूह। पश्चिमी उपसमूह के अंतर्गत अंगामी, सेमा, रेंमा और चाखेसांग बोलियाँ हैं। मध्य समूह में आओ, लोथा और फोम बोलियाँ और पूर्वी समूह में चांग कोयनक तथा अन्य बोलियाँ हैं।"² सुमी, लोथा, सांगताम, अंगामी, पोचुरी, फोम, आओ, माओ, इनपुई, रोंगमेई, पोमेई, तांगखुल, थांगल, मराम और ज़ेमे शामिल हैं। इन जनजातियों के भीतर अनेक उप बोलियाँ भी हैं, जिससे अंतःजनजातीय संवाद जटिल होता है, इसीलिए अंग्रेज़ी यहाँ संपर्क-भाषा बन

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 126

² प्रसाद, माता. (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. पृ. 59

चुकी है और 1967 में इसे अध्ययन/आधिकारिक भाषा के रूप में मान्यता मिली। कुछ स्थानों पर मिश्रित बोलियाँ (किओल) भी प्रयुक्त होती हैं।

“नागा लोगों में शाल प्रमुख पोशाक है। जाति-जाति और समुदाय में इसका रंग या डिजाइन अलग-अलग होता है। योद्धा और साधारण लोगों की शाल में भी अंतर होता है। अंगामी लोगों के शाल का रूप लोहे कहलाने वाले काले कपड़े पर लाल-पीली पट्टियाँ। अब पीली की जगह हरी पट्टियाँ हो गई हैं। लोथा लोगों की शाल से 'गिनो' कर चुकने का प्रतीक माना जाता है। मिथुन प्रतीक शाल ओढ़ने वाला संपत्ति वाला होता है। यह हाथी, बाघ मारने वाला या नरमुंड शिकार का प्रतीक माना जाता है।”¹ अंगामी समूह लाल-पीले रंगों का प्रयोग करता है और कुछ समूहों में काले कपड़े पर हरी पट्टी ('लोहे') प्रचलित हुई है। आजकल पारंपरिक परिधान त्यौहारों/समारोहों तक सीमित दिखाई देते हैं।

नागालैंड का साधारण भोजन चावल, सब्जी और मांस है। बाँस की कोंपल और किण्वित/सूखे बाँस के पकवान व्यापक रूप से उपयोग होते हैं। प्रमुख व्यंजन में अक्सोन (सूअर के मांस/सूखी मछली सहित), समान्थ (मिर्च-चूर्णयुक्त गाढ़ी कढ़ी), किण्वित सोयाबीन, अनीशी, अक्सोनी केक आदि शामिल हैं। कुछ समुदाय बश्मीट/कुत्ते के मांस का भी उपभोग करते हैं।

नागालैंड की जनजातियाँ कृषि-आधारित त्यौहार मनाती हैं, जिनमें नाजू (बीज बोने से पहले), मौत्सू (आओ जनजाति का मई महोत्सव), अमोंगमोंग प्रमुख हैं। “नागा जातियों के अधिकतर पर्व-त्यौहार कृषि संबंधी कार्यों से संबंधित हैं। आओ जनजाति का सबसे बड़ा त्यौहार मोआत्सू है, जो बुवाई का काम पूरा होने पर छह दिनों तक मनाया जाता है। अंगामी लोगों का प्रमुख त्यौहार सेक्रेन्यो है। यह सबके स्वास्थ्य के लिए मनाया जाता है। चावल की मदिगा, गाय, सूअर का मांस खाया-पिया जाता है। इसमें पुरुष को एक अलग चूल्हा बनाना पड़ता है और उसके पहले वाले दो दिन पति-पत्नी अलग-अलग सोते हैं। चाखेसांग लोगों का 'खिलून्धि' और रेग्भा लोगों का 'न्गादा' दोनों ही पर्व फसल कटने

¹ प्रसाद, माता. (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. पृ. 59

के पूर्व मनाये जाते हैं। त्यौहार में पूरी बिरादरी एकसाथ भाग लेती है।”¹ नागालैंड की पारंपरिक विरासत को बढ़ावा देने के लिए राज्य सरकार द्वारा सन् 2000 से हॉर्नबिल फेस्टिवल आयोजित किया जा रहा है, 01-10 दिसंबर तक चलने वाला यह पारंपरिक संस्कृति और जनजातीय संवाद बढ़ाने वाला प्रमुख कार्यक्रम है।

नृत्य, संगीत और शिल्प नागालैंड की सांस्कृतिक आत्मा हैं। प्रत्येक जनजाति के विशिष्ट नृत्य हैं जो धार्मिक, कृषि और सामाजिक अवसरों पर प्रस्तुत होते हैं- अलायडू, अगुरशिकुकुला, तितली नृत्य, चंगई, कुकी आदि अनेक नृत्य प्रचलित हैं। नृत्यों में सामूहिक प्रस्तुति, तालबद्ध गायन और पारंपरिक वाद्यों (ताती, ठेकु, असेम, जेमिजी, बाँसुरी आदि) का उपयोग होता है। पारंपरिक-धार्मिक गीतों के साथ-साथ गोस्पेल/रॉक संगीत भी युवा वर्ग में लोकप्रिय हैं। “इनकी मुख्य हस्तकला काठ पर नक्काशी, बांस का काम, मिट्टी के बर्तन और लोहे की विभिन्न वस्तुएं बनाना है। काठ की सर्वोत्तम दस्तकारी गांव के मोरंग किसी अमीर या योद्धा के घरों पर होती है। मिथुन के सिर, हार्न बिल के चोंच, पक्षी, मानव मुंड, हाथी, बाघ की आकृतियों पर नक्काशी की जाती है। मिथुन को संपत्ति का, हार्न बिल को पराक्रम का, मानव मुंड, हाथी, बाघ आदि को शक्ति का प्रतीक माना जाता है। कोयनक इलाके में खजुराहो जैसी नक्काशी है। बांस और बेंत से अच्छी टोकरियां बनती हैं। इन्हें पीठ पर लादकर इनमें सामान रखकर ढोते हैं। बांस की चटाइयों की ढाल भी बनती है। चांग लोग बांस के प्याले और पानी लाने के पात्र भी बनाते हैं। प्रतिदिन काम आने वाली कुल्हाड़ी, दाव, चाकू, भाले की नोक बनाये जाते हैं। नित काम आने वाले मिट्टी के बर्तन बनते हैं। नाल से भरी जाने वाली बंदूक भी बनती है। मिट्टी के बर्तन स्त्रियां ही हाथ से बनाती हैं।”² युवा पीढ़ी शिक्षा व तकनीक में प्रगति कर रही है, परंपरागत कला को आधुनिक मांग के अनुरूप पुनराविष्कार और व्यवसायिक रूप दिया जा रहा है। सरकार कौशल-

¹ प्रसाद, माता. (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. पृ. 59

² वही, पृ. 60

प्रशिक्षण तथा उद्यमिता को बढ़ावा देती है, खेल, साहसिक गतिविधियाँ व पर्यटन को भी प्रोत्साहन मिलता है।

“नागालैंड की तीखी चोटियाँ, सघन बादल और कोहरे से आच्छादित हवाएँ नितांत खुशनुमा वातावरण बनाते हैं। खूबसूरत प्राकृतिक छटाएँ और शानदार सूर्योदय और सूर्यास्त इसे एक उत्तम दर्शनीय और रोमांचक स्थान बनाते हैं, जो साल भर सैलानियों को अपनी ओर आकर्षित करता है। यहाँ कुछ प्रमुख दर्शनीय स्थल हैं- जपफू पीक, शिल्लोई लेक, खोनामा विलेज और किसामा हेरिटेज विलेज, राज्य संग्रहालय, कोहिमा जू, इनटांकी वन्यजीव अभ्यारण्य, द्वितीय विश्वयुद्ध के कब्रिस्तान आदि।”¹

लोकधर्मी मणिपुर-

मणिपुर का शाब्दिक अर्थ ‘मणियों का देश’ है। यह भारत के उत्तर-पूर्व में स्थित एक छोटा, सुंदर राज्य है। इसकी सीमाएँ नागालैंड, असम, मिज़ोरम तथा पूर्व व दक्षिण में म्यांमार से मिलती हैं। मणिपुर का अधिक भाग पर्वतीय है, कुल क्षेत्रफल 22,327 वर्ग किलोमीटर में से लगभग 20,126 वर्ग किलोमीटर पहाड़ी क्षेत्र है। भौगोलिक रूप से यह दो भागों- इंफाल घाटी (मैदानी) और उसे घेरे हुए पहाड़ी क्षेत्र में विभक्त है। घाटी में रहने वाले मेतेई (मुख्यतः हिंदू) और पहाड़ियों पर कई जनजातियाँ निवास करती हैं। भाषिक दृष्टि से जनजातियाँ नागा-बोडो, पूर्वी नागा व कुकी-चीनी समूहों में विभक्त हैं।

अर्थव्यवस्था की दृष्टि से मणिपुर कृषि प्रमुख राज्य है। यहाँ की लगभग 70% जनसंख्या कृषि व उससे जुड़ी गतिविधियों पर निर्भर है। लोकतक झील (उत्तर-पूर्व की सबसे बड़ी ताजा झील) इंफाल घाटी का मुख्य जल स्रोत है और यहां के तैरते दलदल (फुमड़ी) विख्यात हैं। “खेती ही इनकी जीविका का मुख्य आधार है। यह झूम खेती करते हैं, जिसमें पर्वतों के वनों को जलाकर साफ कर कुछ वर्ष खेती

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ.131

करके उस भूमि को बदलते रहते हैं। धान ही यहां की मुख्य उपज है। धान के अतिरिक्त मक्का, ज्वार, दालें, मोटा अनाज आदि की खेती भी करते हैं। गन्ना, आलू की पैदावार भी की जा रही है।”¹ मणिपुर की पहाड़ियाँ अब्धुत वनस्पति (विशेषकर आर्किड) और जैव विविधता के लिए प्रसिद्ध हैं, सिरोंय कमलिनी (राज्य पुष्प) इसका उदाहरण है। “इस क्षेत्र में तांबा तथा निकिल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। लिग्नाइट, खड़िया मिट्टी, डोलोमाइट और एस्बेस्टस आदि खनिज पदार्थों की मिलने की संभावना है। औद्योगिक दृष्टि से यह राज्य अत्यंत पिछड़ा हुआ है। औद्योगीकरण के इस क्षेत्र में निरंतर प्रयास जारी हैं।”² मणिपुरी (मेतेइलोन्) राज्य की आधिकारिक भाषा है। यह सभी समुदायों में संपर्क भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है और शिक्षा का माध्यम भी है। अन्य स्थानीय बोलियाँ (काकचिंग, सेकमाई आदि) उपस्थित हैं।

प्रारंभिक मणिपुरी साहित्य अनुष्ठान, खगोलविद्या व इतिहास आधारित लोककथाओं में पाया जाता है। “मणिपुरी में लेखन का सुनिश्चित इतिहास 11वीं शताब्दी से उपलब्ध होता है। लोईम्बा शीनयेन अथवा मणिपुर का संविधान (मेईत्राबाक) इसी दौर में लिखा गया। मेडिंगु थंगवाइ निंगथौबा (1467-1508) से लेकर मेईडिंग बोधचंद्र के साम्राज्य तक के चीथरोन कुंपबा, यानी शाही इतिवृत्त (ऐतिहासिक दस्तावेज़) भी मणिपुरी भाषा में समृद्ध साहित्यिक परंपरा के प्रमाण हैं। इस लंबे काल में 18वीं शताब्दी में एक नया मोड़ तब आया, जब वैष्णव धर्म को राजा मेईडिंगु पामहेबा (1709-1748) के शाही संरक्षण में प्रमुख स्थान मिला और इससे राज्य के साहित्य में वृद्धि हुई। इसके बाद अंग्रेज़ी शासन के साथ ही 19वीं शताब्दी में बंगाली लिपि आई, जिसे मणिपुरी लिखने के लिए अपनाया गया। विविध विषयों पर पत्र पत्रिकाएँ तथा समाचार-पत्र भी इस काल में खूब फले-फूले। तब से लेकर जिन मणिपुरी लेखकों ने नाम कमाया है, उनमें आरामबम दोरेंद्रजित सिंह, लाइशराम समरेन्द्र सिंह, एच गुणो

¹ प्रसाद, माता. (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. पृ. 87

² मिश्र, सुरेश कुमार एवं मिश्र, आकाश. (2007). भारत के पूर्वोत्तर में उग्रवाद. पृ. 185

सिंह तथा पाचा मीतेई के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।¹ वैष्णव धर्म के संरक्षण से 18वीं सदी में साहित्य को नया बल मिला, अंग्रेजी शासन के समय बंगाली लिपि अपनाई गई।

मणिपुरी परिधान विविध और अवसर-विशेष होते हैं। नारी परिधानों में इनाफी, फानेक, माएक नईबी, कनाप फानेक, लाई फाई, चिन फाई इत्यादि प्रमुख हैं। पुरुषों का पारंपरिक परिधान सरल जाकेट, पगड़ी, धोती/फेईजोम है, विशेष अवसरों पर खामेन चापटा आदि पहना जाता है। “मणिपुरी भोजन में चावल, सब्जियाँ, सलाद, सूप, रसेदार सब्जी, मछली तथा मांस शामिल होता है। इन्हें अधिकतर उबालकर अथवा भाप से पकाया जाता है, क्योंकि तेल का प्रयोग कम ही किया जाता है। लाल मिर्च इन सभी के साथ, सभी की पसंद है। मणिपुर की उमरोक लाल मिर्च विशेष रूप से लोकप्रिय है। इसके अलावा कई और जड़ी बूटियाँ, जैसे- मरोई ता (जड़ी बूटी का समूह), नकुपि (लहसुन के पत्ते), सड़िगोम (धनिया के पत्ते), मयंगमटोन (तुलसी), नंगासी हीड्क (पोदीना), भी खाने में प्रयुक्त किए जाते हैं।² स्थानीय जड़ी-बूटियाँ और हर्ब्स व्यापक प्रयोग में हैं। उगाई हुई हरी-बॉक आदि स्वाद व सुगंध के लिए प्रयुक्त होते हैं।

मणिपुर में महीने-दर-महीने त्यौहार मिलेंगे, ये सामाजिक जीवन में उत्सव व मिलन के अवसर होते हैं। बहुत से महत्वपूर्ण उत्सवों में वाकचिंग (दिसंबर-जनवरी, काबुई नागा), लुई-नगाई-नी (बीज रोपण, फ़रवरी), चुमफा (थंगल नागा का कटाई उत्सव), कुट (पहाड़ों/कुकी-मिज़ो- पहाड़ी आभार उत्सव, नवंबर), सानामाही चेंग होंगबा (इंगा माह की पूर्णिमा पर सानामाही देवता की आराधना), निंगोल छौक्कोबा (मैतेई सामाजिक उत्सव), हियांग तन्नाबा (नौका दौड़) एवं अन्य अनेक पर्व आते हैं।

मणिपुर नृत्य व संगीत में विशिष्ट है, पुरुष व स्त्री प्रमुख नर्तक माइबा/माइबी कहलाते हैं। लाई हरोबा (शौर्य-नृत्य), खांबा थोईबी (जोड़ीय नृत्य), रासलीला (मणिपुरी शास्त्रीय नृत्य- राधा-कृष्ण),

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 157

² वही, पृ. 158

तथा अन्य लोकप्रिय नृत्य- थाबल चोंगबा, काबुई नागा नृत्य, टंडन फेचक्क आदि राज्य की सांस्कृतिक पहचान हैं। इन नृत्यों में पारंपरिक वाद्य (पुंग/मृदंग आदि) व सुव्यवस्थित परिधान का महत्त्व है।

मणिपुर की वास्तुकला (श्रीगोविंदजी मंदिर, शंक्वाकर विष्णु मंदिर), शिल्प और स्मारक ऐतिहासिक व सांस्कृतिक महत्त्व रखते हैं। सेकता टीला जैसे पुरातात्विक स्थल भी दर्शनीय हैं। बाँस उत्पादन में मणिपुर का अहम स्थान है- टोकरियाँ, चटाइयाँ, फर्नीचर आदि बनते हैं। इंफाल घाटी कौना शिल्प (दोहरी बुनाई वाली चटाई-‘कौनाफाक’) के लिए प्रसिद्ध है। बुनाई (लाइचांफी), लकड़ी की नक्काशी, मिट्टी व बाँस की खिलौने व घरेलू वस्तुएँ विस्तृत हैं। कढ़ाई व पारंपरिक डिज़ाइन वाले वस्त्र लोकप्रिय हैं। राज्य खेलों (खुमन लामपाक) में सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाएँ देता है, सगोल कंगजेइ (पोलो) विश्व-प्रसिद्ध हुआ। संस्कृति-पर्यटन और हस्तशिल्प के मेल से आर्थिक व सामाजिक प्रगति हो रही है, सांस्कृतिक केंद्र (अन्ड्रोनगर) में 34 जनजातियों के कलात्मक कार्य प्रदर्शित होते हैं। युवा पीढ़ी परंपरा व आधुनिकता का मिश्रण कर रही है, जिससे परंपराओं का संरक्षण व प्रचार-प्रसार दोनों संभव हो रहे हैं।

मिज़ोरम की लोक विरासत-

मिज़ोरम का शाब्दिक अर्थ ‘पहाड़ी लोगों की भूमि’ है। इसे 20 फरवरी 1987 को राज्य का दर्जा प्राप्त हुआ। राज्य म्यांमार से दक्षिण-पूर्व तथा बांग्लादेश से पश्चिम में लंबी सीमा साझा करता है, भारत के भीतर त्रिपुरा, असम और मणिपुर से भी इसकी सीमाएँ मिलती हैं। कुल क्षेत्रफल लगभग 21,087 वर्ग किलोमीटर है और 2011 की जनगणना के अनुसार जनसंख्या लगभग 10.97 लाख है, इस प्रकार यह जनसंख्या घनत्व में कम राज्यों में से एक है। हरे-भरे प्राकृतिक जंगल, झरने, झीलें और लगभग 21 पहाड़ी श्रृंखलाएँ मिज़ोरम की भूमि व उसे जैव-विविधता तथा बागवानी के लिए उपयुक्त बनाती हैं। थ्वांग और कोलोद्यन नदियाँ जल स्रोत मुहैया कराती हैं और राज्य की लगभग 70% आबादी बागवानी, फूल-फसल और कृषि पर निर्भर है।

“मिज़ोरम की संस्कृति मिज़ो समुदाय की पारंपरिक संस्कृति और समसामयिक जीवन-शैली को दर्शाती है। मिज़ो का शाब्दिक अर्थ है- पर्वतीय जन। यह एक सामान्य शब्द है, जो अनेक जनजातियों तथा उपजनजातियों को संबोधित करता है। इन जनजातियों में से प्रमुख हैं- लुशाई, राल्ते, ह्यार, पाइते और पाव्ला। इनके अतिरिक्त मिज़ोरम में अन्य जनजातीय समुदाय, जैसे- ठोड़े, कुकी, लखेर भी रहते हैं, जो सांस्कृतिक रूप से मिज़ो समुदाय से मिलते-जुलते हैं।”¹ मिज़ो समाज में हनत्लांग (साथ काम करना) एक महत्वपूर्ण सामाजिक मूल्य है, जो सहयोग और समतावाद को बढ़ाता है। ‘जॉल्बुक’ जैसे सामुदायिक आवास युवा-शिक्षा व सामाजिक प्रशिक्षण का केंद्र होते हैं। मिज़ोरम में पहले झूम खेती अधिक होती थी, किंतु अब यहां पर्वतीय अंचलों में छोटे-छोटे क्षेत्रों (प्लाटों) में खेती होती है। “यहां की मुख्य फसल धान है। दालें, फूलगोभी, पत्ता गोभी, आलू तथा अदरक की पैदावार भी होती है। इसके अतिरिक्त गन्ना, साबूदाना, तथा मक्का भी पैदा करने का प्रयास हो रहा है। कॉफी, कोको, रबर, इलायची तथा काजू पैदा किए जाने को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।”²

“मिज़ो लोग घरेलू उद्योग-धंधे में बड़े कुशल होते हैं। ये अपने उपयोग के लिए बांस या बेंत के पतले तार से टोकरियां बुनते हैं। इनकी टोपी भी बड़ी सुंदर होती है। टोकरियां सामान उठाने, रखने और ढुलाई के काम आती हैं। स्त्रियां खाना पकाने या चावल की शराब रखने के लिए मिट्टी के तरह-तरह के बर्तन बनाती हैं। लोहे के बर्तन लुहार बनाते हैं। इसी प्रकार यहाँ हथकरघा उद्योग भी काफी प्रगति में है।”³

मिज़ोरम की भाषाई संपदा बहुआयामी है, यहां कई समुदायों की जनजातीय बोली प्रचलित हैं। “लुशाई के नाम से भी जानी जाने वाली मिज़ो भाषा, मिज़ोरम की आधिकारिक भाषा है। यह यहाँ के

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 183-184

² प्रसाद, माता. (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. पृ. 190

³ मिश्र, सुरेश कुमार एवं मिश्र, आकाश. (2007). भारत के पूर्वोत्तर में उग्रवाद. पृ. 241-242

बहुसंख्यक लोगों द्वारा बोली जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी में ईसाई मिशनरियों ने इस भाषा को रोमन लिपि में लिखना प्रारंभ किया था। तब से ही राज्य में यह औपचारिक शिक्षा का माध्यम बन गई है।¹

मिज़ो भाषा का साहित्य रोमन लिपि अपनाने के बाद विकसित हुआ, पहली पुस्तक 1896 में प्रकाशित हुई। प्रमुख साहित्यकारों में थंगलियाना, लेंगखाया, अवैथान्गपा, च. पसेना और चाँगज़िक शामिल हैं। धार्मिक व आध्यात्मिक गीतों का भी समृद्ध भंडार है। कई मिज़ो साहित्यकारों को राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान भी प्राप्त हुआ है।

मिज़ोरम की पारंपरिक वेश-भूषा रंगीन और जटिल डिज़ाइन वाली है। महिलाएँ पारंपरिक पुआन, कवरेची तथा अन्य हस्तनिर्मित वस्त्र पहनती हैं, पुरुष सामान्यतः सफेद कोट व लंबा कपड़ा पहनते हैं। विवाह व समारोहों पर विशेष पारंपरिक परिधान प्रचलित हैं। मिज़ो भोजन में मांसप्रधान व्यंजन सामान्य हैं, बाँस की कोंपल व्यापक प्रयोग में है और बत्तख का मांस प्रिय है। प्रमुख व्यंजन बाई, वॉक्सा रैप, साच्छेअर, सानपिउ, मिसा माच पूरा आदि हैं। पेय में ब्रुस्का (अंगूर का रस) और ज़ू (चाय) लोकप्रिय हैं।

मिज़ोरम के अधिकतर पारंपरिक मेले और त्यौहार कृषि संबंधी गतिविधियों के इर्द-गिर्द ही बुने गए हैं। चापचर कुट (फसल कटने के बाद) और अन्य आभार-उत्सव बड़े हर्षोल्लास से मनाए जाते हैं, क्रिसमस भी व्यापक रूप से मनाया जाता है। यहां नृत्य-संगीत त्यौहार के अभिन्न अंग हैं। मिज़ोरम की लोकनृत्य-परंपरा समृद्ध है- चेरॉव, छेह लाम, सोलाकिया, चाई लाम, पार लाम आदि प्रमुख नृत्य हैं, इनमें ढोल-घंटे, बाँस-नली और सामूहिक गायन का प्रयोग होता है। नृत्यों में प्रकृति, शिकार व सामाजिक रसिकता की झलक मिलती है।

मिज़ो भिन्न-भिन्न प्रकार के लोकगीत गाते हैं। 'बाव हला' विजयी योद्धा की चीख को प्रस्तुत करता है, वहीं 'हलादू' सफल शिकारी की चीख को प्रस्तुत करता है। प्रेम, शिकार और आनुष्ठानिक गीतों की समृद्ध परंपरा है। प्रेम-गीत 'लेंगज़ेम जाई' और समापन गीत 'पाई पाल हला' जैसे गीत भी

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ.184

लोकप्रिय है। बांस, बेंत, लकड़ी और पत्तों से बने वस्त्र व उपयोगी सामग्रियाँ- टोकरियाँ, चटाइयाँ, शॉल, जैकेट आदि विशेष लोकप्रिय हैं। आभूषणों में मनके, पत्थर, कभी-कभी बाघ के दाँत आदि प्रयुक्त होते हैं, जो कुछ रीति-रिवाज सामाजिक संदेश व्यक्त करते हैं।

“मिज़ोरम की राजधानी आइज़ोल रमणीय पहाड़ों के बीच बसा सांस्कृतिक शहर है। इसे हाइलैंडर (पर्वत निवासी) का घर कहा जाता है। म्यांमार की सीमा पर चम्फाई एक खूबसूरत रिजार्ट है। यह प्राचीन अवशेषों और स्मारकों का भी घर है, जबकि यहाँ-वहाँ अंगूर के बाग और कीवी की खेती बहुतायत में होने के कारण इसे ‘मिज़ोरम की फलों की टोकरी’ भी कहा जाता है।”¹ पर्यटकों के आकर्षण के लिए यहाँ कई अन्य स्थान हैं, जो इस राज्य को उत्तर-पूर्व का लोकप्रिय पर्यटन स्थल बनाते हैं। पर्यटन बुनियादी ढांचे, ठहरने की जगहें, रेस्तराँ और पिकनिक स्थल बढ़ाए जा रहे हैं ताकि राज्य की प्राकृतिक व सांस्कृतिक संपदा का लाभ उठाया जा सके।

मेघालय का सांस्कृतिक लोकवृत्त-

“मेघालय दो शब्दों का समूह है, मेघ अर्थात् बादल तथा आलय, यानी घर। जिसका अभिप्राय है- ‘बादलों का घर’, इसका नामकरण कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक डॉ. एस.पी.चटर्जी द्वारा किया गया था। यह राज्य सर्वाधिक वर्षा वाला राज्य है। नव पाषाण युग के पुरातात्विक साक्ष्य प्राचीन काल से ही मेघालय में मानव की उपस्थिति के प्रमाण उपलब्ध करते हैं। मेघालय की समृद्ध सांस्कृतिक विविधता मुख्यतः राज्य के तीन निवासी समूहों - खासी, जयंतिया तथा गारो जनजातीय समूहों द्वारा निर्मित है। वर्तमान में खासी राज्य के मध्य भाग में रहते हैं, जबकि जयंतिया और गारो क्रमशः पूर्वी और पश्चिमी हिस्सों में रहते हैं। आधुनिक काल में मेघालय सन् 1872 में अंग्रेजों के अधीन आया था। उन्होंने इसका मुख्यालय चेरापूँजी में स्थापित किया, परंतु बाद में इसे शिलांग ले गए। जब असम को छोड़ समस्त पूर्वोत्तर ‘नेफा’ कहलाता था, तब नेफा का मुख्यालय शिलांग ही था।

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 188

स्वाधीनता के उपरांत मेघालय में दो ही जिले थे तथा यह असम राज्य का ही एक भाग था। 1960 से ही पर्वतीय इलाकों के लिए एक अलग राज्य की माँग पर भारतीय संसद के अधिनियम द्वारा 21 फ़रवरी, 1972 को इसे एक पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया और शिलांग इसकी राजधानी बनाई गई।¹ मेघालय एक पर्वतीय राज्य है (कुल क्षेत्रफल 22,429 वर्ग कि.मी.)। उत्तर व पूर्व में असम, दक्षिण व पश्चिम में बांग्लादेश की सीमाएँ हैं। माऊसिनराम व चेरापूँजी अत्यधिक वर्षा के लिए प्रसिद्ध हैं, शिलांग को 'पूर्व का स्कॉटलैंड' कहा जाता है।

“मेघालय के तीन मुख्य जनजातीय समूह- खासी, गारो तथा जयंतिया हैं। सांस्कृतिक रूप से भिन्नता रखते हुए भी मातृवंशीय समाज हैं। खासी और जयंतिया को सामूहिक रूप से ‘हानियुट्रेप’ भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है, ‘सात झोंपड़ों के बच्चे’। मूलतः ये शायद मोन- ख्मेर औस्ट्रो एशियन वंश से संबंधित हैं, जबकि गारो, तिब्बती-बर्मी मूल वंश से संबंध रखते हैं। इनके अलावा अनेक दूसरे छोटे जातीय समूह जैसे कि लालुंग, मिज़ो- बाइटे, कार्बी, बोडो, कोचे, हाजोंग, राभा तथा डालू भी राज्य में बसते हैं।”² सामाजिक रूप से मेघालय की जनजातियाँ मातृसत्ता पर आधारित हैं, सांस्कृतिक विविधता के बावजूद सामाजिक व सामुदायिक रीति-रिवाज़ और त्यौहार यहाँ की मुख्य पहचान हैं।

राज्य की आधिकारिक भाषा अंग्रेज़ी है, परंतु जनजातीय भाषाएँ- खासी, जयंतिया तथा गारो व्यापक रूप से बोली जाती हैं। खासी व जयंतिया भाषाएँ मोन-ख्मेर (आस्ट्रो-एशियाटिक) परिवार से मानी जाती हैं, गारो तिब्बती-बर्मी (बोडो-गारो शाखा) से संबंधित है। इन भाषाओं की अनेक उप बोलियाँ हैं और प्रवास व व्यापार के कारण हिंदी, अंग्रेज़ी, बंगला, असमिया, नेपाली, मारवाड़ी आदि का भी प्रचलन बढ़ा है।

खासी, जयंतिया व गारो समूहों की पारंपरिक वेश-भूषा समृद्ध है। “इनकी वेश-भूषा दो प्रकार की होती है- एक प्राचीन, दूसरी नवीन। प्राचीन वेश-भूषा बिना बांह का लंबा कोट जिसे जिस्फोंग कहते

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ.189

² वही, पृ.189

हैं। इसे बड़े-बूढ़े लोग पहनते हैं। सिर पर कानदार टोपी या पगड़ी बांधी जाती है। कभी लाल या काली ऊंची टोपी पहनने का भी रिवाज है। यह अधिकतर त्यौहारों पर पहनी जाती है। औरतें घुटने तक लंबी जैम्पीन (लुंगी) बांधती हैं। इसके ऊपर कपड़े की लंबी जैम्पीन बांधती हैं, इसे कंधे पर दोनों ओर गांठ बांधकर लटकाया जाता है। इसके ऊपर एक और चादर सा कपड़ा होता है, जिसे जेनकुप कहते हैं। यह सामने गांठ में बंधा रहता है। काजेन्सम में जेब के समान सलवटे होती हैं।¹ खासी महिलाओं के जैनपिएन, सोपति कटी, मुगा व सोने-चाँदी के आभूषण, जयंतिया के जैनपेन व मखमली ब्लाउज़, गारो के डक्मंडा, रिक्किंग व पगड़ी ये सभी सांस्कृतिक पहचान के प्रतीक हैं। आजकल ये परिधान मुख्यतः सांस्कृतिक उत्सवों व नृत्यों में पहने जाते हैं।

“जयंतिया और खासी लोगों का खान-पान लगभग एक जैसा ही है। इसमें मुख्यतः चावल तथा साथ में कुछ अन्य व्यंजन होते हैं। इनमें चावल (जा) तथा मांस (दोह) को प्याज़ के टुकड़ों को हल्दी तथा नमक के साथ पकाया जाता है, यह इनका पसंदीदा पकवान है। इसे ‘जादोह’ कहा जाता है। जब चावल पककर तैयार हो जाते हैं तो उनमें स्वाद और खुशबू के लिए पिसी अदरक मिला दी जाती है।”² दोहखलेह, पुमलोई, पुथरों, पुखलेन, पू मिठाई और गारो समुदाय में बाँस की कोंपलें व कलची जैसे व्यंजन लोकप्रिय हैं।

मेघालय के लोग स्थानीय और राष्ट्रीय सभी त्यौहारों को समान श्रद्धा और उत्साह के साथ मनाते हैं। यहाँ के उत्सव धार्मिक आस्था, प्रकृति-पूजन और सामुदायिक जीवन से गहराई से जुड़े हैं। खासी समुदाय का प्रमुख पारंपरिक उत्सव काशाद नोक्रेम (या का पोम्ब्लंग नोक्रेम) है। यह वार्षिक उत्सव प्रायः नवंबर माह में पूर्वी खासी पर्वतीय जिले के स्मिट गाँव में हिमा खिरिम के पारंपरिक मुखिया के निवास पर पाँच दिनों तक मनाया जाता है। इस उत्सव का उद्देश्य पूर्वजों के प्रति सम्मान प्रकट करना, अच्छी फसल की कामना करना तथा हिमा सिलोंग और उसके निवासियों के कल्याण

¹ प्रसाद, माता. (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. पृ. 106

² भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 191

एवं समृद्धि के लिए ईश्वर से प्रार्थना करना है। इसके अलावा राज्य में ‘का शाद सुक मिन्सियम’, ‘बेह-डीन-खलाम’, ‘चाड सुक्र’, ‘चाड फलांग’, ‘वंगाला’ आदि नृत्य काफी प्रचलित हैं।

मेघालय बेंत व बाँस के हस्तशिल्प, टोकरियाँ, चटाइयाँ, पगड़ी, बर्तन एवं पारंपरिक गहनों के लिए विख्यात है। खासी लोग त्लेंग (विशेष प्रकार बेंत की चटाई) तथा मेघम खोक (कलात्मक टोकरियाँ) बनाने के लिए विशेष रूप से जाने जाते हैं। गारो लोग बड़ी आकर्षक चादरें और मेज़पोश बनाते हैं। जयंतिया और खासी सोने और चाँदी के कई प्रकार के गहने भी बनाते हैं। ये हस्तशिल्प स्थानीय जीवन व त्यौहारों से जुड़े हुए हैं और पर्यटन व अर्थव्यवस्था में योगदान देते हैं। “हाल ही के वर्षों में नयी योजनाओं को अपनाकर मेघालय ने भी उच्च साक्षरता दर के साथ पुरुषों और महिलाओं के मध्य साक्षरता के अंतराल को कम कर दिया है। पारंपरिक संस्कृति और कला को संरक्षित करने के लिए कई योजनाएँ चलाई गई हैं और साथ ही इन्हें सामान्य लोगो में प्रचलित करने के प्रयास भी जारी हैं। इससे राज्य के दस्तकारों को लाभ पहुँचने के साथ-साथ हस्तकला और हस्तशिल्प को बड़ी संख्या में लोगों तक पहुँचने में मदद भी मिली है। इससे राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर के उत्सवों में शिरकत बढ़ी है और ‘डबल-डे लिविंग रूट ब्रिज’ (जीवित जड़ों से बना दो मंजिला पुल), ऊमियम झील, नोखलीकाइ प्रपात आदि को पर्यटन स्थल बनाने के प्रयास जारी है। अहइया शरदोत्सव, 2008 में शुरू किया गया था, ताकि गारो हिल्स को एक पर्यटन स्थल के रूप में लोकप्रिय बनाया जा सके। इस तीन दिवसीय उत्सव में मनोरंजन खेल, सांस्कृतिक प्रदर्शन, भोजन उत्सव, रॉक कॉन्सर्ट, मद्य उत्सव, मछली पकड़ने की प्रतियोगिता, फैसी ड्रेस, डीजे नाइट, प्रदर्शनियाँ तथा हौसी-हौसी एवं अन्य खेल आयोजित किए जाते हैं। कार्निवाल और अन्य प्रतियोगिताओं भाग लेने के लिए आवेदन फार्म पर्यटक तूरा कार्यालय में उपलब्ध रहते हैं।”¹

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ.194

सिक्किम की लोक परंपरा-

सिक्किम भारत का एक अत्यंत सुन्दर, छोटा एवं पहाड़ी राज्य है। हिमालय की गोद में बसा, कंचनजंघा की चोटियों से घिरा यह राज्य भारत की उत्तरी सीमा पर स्थित है। भौगोलिक रूप से इसका मानचित्र अंगूठे जैसा दिखता है, इसके उत्तर में चीन, दक्षिण में पश्चिम बंगाल, पूर्व में भूटान और पश्चिम में नेपाल हैं। तीन पड़ोसी देशों से घिरा होने के कारण इसका सामरिक महत्त्व उच्च है। “सिक्किम का अर्थ क्रेस्टेड है।... इसका तिब्बतन नाम 'डेंजोंग' है, जिसका अर्थ धान की घाटी है। 1894 ई. के सिक्किम गजेटियर के अनुसार सिक्किम शब्द सु+खिम से मिलकर बना है। सु का अर्थ नया और खिम का अर्थ स्टेटली हाउस या स्थान है। कहा जाता है, यह नाम सिक्किम के प्रथम शासक पांचेनामग्ये ने रखा था।”¹ सिक्किम का क्षेत्रफल 7,327 वर्ग किलोमीटर और 2011 की जनगणना के अनुसार यहाँ की जनसंख्या लगभग 6 लाख है। अतः यह भारत के कम जनसंख्या वाले राज्यों में शामिल है। यह राज्य अपनी जैविक कृषि के लिए विश्व विख्यात है।

पूर्वी हिमालय की ढलान पर बसा सिक्किम विविध ऊँचाइयों पर मनोरम भू-दृश्य, बर्फ़ीले पर्वत, नदियाँ, झरने, पवित्र झीलें व समृद्ध वनस्पति-जीव-जंतु प्रस्तुत करता है। विश्व की तीसरी सर्वोच्च चोटी कंचनजंघा यहीं स्थित है और इसे राज्य का संरक्षक देवता माना जाता है। 1,784 वर्ग किलोमीटर में फैला खंगचेंजोंगा राष्ट्रीय उद्यान राज्य के कुल क्षेत्र का लगभग चौथाई है और 2016 में यूनेस्को ने इसे विश्व धरोहर स्थल घोषित किया। तीस्ता नदी चोलामू झील से निकलती है और सिक्किम से होकर बहती है।

“सिक्किम का प्राचीन इतिहास सामान्यतः 13वीं सदी से खोजा जा सकता है, जब उत्तरी सिक्किम के काबी लुङ्चोक में लेप्चा और भूटिया के प्रतिनिधियों के बीच ‘रक्त भाईचारा संधि’ पर हस्ताक्षर हुए। सन् 1641 में पश्चिमी सिक्किम के युक्सम में तीन श्रद्धेय लामाओं का आना एक ऐतिहासिक क्षण था। यही वह घटना थी, जब फूंतोग नांग्याल को सिक्किम के प्रथम चोग्याल का स्थान

¹ प्रसाद, माता. (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. पृ. 203

दिया गया और इस प्रकार सिक्किम में नांग्याल वंश का प्रादुर्भाव हुआ।”¹ 333 वर्षों तक राजशाही रहने के बाद सिक्किम 1975 के संविधान संशोधन के अंतर्गत भारत का 22वाँ राज्य बना। “आकार में छोटा होने के बावजूद सिक्किम में अद्भुत भाषा विविधता है। यहाँ बोली जाने वाली भाषाओं में प्रमुख हैं- नेपाली, भूटिया, लेप्चा, लिम्बू, नेवारी, राय, गुरुङ्ग, मांगेर, शेरपा, तमाङ्ग और सुनवारा। इनके अतिरिक्त हिंदी और अंग्रेज़ी भाषाएँ भी बोली जाती हैं। सन 1992 से नेपाली भारत की अनुसूचित भाषाओं में शामिल है। सिक्किम व्यापार एवं पर्यटन की दृष्टि से काफी विकसित है, अतः हिंदी भाषा का प्रयोग यहाँ बहुतायत मात्रा में होता है।”²

सिक्किम की वेश-भूषा रंगीन विविधता दर्शाती है। नेपाली, भूटिया व लेप्चा समुदायों के पारंपरिक परिधान अलग हैं। सिक्किम में लेप्चा पुरुषों की पारंपरिक वेशभूषा थोकोरो-दम, लेप्चा महिलाओं की पोशाक डमवम या डुमिडम, भूटिया महिला की सामान्य वेशभूषा में बक्खु, हंजू आदि वर्णित पारंपरिक परिधान और आभूषण समुदाय-विशेष पहचान दर्शाते हैं।

सिक्किम का भोजन विविध सामग्रियों और मसालों का संयोजन है, चावल प्रधान आहार है। लोकप्रिय व्यंजनों में मोमो, थुकपा (सिश्रु), सूप, सेल रोटी, छुर्पी, किनेमा, तामा, छांग आदि शामिल हैं।

राज्य में कई धार्मिक, सांस्कृतिक व क्षेत्रीय त्यौहार मनाए जाते हैं- लूसोंग/नाम्संग, मघई संक्रान्ति, सोनाम लोछार, लोसर, बूमचू, रामनवमी, बैसाखी, सकेवा, सागा दावा, डुकपा शेचु, गुरु रिन्पोचे थुंकर शेचु, टेंडोंग ल्हो रम फाट, इंद्रजात्रा, पाँग ल्हाबसोल, दसैं, क्रिसमस और तामू लोचार आदि जो विभिन्न समुदायों व धर्मों से जुड़े हैं।

सिक्किम में लोकगीत समृद्ध और भावपूर्ण हैं, लिंबू समुदाय के गीतों की कई श्रेणियाँ (प्रणय गीत, बुजुर्ग गीत, उत्सव गीत, नृत्य गीत आदि) विशेष उल्लेखनीय हैं। मुखौटा नृत्य प्रख्यात है- नर्तक मुखौटे एवं रंगीन वेशभूषा में अच्छाई पर बुराई की जीत दर्शाते हैं। राज्य के लोकनृत्यों में संस्कार,

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 209-210

² वही, पृ. 211

उत्सव व ऋतु-सम्बन्धी नृत्य प्रमुख हैं। “थांगका चित्रकारी सिक्किम का बहु प्रसिद्ध कलारूप है। यह तिब्बती बौद्धधर्म की विभिन्न परंपराओं से संबंधित एक धार्मिक चित्रावली है। इसे चटकीले रंगों की सहायता से कपड़े पर हाथों से बनाया जाता है। सिक्किम में अतिथि का स्वागत एक पारंपरिक अनुष्ठानिक स्कार्फ़ देकर किया जाता है, जिसे ‘खदा’ कहते हैं। यह सामान्यतः सफ़ेद रंग का तथा रेशम से बना होता है।”¹ खेचेओल्लरी, गुरुडोंगमर व त्संगु जैसी झीलें पवित्र विचार की वस्तु हैं। सिक्किम ने पारंपरिक राजतंत्र से आधुनिक लोकतांत्रिक तथा विकासोन्मुख राज्य बनने की यात्रा पूरी की है, यह बहुसांस्कृतिक, शांतिपूर्ण व संयुक्त विकास के अवसर देने वाला प्रदेश माना जाता है।

सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में त्रिपुरा-

त्रिपुरा भारत के उत्तर-पूर्वी राज्य में बसा एक छोटा राज्य है, जिसका कुल क्षेत्रफल 10,486 वर्ग किलोमीटर है। यह राज्य उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशा में बांग्लादेश से घिरा हुआ है। इसके पूर्वी दिशा में मिज़ोरम और असम राज्य हैं। ‘अगरतला’ इस राज्य की राजधानी है, जो इसके पश्चिमी हिस्से में बसी हुई है। “त्रिपुरा के नाम के संबंध में विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं। कुछ लोग त्रिपुर सुंदरी देवी के नाम पर इसका नाम बताते हैं। अगरतला से कुछ दूर राधा किशोरपुर में अब भी त्रिपुर सुंदरी का मंदिर है, जहां लोग पूजा करने जाते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि यहां की जनजातियों में त्रिपुर नाम के एक राजा हुए हैं, उन्हीं के नाम पर इस राज्य का नाम त्रिपुरा पड़ा है। कुछ का विचार है कि यह शिव की भूमि है। शिव ने त्रिपुर का वध किया था, इसलिए शिव को त्रिपुरारि भी कहा जाता था और इसीलिए इसे त्रिपुरा कहा गया।”² राज्य की स्थलाकृति उत्तर-दक्षिण पर्वत श्रृंखलाओं व कई नदियों (खोवाई, धलाई, मानू, जूरी, लोंगाई, गुमटी, मुहुरी, फेनी) से निर्मित है। दंबूर, रुद्रसागर आदि झीलें, सेपाहीजाला व तृष्णा अभ्यारण्य तथा जंपुई पहाड़ प्रमुख आकर्षण हैं। इस राज्य पर त्रिपुरी वंश ने कई सदियों तक

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 212

² प्रसाद, माता. (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. पृ. 123

राज किया...सन् 1949 में यह स्वतंत्र भारत का अंग बना। जनसंख्या में देशी समुदायों का भाग बढ़ा है, 19 जनजातियों में त्रिपुरी सर्वाधिक हैं।

“त्रिपुरा की संस्कृति, बांग्ला तथा त्रिपुरी दोनों संस्कृतियों के मेल से बनी है। यहां की कुल जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा बंगाली है। इस राज्य की दो आधिकारिक भाषाएँ हैं- बांग्ला और कोकबोरोक, जो त्रिपुरी की एक बोली है। त्रिपुरी वहाँ के समुदाय की भाषा है जो खोवाई, कैलासहर, सदर तथा अमरपुर उपखंड में बोली जाती है। यह माना जाता है कि कोकबोरोक का उद्भव तिब्बती-बर्मन भाषाओं से हुआ।”¹ अन्य भाषाएँ जैसे हिंदी, चकमा, मोघ, हलम, गारो, ओड़िया, मणिपुरी आदि भी बोली जाती हैं। महिलाओं का पारंपरिक परिधान रीसा (ऊपरी) और रिंगटेल (निचला) है, विशेष अवसरों पर बेंत/साही काँटों के मुकुट व सिक्कों की माला/चूड़ियाँ/नथ प्रचलित हैं। पुरुष रिकुतु गमछा और कुबाई (हाथ-से-बुनी कमीज) के साथ पगड़ी पहनते हैं। बंगाली समुदाय में साड़ी-धोती भी आम हैं।

त्रिपुरा में खार्ची (14 देवताओं की पूजा), केर एवं गौरिया जनजातीय पर्व, नवान्न के बाद गंगा पूजा, जून-जुलाई का कास पर्व, साथ ही पौष संक्रांति, अशोक अष्टमी, दुर्गा पूजा, दीपावली, नाव दौड़ आदि सामूहिक रूप से मनाए जाते हैं। “गौरिया एक सामुदायिक पूजा है, जिसमें देवता को प्रसन्न करने के लिए मुर्गे की बलि दी जाती है। यह पूजा बैशाख (अप्रैल) माह के सातवें दिन की जाती है।”²

“त्रिपुरा राज्य की शाही विरासत बीरचंद्र और उनके सुपुत्र राधाकिशोर माणिक्य ने 19वीं सदी में हिंदुस्तानी गायन एवं वाद्य संगीत, मणिपुरी संगीत तथा नृत्य रूपों, बंगाली लोकनृत्य एवं मंचीय परंपराओं, कीर्तन, कृष्णलीला कथावाचन के पांचाली गायन तथा जात्रा प्रस्तुतियों को प्रश्रय दिया। बीरचंद्र माणिक्य ने अपने महल को संगीत प्रशिक्षण एवं अध्ययन का केंद्र बना दिया, जहाँ भारत के विभिन्न हिस्सों से आए प्रतिनिधि इकट्ठे होते और प्रश्रय पाया करते थे। महान कवियों तथा गीतकारों,

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 228

² वही, पृ. 230

जैसे- रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा काजी नज़रुल इस्लाम के जन्मदिवस पर उपसंस्कृतियों की विभिन्न धाराओं से और नृत्यों को शामिल करके होने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों ने राज्य के बहुस्तरीय सांस्कृतिक चरित्र को और भी रंग-बिरंगा एवं खूबसूरत बना दिया है।¹ इसी परंपरा से रवींद्र-संगीत, नज़रुल-गीत, कीर्तन, जात्रा आदि का सम्मिलित सांस्कृतिक रंग विकसित हुआ।

“जनजातियों द्वारा की जाने वाली नृत्य-नाटिकाएँ तथा लोकनृत्यों को सम्राटों तथा वर्तमान सरकार द्वारा भी प्रश्रय मिलता रहा है। त्रिपुरा की संस्कृति धार्मिक एवं सामाजिक है, जिसका प्रभाव हमें अन्य कलाओं पर भी दिखाई देता है। त्रिपुरा की संस्कृति धार्मिक एवं सामाजिक है, जिसका प्रतिबिंब मौजूदा कलाओं में दिखाई देता है। त्रिपुरा की लोक संस्कृति में रियांग जनजाति के पुरुषों द्वारा किया जाने वाला होजा गिरि का लयबद्ध दैहिक गीत गैर-जनजातियों द्वारा मानस मंगल अथवा कीर्तन (समूह) गाए जाने वाले भक्ति गीत) का सामूहिक सांगीतिक गायन, ग्रामीण क्षेत्रों में विवाह उत्सव जैसे पारिवारिक उत्सव पर गैर-जनजातियों द्वारा किया जाने वाला ‘धमेल’ नृत्य आते हैं। दो प्रतिद्वंदी लय-निर्माताओं के बीच सांगीतिक टुथ (कवि गान) है। पिछली आधी सहस्राब्दी से जनजातीय समाज के मिथकों तथा आख्यानों से समृद्ध झूम खेती, संगीत एवं नृत्य का केंद्र बिंदु बन गया है।”²

“त्रिपुरा के इस छोटे से भौगोलिक क्षेत्र में ढेर सारे आकर्षण स्थल हैं। भूतपूर्व महाराजाओं ने इस राज्य के अलग-अलग हिस्सों में खूबसूरत महलों का निर्माण करवाया था, जो एक शानदार इतिहास की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। उज्जयंता महल एक दोमहला राजमहल है, जिसका इंडो-ग्रीक शैली में निर्माण करवाया गया है, कुंजाबन महल और नीरमहल लेक पैलेस मेलाघर में स्थित है। त्रिपुरा के अन्य दर्शनीय स्थलों में हिंदुओं और बौद्धों के कई महत्वपूर्ण मंदिर हैं, जिनमें चर्चित उदयपुर की माता त्रिपुरेश्वरी माता मंदिर, उदयपुर के माता बारी, कमलासागर काली मंदिर या कस्बा मंदिर और भुवनेश्वरी मंदिर, त्रिपुरा संग्रहालय, लक्ष्मीनारायण मंदिर, उमा माहेश्वरी मंदिर, जगन्नाथ मंदिर, बेनुबन

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 230

² वही, पृ. 230

विहार, गेबू मियां मस्जिद, मालांचा निवास, रवींद्र कन्नन, पुर्बाशा हस्तशिल्प डिजाइनिंग या अभिकल्पन केंद्र, चौदह देवियों के मंदिर, पुर्तगाली गिरिजाघर आदि अगरतला के अन्य आकर्षण हैं।¹

त्रिपुरावासी हस्तकरघा से छोटे कपड़े को बुनते हैं, जिसे वे 'रिशा' कहते हैं। इस छोटे कपड़े का इस्तेमाल वे ऊपरी परिधान के रूप में करते हैं। चकमा संप्रदाय के लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। चकमा की औरतें बुनाई में सिद्धहस्त हैं। बेंत-बाँस शिल्प टोकरियाँ (जमातिया, रायंग, तुरी आदि), चटाइयाँ, पैनल, फर्नीचर, मुडाह (बाँस-बेंत का स्टूल) आदि अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इस राज्य के लोग पश्चिम बंगाल और बांग्लादेश की संस्कृति से साम्यता रखते हैं। राज्य में रवींद्र संगीत काफ़ी प्रचलित है। कला संस्थाएँ दृश्य कलाओं को व्यवस्थित परंपरा में आगे बढ़ा रही हैं, सीमा-सांस्कृतिक आदान-प्रदान से बंगला प्रभाव भी स्पष्ट है।

इस प्रकार पूर्वोत्तर भारत के आठों राज्यों की भाषा-बोली, वेश-भूषा, खान-पान, इतिहास-संस्कृति आदि अलग होते हुए भी इनमें पारस्परिक समानता है, भौगोलिक सीमाएँ और एक-दूसरे पर अत्यधिक निर्भर होने के कारण इन्हें 'पूर्वोत्तर की सात बहनें' कहा जाता है। चूंकि सिक्किम वर्ष 2002 में उत्तर पूर्वी परिषद (North Eastern Council) में शामिल हुआ, इसीलिए सिक्किम को 'पूर्वोत्तर का भाई' कहा गया। पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित उपन्यास इन्हीं राज्यों पर लिखे गए हैं। जिनसे क्रमशः हमें वहाँ के जीवन, सांस्कृतिक विरासत, सामाजिक परिवेश आदि के विषय में जानकारी मिलती है।

¹ भारत सांस्कृतिक विविधता में एकता. (2022). NCERT से उद्धृत. पृ. 232

अध्याय- 3

हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत का परिदृश्य

3.1 स्थानीय रचनाकारों द्वारा लिखित हिंदी उपन्यासों का अंतर्वस्तु-विधान

3.2 अन्य रचनाकारों के उपन्यासों में उत्तर-पूर्व की अभिव्यक्ति

हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत का परिदृश्य

हिंदी में पूर्वोत्तर भारत के संदर्भ में लिखित उपन्यास अपने विषय-वस्तु, परिवेश तथा दृष्टिकोण की विविधता के कारण विशेष महत्त्व रखते हैं। इन रचनाओं में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, समस्यापरक, समसामयिक विमर्श प्रधान, राजनीतिक तथा जनजातीय अस्मिता को केंद्र में रखने वाले अनेक प्रकार के उपन्यास सम्मिलित हैं। यह विविधता न केवल साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, बल्कि यह पूर्वोत्तर भारत के बहुआयामी समाज, संस्कृति और परिवेश की गहन झलक भी प्रस्तुत करती है। इनमें से कुछ उपन्यासों को छोड़कर अधिकांश कृतियाँ प्रायः पूर्वोत्तर भारत के किसी एक या दो राज्यों की पृष्ठभूमि पर केंद्रित हैं। इस प्रकार ये उपन्यास अपने-अपने क्षेत्र विशेष के सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ, जीवन-मूल्यों, परंपराओं और समस्याओं की गहरी समझ प्रदान करते हैं।

साहित्यिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो पूर्वोत्तर भारत के आठों राज्य अत्यंत समृद्ध साहित्यिक विरासत के धनी हैं। यहाँ की स्थानीय भाषाएँ और उनका सृजन संसार व्यापक और वैविध्यपूर्ण है। तथापि, प्रस्तुत शोध में केवल हिंदी भाषा में रचित और वर्ष 2020 तक प्रकाशित उन उपन्यासों को ही अध्ययन के दायरे में शामिल किया गया है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूर्वोत्तर भारत के जीवन और समाज से संबद्ध हैं। इस आधार पर प्राप्त उपन्यासों का विवरण निम्नानुसार प्रस्तुत है-

क्र.सं.	उपन्यास	लेखक	प्रकाशन वर्ष
1.	ब्रह्मपुत्र	देवेन्द्र सत्यार्थी	1956
2.	मुक्तावती	बलभद्र ठाकुर	1958
3.	राह और रोड़े	छगनलाल जैन	1963
4.	खंब थोइबी	लोइतोंगबम कालाचांद सिंह	1963
5.	रक्तयात्रा	कृष्णचंद्र शर्मा 'भिक्खु'	1978
6.	जय आइ असम	नवारुण वर्मा	1983
7.	अरण्य रोदन	सुवास दीपक	1985

8.	जहाँ बांस फूलते हैं	श्रीप्रकाश मिश्र	1996
9.	शिखर और सीमाएं	शरत कुमार	1998
10.	मुक्ति	डॉ. महेंद्रनाथ दुबे	1999
11.	देवी माँ	रमेश कुमार पाल	2000
12.	उत्तर पूर्व	लाल बहादुर वर्मा	2002
13.	रूपतिल्ली की कथा	श्रीप्रकाश मिश्र	2006
14.	आहुति	श्रीधर पाण्डेय	2008
15.	उपक्रम	प्रमोद कुमार तिवारी	2010
16.	कामरूप के गलियारे	जय नारायण कौशिक	2011
17.	देश भीतर देश	प्रदीप सौरभ	2012
18.	कामरूपा	रमानाथ त्रिपाठी	2013
19.	मातमुर जामोह	जुमसी सिराम 'नीनो'	2015
20.	सियांग के उस पार	दयाराम वर्मा	2018
21.	उस रात की सुबह	तुम्बम रीबा जोमो 'लिली'	2018
22.	हिडिंबा	डॉ. देवेनचंद्र दास 'सुदामा'	2018
23.	लोहित	अनिता सभरवाल	2019
24.	जंगली फूल	जोराम यालाम नाबाम	2019
25.	प्रेमवल्लरी	मलिक राजकुमार	2019
26.	मिनाम	मोर्जुम लोयी	2020
27.	नदी की टूट रही देह की आवाज	श्रीप्रकाश मिश्र	2020
28.	मेरी आवाज सुनो	जुमसी सिराम 'नीनो'	2021

* 'मेरी आवाज सुनो' उपन्यास का वर्ष 2021 में पुनर्प्रकाशन हुआ है।

पूर्वोत्तर भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता और प्राकृतिक परिवेश हिंदी उपन्यासों में अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। इन उपन्यासों में इस क्षेत्र की भौगोलिक विशेषताओं, लोकजीवन, परंपराओं, संघर्षों और समसामयिक परिस्थितियों की झलक विभिन्न स्तरों पर दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि कुछ उपन्यासों में पूर्वोत्तर राज्यों की उपस्थिति अपेक्षाकृत सीमित है, फिर भी उनके परिवेशगत प्रभाव और सांस्कृतिक संदर्भों के कारण उन्हें अध्ययन के दायरे में सम्मिलित करना समीचीन प्रतीत होता है। हिंदी साहित्य में पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित उपन्यासों के अध्ययन को व्यवस्थित रूप देने के उद्देश्य से इनका वर्गीकरण दो प्रमुख श्रेणियों में किया जा सकता है-

(1) स्थानीय रचनाकारों द्वारा लिखित हिंदी उपन्यासों का अंतर्वस्तु विधान

(2) अन्य रचनाकारों के उपन्यासों में उत्तर पूर्व की अभिव्यक्ति

प्रस्तुत वर्गीकरण रचनाकार के जन्मस्थान के आधार पर किया गया है, जहाँ 'स्थानीय रचनाकार' से अभिप्राय उन साहित्यकारों से है, जो पूर्वोत्तर भारत में जन्मे या पले-बढ़े हैं, जबकि 'अन्य रचनाकार' उन लेखकों को इंगित करता है, जिन्होंने इस क्षेत्र को बाह्य दृष्टि से देखा और अपने सृजन विषय के रूप में प्रस्तुत किया। यह विभाजन अध्ययन को अधिक सुव्यवस्थित बनाता है तथा विभिन्न दृष्टिकोणों से पूर्वोत्तर भारत की साहित्यिक छवि को समझने में सहायक प्रतीत होता है।

3.1 स्थानीय रचनाकारों द्वारा लिखित हिंदी उपन्यासों का अंतर्वस्तु-विधान

जब किसी साहित्यिक रचना को किसी विशिष्ट क्षेत्र के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है, तब उस रचना में स्थानीय परिवेश, सामाजिक जीवन, लोक-संस्कृति तथा परंपरागत मूल्यों की उपस्थिति स्वाभाविक रूप से दिखाई देती है। ऐसे में यह भी आवश्यक हो जाता है कि उस रचना के रचनाकार की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और उसके सृजन पर पड़े प्रभाव का विश्लेषण किया जाए। पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित हिंदी उपन्यासों की समीक्षा करने पर स्पष्ट होता है कि अधिकांश रचनाकार मूलतः पूर्वोत्तर क्षेत्र से बाहर के हैं। इन लेखकों ने अपने प्रवास और अनुभवों के दौरान वहां की सांस्कृतिक

गरिमा, प्राकृतिक सौंदर्य और मानवीय संवेदनाओं से प्रभावित होकर साहित्य सृजन किया। इस दृष्टि से देखें तो इन रचनाकारों के माध्यम से ही हिंदी भाषी समाज को पूर्वोत्तर भारत के विविध रंगों, सौंदर्य और सांस्कृतिक विरासत का परिचय प्राप्त हुआ। समय के साथ हिंदी भाषा के विस्तार और क्षेत्रीय स्तर पर इसके प्रसार के फलस्वरूप पूर्वोत्तर भारत के स्थानीय लेखकों ने भी हिंदी में साहित्य-सृजन प्रारंभ किया और अपने क्षेत्र की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक वास्तविकताओं को अभिव्यक्त किया। स्थानीय रचनाकारों की हिंदी कृतियों का विवेचन निम्नलिखित है-

‘राह और रोड़े’ (छगनलाल जैन)

यह उपन्यास असम की पृष्ठभूमि पर आधारित एक उल्लेखनीय कृति है। इसकी उपलब्ध प्रति इसके दूसरे संस्करण की है, जिसका प्रकाशन सन् 1963 में हुआ था। इसके रचनाकार छगनलाल जैन असम के पलाशबाड़ी में 1924 में बसंत पंचमी के दिन जन्मे थे। वे मूलतः मारवाड़ी जैन परिवार से थे। बाल्यावस्था में ही पिता के निधन के पश्चात् उन्होंने संघर्षपूर्ण जीवन व्यतीत किया। उनकी प्रारंभिक एवं उच्च शिक्षा असम में ही संपन्न हुई। छगनलाल जैन ने हिंदी और असमीया दोनों भाषाओं में सृजनात्मक लेखन किया। वे समाजवादी एवं प्रगतिवादी विचारधारा से प्रेरित साहित्यकार रहे। इनकी रचनाओं में संदर्भ में हरेराम पाठक लिखते हैं- “छगनलाल जैन आचार्य नरेन्द्र देव के शिष्य थे। वे मूलतः समाजवादी एवं प्रगतिवादी विचारधर्मी साहित्यकार थे। उन्होंने कविता, कहानी, नाटक, निबंध, उपन्यास आदि हर विधा में लेखन के साथ ही पत्र-पत्रिकाओं का संपादन भी किया। इन्होंने लम्बे समय तक ‘पूर्व ज्योति’ नामक हिंदी पत्रिका का संपादन किया। डॉ. परेशचंद्र देव के शब्दों में इस पत्रिका ने पहली बार हिंदी और असमीया भाषिक संस्कृति पर जोर दिया। इस पत्रिका के माध्यम से आपने भारतीयता, राष्ट्रीय एकता और मानवीय मूल्यबोध को उजागर किया। दिसंबर 1938 में जैन जी ने ‘सम्मेलन समाचार’ नामक पत्रिका का भी संपादन किया। इनकी प्रकाशित रचनाएं हैं- 1. हँसते-हँसते जीना (कहानी संग्रह), 2. इंसान की खोज (ध्वनि नाटक), 3. संघर्ष (नाटक), 4. राह और रोड़े

(उपन्यास), 5. राष्ट्रभाषा और व्याकरण शिक्षा, 6. राष्ट्रभाषा शब्द-संग्रह, 7. राष्ट्रभाषा अभिधान”¹ इनका उपन्यास ‘राह और रोड़े’ असम के हिंदी विद्यालयों में माध्यमिक स्तर पर अध्ययन-अध्यापन हेतु शामिल किया गया है।

‘राह और रोड़े’ उपन्यास राष्ट्रभाषा प्रचारक जीवनचंद्र हाजरिका के आदर्शवादी व्यक्तित्व, उनकी निष्ठा और ईमानदारी की कथा प्रस्तुत करता है। उपन्यास का कथा परिवेश असम का है, जहाँ एक व्यापारी ललितचंद्र शर्मा के घर आग लग जाती और एक युवक उनकी रक्षा करता है। यह युवक राष्ट्रभाषा प्रचारक जीवनचंद्र हाजरिका होता है, कालांतर में पता चलता है कि यह आग रेणु के कॉलेज में पढ़ने वाले रामनाथ भराली नामक युवक ने लगायी थी। जो हमेशा कॉलेज में रेणु को परेशान करता रहता था और उससे शादी करना चाहता था। मगर रेणु के मना करने पर वह जोर-जबरदस्ती पर उतारू हो जाता है। इधर जीवनचंद्र रेणु को हिंदी पढ़ाने लगता है, हिंदी के प्रति रेणु की निष्ठा और लगन उसे भी राष्ट्रभाषा प्रचारक बनने के लिए प्रेरित करती है। जीवन और रेणु एक-दूसरे से प्रेम करने लगते हैं और साथ मिलकर हिंदी के प्रचार-प्रसार का कार्य करने लगते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में राष्ट्रभाषा प्रचार के माध्यम से उपन्यास में असम के अतिरिक्त पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों की भी चर्चा की गई है। इधर रामनाथ भराली अपना प्रतिशोध लेने के लिए जीवन-रेणु पर हमला करवाता है। जीवन घायल हो जाता है, लेकिन हमलावर पकड़े जाते हैं। मामला कोर्ट तक पहुँचता है, लेकिन जीवनचंद्र कोर्ट में अपने बयान से रामनाथ भराली को बचा लेता है। इस घटना से रामनाथ का हृदय परिवर्तन हो जाता है और वह सब कुछ छोड़ अपने गाँव चला जाता है। तदुपरांत जीवन और रेणु की शादी हो जाती है और वे दोनों मिलकर हिंदी के प्रचार-प्रसार का कार्य करने लगते हैं। इस उपन्यास की कथा का केंद्र बिंदु आदर्शवाद और नैतिकता है, जहाँ नायक की सहनशीलता और क्षमाशीलता उसकी मानवीयता का प्रमाण बनती है। उपन्यास की भाषा सरल, प्रभावी और संप्रेषणीय है, जहाँ छगनलाल जैन ने संक्षिप्त आकार में भी अपने कथ्य को अत्यंत सहजता से प्रस्तुत किया है।

¹ पाठक, हरेराम. (2020). पूर्वोत्तरीय राज्यों में हिंदी साहित्यलेखन का इतिहास. पृ.95

‘खंब थोइबी’ (लोइतोंगबम कालाचांद सिंह)

यह उपन्यास मणिपुरी लोककथा पर आधारित एक उत्कृष्ट रचना है, जिसके लेखक लोइतोंगबम कालाचांद सिंह हैं। वे साहित्यकार, नाटककार, संगीतज्ञ और शिल्प-कला में निपुण व्यक्तित्व थे। डॉ. सी. इ. जीनी अपनी पुस्तक ‘पूर्वांचल प्रदेश में हिंदी भाषा और साहित्य’ में लिखती हैं- “श्री सिंह प्रकृति से नाटक प्रेमी भी रहे हैं और मणिपुरी में एकाधिक नाटकों की भी रचना की है। ‘अतोम्बा जी बागी रचना’, ‘अंगगी ड्रामा मचा’, ‘अहोम’(चिल्ड्रेन्स थ्री प्लेज), ‘लावनम’(सामाजिक नाटक), ‘उमजाउ लाइरेमबी’ (नैतिक नाटक), ‘शिक्षक अहंबा’ (प्रारंभिक प्राचीन संगीत) आदि मणिपुरी रचनाएं ओ.के.स्टोर पाउना बाजार, इंफाल से प्रकाशित हैं। श्री सिंह मणिपुर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, इंफाल के अध्यक्ष रह चुके हैं। आपने मणिपुर जनमानस में गहरी पैठ बना चुकी ‘खंब-थोइबी’ की लोक कहानी को राष्ट्रभाषा हिंदी में उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक का आधार स्व. हाउदैजम् यैते की खंब थोइबी और स्व. हिजम अडाहल की खंब-थोइबी भाग-1 रहे हैं। इस उपन्यास के प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए उपन्यासकार कालाचांद सिंह ने दो शब्द के अंतर्गत इस प्रकार लिखा है- मणिपुर और मणिपुर के बाहर के हिंदी जानने वाले व्यक्ति भी इसे पढ़ सकें और इसकी लोकप्रियता अधिक से अधिक फैले।”¹

खंब-थोइबी की कथा मूलतः पूर्वोत्तर भारत के मणिपुर राज्य के प्राचीन मोइरांग साम्राज्य की लोकगाथा से ली गई है, जिसमें एक गरीब युवक खंब और राजकुमारी थोइबी के प्रेम-संघर्ष का चित्र प्रस्तुत है। इस कथा में प्रेम, वीरता, सामाजिक बाधाएं (जैसे वर्ग, प्रतिष्ठा), पारिवारिक संबंध तथा लोक परंपराओं का चित्रण किया गया है। कहानी का आरंभ खंब से होता है, जहाँ खंब एक अनाथ निम्नवर्गीय पृष्ठभूमि का युवक, अपनी बहन खम्नु के साथ जीवनयापन करता है, किंतु उसकी लगन, वीरता एवं चरित्र-शुद्धि उसे राजपरिवार के राजकुमारी थोइबी के निकट ला खड़ा करती है। थोइबी का आकर्षण खंब के प्रति निःस्वार्थ प्रेम की पराकाष्ठा है, परंतु सामाजिक प्रतिष्ठा-बाधाओं, पारिवारिक

¹ जीनी, सी.इ. (1990). पूर्वांचल प्रदेश में हिंदी भाषा और साहित्य. पृ.184

दबाव और प्रतिद्वंदी नोंगबन कोंग्याम्बा की चाल उनके सामने अनेक चुनौतियाँ प्रस्तुत करती है। कथा में खंब-थोइबी के प्रेम-संधि के परे यह भी दिखाया गया है कि कैसे खंब को अनेक चुनौतियाँ जैसे बाघ पकड़ना, हाथ-पैर बांधकर हाथी द्वारा घसीटे जाने जैसे पड़ाव पार करने पड़ते हैं, ताकि सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठा हासिल की जा सके। अंततः खंब-थोइबी का विवाह होता है, किंतु दुर्घटनावश खंब की मृत्यु हो जाती है और उस वियोग में थोइबी आत्मघात कर अपने प्राण त्याग देती है। लेखक ने मणिपुरी लोक-संस्कृति, रीति-रिवाज, नृत्य-संगीत और पर्वों का अत्यंत सजीव वर्णन किया है, जिससे यह उपन्यास केवल कथा न रहकर एक सांस्कृतिक दस्तावेज बन जाता है। भाषा काव्यात्मक और सरल है, जिसमें लोकगंध और संवेदना का सहज मिश्रण है। कथा का दुखांत अंत यह संकेत देता है कि प्रेम केवल सुख का नहीं, बल्कि आत्मबल और त्याग का भी प्रतीक है। 'खंब-थोइबी' केवल एक प्रेमकथा नहीं, बल्कि मणिपुरी संस्कृति, समाज और मानवीय संवेदना का जीवंत दस्तावेज है।

‘जय आइ असम’ (नवारुण वर्मा)

सन् 1983 में स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित यह उपन्यास असम में बांग्लादेशी घुसपैठ के विरुद्ध छात्रों द्वारा संचालित आंदोलन की पृष्ठभूमि पर केंद्रित है। इसके लेखक नवारुण वर्मा हैं। वे एक बहुमुखी प्रतिभा के धनी कवि, उपन्यासकार, अनुवादक और हिंदी-सेवक थे। नवारुण वर्मा का जन्म 01 मई 1934 को त्रिपुरा के कैला (अब बांग्लादेश) में हुआ था। वे असम के प्रमुख हिंदी प्रचारक रजनीकांत चक्रवर्ती के संपर्क में आने के बाद असम आए और जीवन भर हिंदी सेवा में समर्पित रहे। इस संदर्भ में हेरराम पाठक अपनी पुस्तक 'पूर्वोत्तरीय राज्यों में हिंदी साहित्यलेखन का इतिहास' में लिखते हैं- “असम के हिंदी लेखकों में नवारुण वर्मा का नाम अग्रगण्य है। उनकी कृतियों की लंबी सूची है जिनमें प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हैं- 1. श्रीमंत शंकरदेव कृत ‘कीर्तनघोषा’, 2. माधव कंदली रामायण, 3. श्री योगेश दास के उपन्यास ‘डाबर अरुनाई’ का हिंदी अनुवाद ‘बादल छंट गए’ के नाम से, 4. ‘महात्मा परा रूप कोंवर लै’ का अनुवाद ‘महात्मा से रूप कोंवर तक’, 5. महिमबरा की कहानियों का हिंदी अनुवाद, 6. नवकांत बरुवा रचित ‘काका देउतार हाड़’ हिंदी

अनुवाद, 7. डॉ. वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य के उपन्यास 'मुनि चुनी पोहर' का 'अंधेरा उजाला' नाम से हिंदी अनुवाद, 8. डॉ. निर्मल प्रभा बरदलै संपादित 'असमीया चुटि गल्प संकलन' का हिंदी अनुवाद, 9. डॉ. भवेन्द्र नाथ शङ्किया के कहानी संकलन का हिंदी अनुवाद 'आकाश' नाम से, 10. 'रामिली की मुस्कान', रं. बं. तेरां के उपन्यास 'रंमिलिर हाँहि' का हिंदी अनुवाद, 11. 'डाक के वचन', 'डाकर वचन' का हिंदी अनुवाद। इन कृतियों के अतिरिक्त उनकी अनेक अप्रकाशित अनूदित कृतियाँ हैं। वर्मा जी की मौलिक कृतियाँ निम्नलिखित हैं- 1. लाचित बरफुकन (प्रबंध काव्य), 2. जयमती (महाकाव्य), 3. जय आइ असम (उपन्यास), 4. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव (व्यक्तित्व एवं कृतित्व), 5. सिंधु मंथन (नाटक काव्य), 6. रक्त रेखा (नाटक काव्य), 7. कुत्ता घर (नाटक), 8. काला लोहित (उपन्यास), 9. ब्रह्मपुत्र का नाविक (नाट्य रूपक), 10. शंकरदेव के वरगीत, 11. सूर्य संभवा"¹ उन्हें पुरुषोत्तमदास टंडन पुरस्कार, ज्योति प्रसाद सम्मान तथा भाषा सेतु चक्रवर्ती उपाधि जैसे अनेक सम्मान प्राप्त हुए। 06 अक्टूबर 2008 को गुवाहाटी में उनका निधन हुआ। वे ऐसे प्रथम हिंदीभाषी हैं जिन्हें असम सरकार की ओर से आजीवन साहित्यिक पेंशन मिली।

‘जय आइ असम’ उपन्यास में लेखक ने असम आंदोलन के परिवेश को चित्रित किया है, जिसमें ‘जय आइ असम’ जिसका अर्थ है- ‘असम माता की जय’, आंदोलन का मुख्य स्वर बना। इसमें आंदोलन की जटिल राजनीतिक परिस्थितियाँ, जनभावनाएँ और वैचारिक द्वंद्व अत्यंत प्रभावी रूप में चित्रित हुए हैं। कथा के केंद्र में अमृत फुकन का परिवार है- जहाँ पिता आंदोलन के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण रखते हैं, पुत्र नरेन इसका विरोध करता है और पुत्री नमिता आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाती है। “यह प्रश्न जब भी सामने आता है एक गंभीर संकट खड़ा हो जाता है। अमृत फुकन और उनके साथी वकीलों के बीच इस मुद्दे को लेकर जो बहस होती है, वह द्रष्टव्य है- जो लोग विदेश से आकर पिछले तीस सालों से वैध रूप से अवैध रूप से बसते रहे हैं, चुनावों में वोट भी डालते रहे हैं, जमीन-जायदाद, दूकानें आदि बना ली हैं, उन्हें अकस्मात विदेशी घोषित कर निकाला भी कैसे जा

¹ पाठक, हरेराम. (2020). पूर्वोत्तरीय राज्यों में हिंदी साहित्यलेखन का इतिहास. पृ. 98-99

सकता है? इस बहस का सार यह निकलता है कि बाहरी लोगों को चिन्हित कर लेने के पश्चात भी परिणाम नगण्य ही रहेगा। एक बड़ी आबादी को कहाँ भेजा जाएगा और कैपों में रखने पर सरकार और जनता पर ही भार बढ़ेगा, साथ ही नागरिकता संबंधी अंतरराष्ट्रीय समझौते भी एक बाधा है। इस उपन्यास के केंद्र में जो परिवार है, वह आंदोलन के विरोधाभासी स्वरूप को प्रकट करता है। अमृत फूकन की बेटी नमिता जय आइ असम के नारे लगाती है, बेटा नरेन इसके विरुद्ध है जबकि अमृत फूकन बीच का कोई रास्ता निकालना चाहते हैं। इन्हीं के परिवार में भोला नौकर है, जो पूर्वी बंगाल से आकर यहाँ बसा था। यह सारी स्थितियाँ उस विरोधाभास का निर्माण करती हैं, जिसे पाटा जा सकना मुश्किल प्रतीत होता है।”¹

यह उपन्यास दिखाता है कि किस प्रकार बांग्लादेशी शरणार्थियों की समस्या परवर्ती काल में असम के अस्तित्व के लिए संकट बन जाती है, मूल नागरिकों की पहचान के लिए दस्तावेजीकरण की मांग से असम के मूल निवासी भी विदेशी कहलाने की समस्या से जूझने लगते हैं। बांग्लादेशी शरणार्थियों के बच्चे जो असम में ही जन्में, इस आंदोलन से वे भी विदेशी कहलाने को बाध्य हो गए तथा असामाजिक तत्त्वों और अवसरवादी राजनेताओं द्वारा किस प्रकार आंदोलन की आड़ में अपनी स्वार्थसिद्धि की जाती है, यह उपन्यास इन संदर्भों को प्रमुखता से चित्रित करता है। उपन्यास के अंत में संदीप और नरेन का संवाद असम आंदोलन के विडंबनापूर्ण परिवेश को दर्शाता है- “संदीप बोला- चारों ओर गंभीर षड्यंत्र चल रहा है। असमीया के खिलाफ असमीया को ही इस्तेमाल कर काँटे से काँटा निकालने की कहावत दुहरायी जा रही है। नरेन बोला- हमें तो हमेशा गलत समझा जा रहा है। कुछ लोग हमें गद्दार ‘बदन’ कहते हैं तो कुछ लोग आंदोलन-विरोधी कहते हैं। लेकिन संदीप, हम असम विरोधी तो नहीं हैं। असम का अस्तित्व किसी भी तरीके से हमें बचाना है। अगर असम की भाषा न रहे, इसकी संस्कृति की रक्षा ही कर न सकें तो क्या लेकर रहेंगे? इसी बात पर हमारे साथ कितनों की

¹ यादव, कुमार. अरविंद. (जनवरी-दिसंबर, 2022). पूर्वोत्तर भारत की औपन्यासिक अभिव्यक्ति. (कंचनजंघा पत्रिका संपादक : प्रदीप त्रिपाठी). वर्ष.03, पृ. 22

झड़पें हो चुकी है।”¹ इस प्रकार यह उपन्यास असम के समाज में व्याप्त आंतरिक विरोधाभासों और बाहरी घुसपैठ से उत्पन्न संघर्ष को उजागर करता है।

‘अरण्य रोदन’ (सुवास दीपक)

इस उपन्यास के रचनाकार सुवास दीपक हैं तथा इसका प्रथम प्रकाशन 1985 में संभावना प्रकाशन, हापुड़ से हुआ। यह सिक्किम में हिंदी में लिखा गया प्रथम उपन्यास के रूप में मान्य है। सुवास दीपक (वास्तविक नाम: सुभाष चंद्र डोगरा) का जन्म 01 अप्रैल 1948 को पठानकोट (पंजाब) में हुआ। वर्ष 1966 में 19 वर्ष की उम्र में वे सिक्किम के सिंगताम शहर के जूनियर हाई स्कूल में शिक्षक के रूप में नियुक्त हुए। बीते छह दशकों से सिक्किम में दशक से भी अधिक समय से साहित्य सृजन से जुड़े हुए हैं। इनकी प्रमुख रचनाएं हैं- “मौलिक कृतियाँ (हिंदी में)- अरण्य रोदन (उपन्यास, 1985), खुला दरवाजा और पेड़ (कविता संग्रह, 1995), चक्रव्यूह तथा अन्य कहानियाँ (कहानी संग्रह, 2004), गोरखा शिखर पुरुष श्रृंखला- प्रथम गोरखा स्वाधीनता सेनानी दलबहादुर गिरी (2015), अमर शहीद दुर्गा मल्ल (2015), नेताजी सुभाषचंद्र बोस के गायक सिपाही राम सिंह ठकुरी (2016) तथा नेपाली साहित्य-संस्कृति-संगीत के धरोहर मास्टर मित्रसेन थापा (2017)। मौलिक कृतियाँ (नेपाली में) - अभिषेक (बाल उपन्यास, 1980), साक्षात्कार (1987), आधारशिला (कविता संग्रह, 1993), भाषा मान्यता (संपादकीय, 1995), अंग्रेजी में - Sikkim study series : Language and Literature (2004)”²

उनकी मौलिक तथा अनूदित कृतियों की सूची व्यापक है- हिंदी, नेपाली तथा अंग्रेजी में प्रकाशित अनेक पुस्तकें साथ ही बहु-भाषायी अनुवाद कार्य भी उनके कार्य-क्षेत्र में शामिल हैं। संपादन एवं अनुवाद (नेपाली से हिंदी में) के क्षेत्र में सुवास दीपक का कार्य अत्यंत उल्लेखनीय है। लेखक द्वारा प्राप्त जानकारी के अनुसार- 1. भारतीय नेपाली कहानी विशेषांक- हिंदी मासिक ‘साहित्य निर्झर’ का

¹ वर्मा, नवारुण. (1983). जय आइ असम. पृ. 173-174

² दीपक, सुवास. (2021). अरण्य रोदन. लेखक परिचय

यह विशेषांक अक्टूबर 1974 में चंडीगढ़ से प्रकाशित हुआ था, जो भारतीय नेपाली कहानियों का हिंदी में प्रकाशित प्रथम अनुवाद है। यह विशेषांक ‘भारतीय नेपाली साहित्य’ की अवधारणा को सार्थक आधार प्रदान करने की दिशा में प्रथम प्रयास था। 2. प्रस्ताव (हिंदी मासिक पत्रिका, पटना के जून, 1981 के अंक के ‘भारतीय नेपाली कथा खंड’ में छह भारतीय नेपाली कहानियों के अनुवाद प्रकाशित 3. ‘मंगल जीवन पुष्पाञ्जलि’ गौरी कुमाई द्वारा लिखित जीवनी का अनुवाद। 4. भारतीय नेपाली कहानियाँ (निर्माण प्रकाशन द्वारा प्रकाशित भारतीय नेपाली कहानियों का प्रकाशित प्रथम संकलन) 5. क्रूसीफाइड प्रश्न तथा अन्य कविताएँ (कवि पवन चामलिङ ‘किरण’ की नेपाली कविताओं का हिंदी अनुवाद, 1996)। यह भारतीय नेपाली कविताओं का हिंदी में अनूदित प्रथम संकलन है। 6. शिखर कथा कोश (भाग 1 और भाग 2) में कमलेश्वर द्वारा संपादित 35 भारतीय नेपाली कहानियों का अनुवाद, पुस्तकायन, नई दिल्ली द्वारा प्रथम भाग 1999 और दूसरा भाग 2000 में प्रकाशित) 7. सहयात्री (लैनसिंह बाड्डेल के प्रसिद्ध लघु उपन्यास ‘लंगडाको साथी’ का अनुवाद, निर्माण प्रकाशन द्वारा 2001 में प्रकाशित) 8. क्रमशः (पी.अर्जुन के खंडकाव्य ‘क्रमशः’ का अनुवाद, विश्व मानव भारतीय नेपाली साहित्य प्रकाशन, दार्जिलिंग द्वारा 2002 में प्रकाशित) 9. अथाह (विन्ध्या सुब्बा के साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त नेपाली उपन्यास का अनुवाद), निर्माण प्रकाशन द्वारा 2003 में प्रकाशित 10. जीवन चित्र (अमर बानियाँ ‘लोहोरो’ की कविताओं का अनुवाद) 11. छोटी-छोटी खुशियाँ (राजेन्द्र भण्डारी की नेपाली कविताओं का अनुवाद), रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, 2021 एवं दो खंडों में भारतीय नेपाली कहानियाँ- एक सदी का सफर एवं ‘अनुवाद संदर्भ: हिंदी में भारतीय नेपाली साहित्य’ जैसी पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं। इसके साथ ही इन्हें कई महत्वपूर्ण राष्ट्रीय स्तरीय सम्मान व पुरस्कार प्राप्त हुए हैं- भानुरत्न साहित्य पुरस्कार, शिवकुमार राई स्मृति पुरस्कार, 2003 में साहित्य अकादेमी अनुवाद पुरस्कार (डोगरी उपन्यास ‘पल-खिन’ के नेपाली अनुवाद के लिए), पारसमणि प्रधान पुरस्कार, गत पाँच दशक से अधिक समय से नेपाली भाषा और साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए अनुवाद और सृजनात्मक लेखन के माध्यम के द्वारा अनवरत योगदान के लिए नेपाली साहित्य

अध्ययन समिति द्वारा काशीराज प्रधान आजीवन पत्रकारिता पुरस्कार, नेपाली साहित्य की श्रीवृद्धि में सुदीर्घ योगदान के लिए बद्रीनारायण प्रधान स्मृति पुरस्कार 2024 एवं दान खालिङ साहित्य सम्मान आदि प्रमुख हैं।

अरण्य रोदन' उपन्यास का प्रकाशन वर्ष 1985 में हुआ। यह सिक्किम से हिंदी में लिखा गया पहला उपन्यास है। 'अरण्य रोदन' शीर्षक वास्तव में एक लोकप्रिय मुहावरा है, जिसका अर्थ है- निष्फल निवेदन, व्यर्थ प्रयत्न अथवा किसी बात को अनसुना करना। उपन्यास विद्यालयी और शैक्षिक व्यवस्था के संदर्भ में इस प्रकार के 'अरण्य रोदन' सदृश्य विसंगतियों का चित्रण प्रस्तुत करता है। उपन्यास में भ्रष्ट राजनीतिक संरचनाओं, भ्रष्टाचार और तंत्र-व्यवस्था पर उपन्यासकार ने तीक्ष्ण आलोचना की है। उपन्यास में शिक्षा के आदर्श एवं व्यवहारिक विसंगतियों को उजागर करते हुए दिखाया गया है कि कैसे शिक्षा-व्यवस्था के पैरोकार प्रधानाध्यापक, शिक्षक तथा अन्य कर्मी शिक्षा-प्रणाली के भ्रष्टतंत्र को अपरिवर्तित रखते हुए केवल रूपात्मक परिवर्तन करते हैं। "आजादी के बाद भ्रष्ट व्यवस्था ने इस देश में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक दिवालियापन की जो विकलांग स्थिति पैदा की उसी की प्रतिक्रिया है सुवास दीपक का यह उपन्यास "अरण्य रोदन"। भ्रष्ट राजनीति अपनी कुर्सी सुरक्षित रखने के लिए कैसे धिनौने हथकंडे अपनाती है और बेईमान अफसरों और राजनेताओं के संसर्ग से उत्पन्न चमचावाद किस तरह पूरे तंत्र पर हावी होता जा रहा है, यह लेखक ने देश के भावी नागरिकों का निर्माण करने वाली संस्था और उसके कर्णधार शिक्षकों के कार्य-कलापों द्वारा अपनी विशिष्ट भाषा और शैली में पाठकों को बताने का दुस्साहस किया है। अपने-आपको सबसे अधिक शोषित-पीड़ित बताने वाला शिक्षित वर्ग किस तरह देश की भावी पीढ़ी का निर्माण कर रहा है इसकी सही तस्वीर इस उपन्यास में देखने को मिलती है।"¹

यह उपन्यास अपने उद्देश्य, कथावस्तु और भाषा के स्तर पर एक सामान्य रचना है, परंतु अधिक विषयगत बिंदुओं के कारण कोई केंद्रीय पात्र पाठकों के सम्मुख नहीं आ पाता। इसके साथ जो

¹ दीपक, सुवास. (2021). अरण्य रोदन. (भूमिका से उद्धृत). पृ. 05

इस रचना की सबसे बड़ी कमजोरी है कि सांस्कृतिक एवं परिवेशगत स्तर पर इसमें पाठकों को सिक्किम राज्य की उतनी चर्चा देखने को नहीं मिलती जितना कि ‘सिक्किम के प्रथम हिंदी उपन्यास’ होने के नाते इसमें होनी चाहिए थी। वीना सुमन के शब्दों में कहें तो- “शिक्षा व्यवस्था की खामियों को केंद्र में रखा गया है कि किस तरह से दूध वाले से लेकर रिक्शे वाले, सब्जी वाले तक इस पूरी व्यवस्था की चपेट में आते हैं। वो भले ही समझे या न समझे। शिक्षा व्यवस्था का मामला यह है कि वह अच्छे नागरिक बनाती है साथ ही वह विवके भी उत्पन्न करती है कि आप देश में चल रही किसी भी घटना पर निष्पक्ष भाव से अपनी बात रख सकें। लेकिन यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब मूल्य की जगह शिक्षा आँकड़ों और सफलता पर केंद्रित हो तो दिक्कत होगी ही जैसे साक्षरता हमारे यहाँ आँकड़ों पर निर्भर है। उपन्यास में तमाम प्रधानाध्यापक बदलते हैं और तमाम स्कूली शिक्षक बदलते हैं, लेकिन उसकी संरचना में रंच मात्र का भी परिवर्तन हमें नहीं दिखाई देता है।”¹ साहित्यिक दृष्टि से हिंदी लेखन के क्षेत्र में ‘अरण्य रोदन’ उपन्यास का अपना विशेष महत्त्व है। इस उपन्यास के माध्यम से सुवास दीपक ने सिक्किम में हिंदी लेखन की दिशा का नया मार्ग प्रशस्त करने का कार्य किया है।

‘मुक्ति’ (डॉ. महेंद्रनाथ दुबे)

‘मुक्ति’ के रचनाकार डॉ. महेंद्रनाथ दुबे हैं। यह कृति 1999 में वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुई। डॉ. दुबे का जन्म 07 जनवरी 1942 को असम के कछार जिले के सिलचर में तारणीगंज बाजार के पास ओड़ाबिल (वर्तमान पैलापुल) में हुआ। इनकी प्रारंभिक शिक्षा सिलचर में ही हुई। तत्पश्चात्, मैट्रिक और इंटर कॉलेज की पढाई इन्होंने मऊ और आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश) से की। इसके बाद इन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से बी.ए., एम. ए. तथा पीएच.डी. की डिग्री हासिल की। आगे

¹ सुमन, डॉ. वीना. (जनवरी-दिसंबर, 2022). स्कूली शिक्षा व्यवस्था बनाम अरण्य रोदन. (कंचनजंघा पत्रिका, संपादक: प्रदीप त्रिपाठी). पृ. 78

चलकर ये हिंदी के प्रोफेसर हुए। इन्होंने डॉक्टर भीम राव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा में हिंदी विभाग के अध्यक्ष, प्रोफेसर एवं कला संकायाध्यक्ष के रूप में अपनी सेवाएं दी।

महेंद्रनाथ दुबे ने साहित्य के क्षेत्र में गद्य-पद्य, अनुवाद, संपादन तथा शोधपरक लेखन किया। “हिंदी, बांग्ला, असमीया तथा संस्कृत आदि भाषाओं के विद्वान डॉ. दुबे का अनुवाद के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इनकी रचनाओं में- शब्द-पारदर्शी (कविता), विक्षुब्ध वर्तमान, आजमगढ़ जिले की बोली, पूर्वोत्तर भारतीय भाषाओं के सर्वनाम, साहित्य की प्रामाणिक पहचान और और पाठ-विज्ञान, अनुवाद कार्य दक्षता, भाषा, भाषाविज्ञान और राजभाषा हिंदी (भाषाविज्ञान), मुक्ति, छिन्नमस्ता छोरियाँ, मुक्ति-युद्ध की गंगा-मेघना (उपन्यास), गीत विद्यापति-संपादित गौरव ग्रन्थ, हिंदी गद्य के प्रतिरूप (सह संपादन), सूर-वाङ्मय सूची, सूरसागर खण्ड प्रथम पाठवैज्ञानिक संपादन, राजनीति के कवित्त-कविदेवीदास का पाठ संपादन, भारतीय भाषाकोश, भारतीय भाषा परिचय, तत्सम कोश, भारतीय उपन्यास साहित्य, भारतीय साहित्य (के. हि. निदेशालय के उक्त पाँचों गवेषणा ग्रंथों में असमीया विशेषज्ञ के रूप में योगदान), बांग्ला की चर्चित कहानियाँ, बांग्ला की गौरवशाली (दोनों बांग्ला मूल से अनूदित), अपराजेय, ढलान की बेला (दोनों असमीया मूल से अनूदित कहानी संग्रह); प्रजा का राज, पाखी घोड़ा, हरी पत्तियों की गाथा, सांझ की बेला, अस्त-राग, जो मन टूटा अपना, सोनाम (उक्त सातों असमीया मूल से अनूदित उपन्यास)।”¹

सौमित्रम अपनी पुस्तक ‘असम में हिंदी के विकास में हिंदीभाषियों का योगदान’ में लिखते हैं- “इन्हें भारत सरकार की ओर से पद्म भूषण सम्मान से सम्मानित किया गया। इसके अतिरिक्त भी इन्हें कई पुरस्कार एवं सम्मान मिले, जिसमें बेस्ट पब्लिस्ट थीसिस ऑफ द इयर के लिए डालमिया पुरस्कार, गीत-विद्यापति के लिए हिंदी संस्थान, लखनऊ से स्तरीय लेखन पुरस्कार, मैन, ऑफ़ द इयर-

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (2014). मुक्ति-युद्ध की गंगा-मेघना. (लेखक परिचय)

2005 स्मृति मेडल, फ्रेंडशिप फोरम ऑफ़ इंडिया द्वारा सर्टिफिकेट ऑफ़ एक्सेलेन्स ऑफ़ इंडिया इंटरनेशनल, नई दिल्ली उल्लेखनीय है।”¹

महेंद्रनाथ दुबे का उपन्यास मुक्ति उत्तर-पूर्व भारत, विशेषकर सिलहट-बराक घाटी क्षेत्र के सामाजिक और सांस्कृतिक यथार्थ का सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत करता है। इसकी विशेषता यह है कि लेखक स्वयं इसी क्षेत्र के निवासी रहे हैं, इसलिए कथा में आंचलिकता केवल बाहरी आवरण नहीं, बल्कि गहरे अनुभवों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। उपन्यास विभाजनकालीन उथल-पुथल और सांप्रदायिक तनावों के बीच मनुष्य, समाज और संस्कृति की जिजीविषा की खोज करता है। उपन्यास के केंद्र में पंडित सुलोचन प्रसाद हैं, जिनके पूर्वज अंग्रेज चाय बागान मालिकों को संस्कृत पढ़ाने उत्तर भारत से असम आए थे। स्थानीय समाज में उनकी प्रतिष्ठा गहरी है और विभाजन के समय जब शरणार्थियों की समस्या विकट हो जाती है, वे अपनी संपूर्ण भूमि सरकार को दान कर देते हैं। यह त्याग न केवल उनके मानवतावादी चरित्र को उभारता है, बल्कि यह भी संकेत करता है कि उत्तर भारतीय, स्थानीय और अंग्रेज समुदायों ने मिलकर बराक घाटी की बहुस्तरीय पहचान को निर्मित किया था। दंगों में मारे गए विनय कुमार मिश्र की नवजात बच्ची, जिसे सांवरी बचाकर लाती है, उपन्यास का प्रतीकात्मक केंद्र है। सुलोचन प्रसाद उसका नाम ‘मुक्ति’ रखते हैं- एक ऐसा रूपक जो स्वतंत्रता, विभाजन और सांस्कृतिक पहचान के बीच फंसे इस भूगोल की त्रासदी को अभिव्यक्त करता है। यह ‘मुक्ति’ उस समाज की मुक्ति का प्रतीक है जो स्वतंत्र तो हुआ, परंतु सांस्कृतिक रूप से और अधिक बँट गया।

उपन्यास में सुलोचन प्रसाद के साथ चौधरी वलूलहक और अंग्रेज कार्नेल भी समन्वय, सौहार्द और मानवीय मूल्य-परंपरा के स्तंभ के रूप में उभरते हैं। वलूलहक गांधीवादी सिद्धांतों के प्रति दृढ़ हैं और सांप्रदायिक तनाव शांत करने के लिए वे अपने बेटे को हत्या का दोष स्वीकार करने को भी तैयार कर लेते हैं। कार्नेल, जो अंग्रेज होते हुए भी औपनिवेशिक मानसिकता से दूरी बनाए रखते हैं, स्थानीय

¹ सौमित्रम्. (2021). असम में हिंदी के विकास में हिंदीभाषियों का योगदान, पृ. 81

जनता के प्रति सहानुभूति और सम्मान के साथ प्रस्तुत किए गए हैं। ये तीनों पात्र मिलकर उस सांस्कृतिक समरसता का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसे विभाजन ने झकझोर दिया।

कियांग्माइची का मणिपुरी स्त्री-चरित्र उपन्यास में स्त्री-मुक्ति और मानसिक शक्ति का आयाम जोड़ता है। चीन युद्ध के दौरान सैनिकों की हिंसा का सामना करने के बाद वह उस सोच के विरुद्ध खड़ी होती है, जो स्त्री को केवल देह तक सीमित करती है। वह मुक्ति के जीवन में मानसिक शक्ति और प्रतिरोध की प्रेरणा बनती है, जो उपन्यास को स्त्री-विमर्श के संदर्भ में भी महत्वपूर्ण बनाता है।

उपन्यास की पृष्ठभूमि 1947 से 1962 तक फैले राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उथल-पुथल से निर्मित है। विभाजन के बाद सिलहट का एक बड़ा भाग पूर्वी पाकिस्तान में चला गया, जिससे इस क्षेत्र की भाषायी अस्मिता संकट में पड़ गई। बांग्लाभाषियों को असमीया भाषा के थोपे जाने का भय सताने लगा, जिसके कारण भाषा आंदोलन जैसी परिस्थितियां उत्पन्न हुईं। लेखक ने इस संघर्ष को केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अस्तित्व की लड़ाई के रूप में चित्रित किया है। बराक घाटी की चाय बागान अर्थव्यवस्था भी उपन्यास में संवेदनशील रूप से चित्रित है। अंग्रेजी शासन के पश्चात् भारतीय मालिकों के हाथ में जाने पर मजदूरों की स्थिति और बिगड़ गई। गरीबी, नशे और कर्ज ने उन्हें लगभग दासता की स्थिति में धकेल दिया। इस आर्थिक विडंबना को उपन्यासकार सामाजिक तनाव की जड़ों से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं।

भाषिक दृष्टि से उपन्यास बहुभाषिक यथार्थ का जीवंत उदाहरण है। बांग्ला, भोजपुरी, मणिपुरी और अंग्रेजी का उपयोग इसे प्रामाणिक और आंचलिक रंग प्रदान करता है। हालांकि कुछ प्रसंग कथानक से हटकर विस्तार पाते हैं, फिर भी उपन्यास पूर्णतः अपने ऐतिहासिक-सामाजिक उद्देश्यों को प्रभावी ढंग से व्यक्त करता है।

समग्र रूप से 'मुक्ति' विभाजन, शरणार्थी संकट, भाषायी संघर्ष, स्त्री-सशक्तिकरण और मनुष्यता की खोज का बहुस्तरीय आख्यान है। यह उपन्यास केवल घटनाओं का पुनर्स्मरण नहीं, बल्कि इस प्रश्न का गहन विश्लेषण है कि स्वतंत्रता के बाद भी समाज किस तरह अधूरी मुक्ति के साथ जीने को

विवश रहा। महेंद्रनाथ दुबे ने इस उपन्यास में पूर्वोत्तर भारत की सांस्कृतिक पीड़ा, ऐतिहासिक विडंबना और मानवीय संघर्ष को जिस संवेदनशीलता से उकेरा है, वह इसे पूर्वोत्तर भारत से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण कृति बना देता है।

‘देवी माँ’ (रमेंद्र कुमार पाल)

‘देवी माँ’ त्रिपुरा की पृष्ठभूमि पर केंद्रित उपन्यास है। इसके रचयिता रमेंद्र कुमार पाल हैं तथा प्रकाशन 2000 में बालार्क प्रकाशन, सिलचर द्वारा हुआ। इसे त्रिपुरा में लिखित हिंदी का प्रथम उपन्यास माना जाता है। रमेंद्र कुमार पाल का जन्म 30 सितंबर 1942 को धर्मनगर, त्रिपुरा में हुआ, वे आजीवन हिंदी प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित रहे। पंकज मिश्र ‘अटल’ द्वारा संपादित साक्षात्कार केंद्रित पुस्तक में इस तथ्य का उल्लेख है कि- “रमेंद्र कुमार पाल ने सन् 1989 में रागना गाँव में त्रिपुरा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना की और इस समिति के माध्यम से आपने त्रिपुरा जैसे हिंदीतर भाषी प्रांत के विभिन्न अंचलों में हिंदी के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से विभिन्न कार्यक्रमों को आयोजित किया। त्रिपुरा में हिंदी भाषा लोगों के मध्य स्वीकारी जाए, लोग हिंदी को अपना सकें और जन सामान्य के बीच हिंदी पहुँच सके, इस दृष्टि से आपने त्रिपुरा सरकार से विद्यालय स्तर पर हिंदी को एक विषय के रूप में अध्ययन हेतु स्वीकृति प्रदान करने एवं लागू करने की माँग की। रमेंद्र कुमार पाल ने हिंदी और बांग्ला दोनों ही भाषाओं में लेखन किया है। ‘देवी माँ’ उपन्यास, ‘जानवरों की क्रांति’ तथा ‘वर्षा वंदन’ शिशु नाटिका, ‘उत्तरण’ नाटक आपकी रचनाएँ हैं, इसके अतिरिक्त त्रिपुरा की कोकबोरोक भाषा पर भी आपका अच्छा खासा अधिकार था। आपकी पुस्तक ‘कोकबोरोक भारती’ भी काफी चर्चित पुस्तक है।”¹ सन् 1965 के हिंदी विरोधी आंदोलन के बाद त्रिपुरा में हिंदी के प्रचार-प्रसार की गति धीमी हो गई, इसके बावजूद रमेंद्र कुमार पाल निरंतर हिंदी के संवर्धन के प्रति क्रियाशील रहे। 26 दिसंबर, 2018 को रमेंद्र कुमार पाल का निधन हो गया।

¹ अटल, पंकज मिश्र. (2020). साक्षात्कार : संभावना और यथार्थ, पृ. 309

‘देवी माँ’⁵² पृष्ठों का एक लघु उपन्यास है। इस उपन्यास के केंद्र में 1971 में बांग्लादेश की मुक्ति वाहिनी के संघर्ष और उसके परिणामस्वरूप नरसंहार, धर्मांतरण, महिलाओं के साथ बलात्कार जैसे प्रकरण का विवरण है। इस दौरान त्रिपुरा के लोगों पर जो प्रभाव पड़ा, उसकी कथा लेखक ने इस उपन्यास में चित्रित करने का प्रयास किया है। सीता गोस्वामी उर्फ सुल्ताना बेगम उर्फ देवी माँ इस उपन्यास की मूल पात्र है, जो उपन्यास में ज्ञान, धर्म और मानवता का प्रतीक है। अपना सर्वस्व समाप्त हो जाने के बाद भी स्वयं तथा औरों के जीवन का संबल बनकर जीवन सार्थक करने के लक्ष्य को प्राप्त देवी माँ भुवनभास्कर चौधुरी, सविता कपाली, वसंत चक्रवर्ती, मरियम सबके लिए एक आदर्श बनकर उभरती है तथा बांग्लादेश के निर्माण के बाद बीती त्रासदी में सब कुछ नष्ट हो जाने के बाद भी एक नई शुरुआत का संदेश देती है। उपन्यास के पात्रों में हिंदू, मुस्लिम एवं ईसाई तीनों धर्मावलंबियों के प्रतिनिधि हैं, किंतु उपन्यास में किसी भी प्रकार की धार्मिक कट्टरता का चित्रण नहीं मिलता। अपने अंतिम समय में देवी माँ का कथन उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करता है- “मुझे कोई देवी देवता समझकर कृपया आप लोग धोखे में न रहे, मैं हिंदू भी हूँ और मुसलमान भी। दुनिया के सभी धर्मों के प्रति मेरी श्रद्धा अटूट है लेकिन...कुसंस्कारों से मुझे सरुत नफ़रत है। हम मनुष्य हैं और मानवता ही हमारा धर्म है, बस यही हमारे समन्वय सेवाश्रम का एकमात्र आदर्श है। जात-पात छुआछूत आदि से हमारा कोई संपर्क नहीं है।”¹ यह उपन्यास देश-विभाजन और बांग्लादेश-उदय के परिवेश को दर्शाता है, किंतु इसमें त्रिपुरा का उल्लेख केवल नाममात्र ही हुआ है, जिससे वहां की ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पक्ष की कोई विशेष जानकारी नहीं मिल पाती।

‘मातमुर जामोह’ (जुमसी सिराम ‘नीनो’)

‘मातमुर जामोह’ के रचनाकार जुमसी सिराम ‘नीनो’ हैं, यह उपन्यास 2015 में अरुणाचल प्रदेश के स्थानीय प्रकाशक श्री केम्बोम बागरा के माध्यम से प्रकाशित हुआ। जुमसी सिराम अरुणाचल

¹ पाल, रमेश कुमार. (2000). देवी माँ. पृ. 44

के प्रथम अरुणाचली हिंदी लेखकों में गिने जाते हैं, उनका जन्म 23 मार्च, 1968 को तादिन गाँव (अरुणाचल) के निकट हुआ। व्यक्तिगत संघर्षों और शैक्षिक-अवरोधों के बावजूद उनका लेखन सक्रिय रहा। उनके लेखन से प्रभावित होकर कई संस्थाओं (अरुण नागरी संस्था, अरुणाचल हिंदी समिति, गालो विकास संगठन, अरुणाचल प्रदेश लिटरेरी सोसाइटी, हिंदी साहित्य सम्मेलन, ल्यूमिनस लुमर दाई लिटरेरी अवार्ड-2023 आदि) ने उन्हें सम्मानित किया है। सिराम जी की अब तक प्रकाशित पुस्तकें हैं- ‘शिला का रहस्य’, ‘जायीबोने’, ‘गालो लोक जीवन’, ‘मातमुर जामोह’, ‘मेहनत से मुकाम तक’ और ‘तोदक बासार के ऐतिहासिक पत्र’ आदि। इसके अतिरिक्त उनके कई लेख देश की विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। वे अपने गाँव तादिन में परिवार के साथ रहते हैं और खेती करते हैं।

‘मातमुर जामोह’ उपन्यास एक गुमनाम अरुणाचली स्वतंत्रता सेनानी आबोर जनजाति के मातमुर जामोह की खोज पर केंद्रित है। कथानक में वर्ष 1911 के एक ऐतिहासिक कृत्य (अंग्रेज अफसर नोएल विलियमसन की हत्या) तथा उसके पश्चात उस क्रांतिकारी के रहस्यमय आकलन और गायब हो जाने से जुड़े प्रश्नों का अन्वेषण प्रस्तुत है। उपन्यास में उठाए गए प्रश्न- क्या उसे फाँसी दी गई?, कालापानी भेजा गया?, या रास्ते में खो दिया गया?, ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों को उजागर करते हैं, जिनका राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्मृति-निर्माण में विशेष महत्त्व है। उपन्यास के एक उद्धरण के अनुसार- “खैर, बहुत दिनों तक खोजबीन, अध्ययन तथा अनुसंधान के पश्चात् भी मातमुर जामोह का कोई सूत्र हासिल नहीं हो सका। वह देशभक्त वीर अंग्रेजों के हाथों रहस्यमयी ढंग से गुम हो गया। क्या उसे फाँसी पर चढ़ा दिया गया? यदि कालापानी ही भेज दिया था तो वहां सेलुलर जेल में उसका रेकॉर्ड दर्ज क्यों नहीं है? या रास्ते में ही बंगाल की खाड़ी में उसे फेंक दिया गया? क्या बेतरह प्रताड़ित के कारण या जानलेवा तकलीफ देने के कारण कालापानी पहुँचने से पहले उसकी जान निकल गई थी? इस प्रकार के कई सवाल मातमुर के ऊपर खड़े हो जाते हैं। केवल ‘नीनो’ या आदी जनजाति को ही नहीं भारत सरकार को उन प्रश्नों का प्रत्युत्तर पाना बाकी है।”¹ यह उपन्यास ऐतिहासिक तथ्यों तथा लोकाख्यान के

¹ ‘नीनो’, जुमसी सिराम. (2015). मातमुर जामोह. पृ. 119

आधार पर लिखा गया है, इसीलिए कहीं-कहीं पर काल्पनिकता का सम्मिश्रण देखने को मिलता है, किंतु लेखक द्वारा एक गुमनाम स्वतंत्रता सेनानी की कथा को प्रकाश में लाने का प्रयास सराहनीय है।

‘उस रात की सुबह’ (तुम्बम रीबा जोमो ‘लिली’)

‘उस रात की सुबह’ अरुणाचल प्रदेश के पृष्ठभूमि में नारी की सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ पर आधारित उपन्यास है, इसकी लेखिका तुम्बम रीबा जोमो ‘लिली’ हैं। इसका प्रकाशन 2018 में पृथ्वी प्रकाशन, नई दिल्ली से हुआ। यह लेखिका की प्रथम औपन्यासिक कृति है, वे हिंदी शिक्षाविद व सामाजिक कार्यकर्ता भी हैं। इन्होंने राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, अरुणाचल प्रदेश से एम.ए. और बी.एड. की शिक्षा प्राप्त की है। ये ईटानगर के देरा नातुंग शासकीय महाविद्यालय में बतौर हिंदी प्राध्यापक कार्यरत हैं एवं स्वतंत्र लेखन में सक्रिय हैं। वर्ष 2020 में प्रकाशित ‘काताम’ लोककथा संग्रह इनकी अद्यतन रचना है।

‘उस रात की सुबह’ उपन्यास गालो समुदाय में प्रचलित ‘नेप्प न्यीदा’ (पेट विवाह) प्रथा के विकृत असर और नारी संवेदनाओं पर केंद्रित है। प्रतिनिधि पात्र यापी के माध्यम से उपन्यास सामाजिक रूढ़ियों, वधू-मूल्य प्रथा और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न नारी-विलुप्ति/प्रताड़ना का ज्वलंत चित्र प्रस्तुत करता है। लेखिका स्वयं लिखती हैं कि यह कृति समाज के उन प्रथागत मुखौटों को हटाने का प्रयत्न है, जो सदियों से नारी के विरुद्ध भेदभाव को संरक्षित रखते हैं। अपनी रचना के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए तुम्बम लिखती हैं कि- “मेरी यह रचना महज रचना नहीं बल्कि एक प्रयास है, समाज के चेहरे पर पड़ी उस नकाब को उतार फेंकने की जो सदियों से नारी के प्रति पूर्वाग्रह सामाजिक पक्षपात भरी व्यवस्था से बनी हुई पुराने घिसी-पिटी ढकोसलों भरी गलत आस्थाओं को सामाजिक नियम एवं पारंपरिक रीति-रिवाजों का हवाला देकर स्त्रियों पर डालते हुए उन्हें प्रताड़ित करने वालों के खिलाफ।”¹ अपने इस उद्देश्य में लेखिका सफल प्रतीत होती है।

¹ ‘लिली’, तुम्बम रीबा जोमो. (2018). उस रात की सुबह, पृ. 06-07 (भूमिका से)

“उपन्यास में पंक्ति-दर-पंक्ति स्त्री दुर्दशा की कथा कही गई है। सभी स्त्री पात्र पारंपरिक मूल्यों की मार झेलते हुए कराहती दिखाई देती हैं। इस कराह में मौन है, स्वीकार है, अगर कुछ नहीं है तो वह है- प्रतिरोध। इन मूल्यों के प्रति प्रतिरोध तामार और काताम नामक दो पुरुष पात्र दर्ज करवाते हैं। इन दोनों पात्रों के प्रतिरोध से यह बात स्पष्ट होती है कि शिक्षा के माध्यम से ही रूढ़िवादी परंपराओं से मुक्त हुआ जा सकता है। उपन्यास में इन मूल्यों के प्रति स्त्री पात्र अपना विरोध दर्ज करवातीं तो उपन्यास अपने उद्देश्य में और अधिक सफल होता। बीच-बीच में लेखिका स्वयं अपनी बात कहने के लिए उपस्थित होती हैं, जिससे कथा रस में बाधा उत्पन्न होती है। यही बात यदि वह अपने पात्रों से कहलवाती तो उपन्यास की रोचकता और अधिक बढ़ जाती।”¹ उपन्यास में स्त्री पात्रों की पीड़ा को सशक्त रूप में प्रस्तुत करने का आशय सफल है, परंतु कथानक में लेखिका का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप (स्वकथन) कई स्थानों पर कथा के प्रवाह में विघ्न डालता है। भाषा-प्रयोग में हिंदी-उर्दू मिश्रित संवाद और स्थानीय श्रमगीतों का प्रयास सराहनीय है, पर कुछ व्याकरणगत अशुद्धियाँ तथा स्थानीय गीत-संस्कृति का अनुवाद-प्रयोग कुछ अटपटे प्रतीत होते हैं। कुल मिलाकर, स्थानीय सामाजिक कुरीतियों पर आवाज उठाने के दृष्टिकोण से यह उपन्यास महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

‘हिडिंबा’ (डॉ. देवेनचंद्र दास ‘सुदामा’)

‘हिडिंबा’ उपन्यास के रचयिता डॉ. देवेनचंद्र दास ‘सुदामा’ हैं, यह कृति 2018 में प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुई। डॉ. सुदामा असम के कामरूप जिले के कलाकार एवं विद्वान हैं तथा हिंदी व असमीया दोनों भाषाओं में सृजनशील रहे हैं। इनकी प्रकाशित कृतियाँ, हिंदी में- ‘असमा सुषमा कामरूपा’, ‘असमा सुषमा मनोरमा’ (हिंदी निबंध), ‘जनारण्य का नन्हा शेर’ (बाल उपन्यास), ‘अमृत तत्त्व का अनुसंधान’, ‘आध्यात्म संस्कृति की रूपरेखा’, ‘मानवतावादी और राष्ट्रवादी महापुरुष शंकरदेव और माधवदेव’, ‘मुझे आने दो माँ’, ‘कामरूप और कामरूपी संत

¹ यादव, कुमार. अरविंद. (जनवरी-दिसंबर, 2022). पूर्वोत्तर भारत की औपन्यासिक अभिव्यक्ति. (कंचनजंघा पत्रिका, संपादक : प्रदीप त्रिपाठी). पृ. 24

साहित्यकार' हैं। असमीया में प्रकाशित कृतियाँ- 'छाबिन आलुक' (कार्बी रामायण), 'शत्रुंजय' (मध्ययुगीन असमीया काव्य), 'बड़ाइल के शिखर-शिखर पर', 'कुंभस्नान प्रसंग', 'प्रलाप' (काव्य संग्रह), 'अहिंसा आरु शुद्धाहार', 'जैन दर्शनर रूपरेखा' हैं। डॉ. देवेन चंद्र दास 'सुदामा' का अधिकांश लेखन पौराणिक एवं परंपरागत विषयों पर केंद्रित रहा है। इनकी साहित्यिक सेवाओं के लिए इन्हें 1997 में भारत सरकार द्वारा भारतेन्दु हरिश्चंद्र एकता पुरस्कार, उ.प्र. हिंदी संस्थान द्वारा 2002 में सौहार्द्र सम्मान, असम सरकार द्वारा 2005 में साहित्यकार पुरस्कार, मध्य प्रदेश सरकार द्वारा 2009 में भारत भूषण सम्मान, 2012 में हिंदी साहित्य सम्मलेन प्रयाग द्वारा साहित्य वाचस्पति सम्मान और केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा द्वारा गंगाशरण सिंह हिंदी सेवी सम्मान आदि कई साहित्यिक सम्मानों व पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है।

यह उपन्यास महाभारत के संदर्भित पात्र हिडिंबा (भीम की पत्नी) पर केंद्रित है। लेखक पुराने महाकाव्यात्मक कथ्य को पूर्वोत्तर भारतीय संदर्भ में पुनःस्थापित करते हुए यह दर्शाते हैं कि हिडिंबा जैसे चरित्रों का सामाजिक-आख्यान में स्थान और स्थानीय पहचान कितनी व्यापक हो सकती है- “हिडिंबा महाभारत का एक अवहेलित चरित्र है। वह भीम की पत्नी थी, पर मर्यादा नहीं मिली। राक्षसी थी, कहीं-कहीं देवी के रूप में दर्शाया गया। हिडिंबा हिमाचल की थी या पूर्वोत्तर की। स्थानीय लोग उसे अपनी-अपनी बेटी मानते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में हिडिंबा को पूर्वोत्तर की बेटी के रूप में दर्शाया गया है- वह अनार्य तो थी, पर राक्षसी के रूप में नहीं, देवी के रूप में। हिडिंबा, हिडिंब की भगिनी थी। वर्तमान नागालैंड के अंतर्गत धनश्री (धनसिरी) नदी के तट पर अवस्थित है। घटोत्कच हिडिंबा का पुत्र था। पूर्वोत्तर के अधिकाधिक लोग गर्व के साथ कहते हैं कि हम घटोत्कच के वंशज हैं, यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है, जो राष्ट्रीय एकता को दर्शाता है।”¹ उपन्यास में महाभारतकालीन पात्रों व स्थानों (जैसे डिंबपुर, दीमापुर, मणिपुर संबंध) का उल्लेख पूर्वोत्तर और शेष भारत के धार्मिक-सांस्कृतिक संपर्क का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। लेखक ने भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि- कथा-संयोजन में

¹ 'सुदामा', देवेन चंद्र. (2018). हिडिंबा. (पुस्तक के फ्लैप से उद्धृत)

काल्पनिकता का प्रयोग हुआ है, तथापि यह रचना पूर्वोत्तर क्षेत्र की पौराणिक स्मृति और स्थानीय गर्व की भावना को साहित्यिक कलेवर में पुनर्स्थापित करने का सफल प्रयास है।

‘जंगली फूल’ (जोराम यालाम नाबाम)

अरुणाचल प्रदेश की आबोतानी समुदाय पर केंद्रित जोराम यालाम का उपन्यास ‘जंगली फूल’ का प्रथम प्रकाशन 2019 में अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली से हुआ। हाल ही में इसका पुनर्प्रकाशन राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली से हुआ है। लेखिका जोराम यालाम का पूरा नाम जोराम यालाम नाबाम हैं। इनका जन्म अरुणाचल प्रदेश के लोअर सुबनसिरी जिले के जोराम गाँव में 5 मार्च, 1978 को हुआ। इनकी स्कूली शिक्षा वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान से हुई और राजीव गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, अरुणाचल प्रदेश से इन्होंने हिंदी में एम.ए. और पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त की। अरुणाचल प्रदेश के बहुसंख्यक न्यीशी समुदाय से आने वाली जोराम यालाम आदिवासी अस्मिता, संस्कृति और अस्तित्व के प्रश्नों में गहरी दिलचस्पी रखती हैं। इन विषयों पर वे पत्र-पत्रिकाओं में लगातार लिखती रही हैं। उनकी प्रकाशित कृतियाँ हैं- ‘साक्षी है पीपल’(कहानी-संग्रह), ‘जंगली फूल’(उपन्यास), ‘गाय-गेका की औरतें’ (संस्मरण), ‘न्यीशी समाज : भाषिक अध्ययन’(शोध), और ‘तानी कथाएँ : अरुणाचल के तानी आदिवासी समाज की विश्वदृष्टि’(लोक कथा विश्लेषण)। जोराम यालाम आदिवासी अस्मिता, संस्कृति एवं अस्तित्व के प्रश्नों के प्रति संवेदनशील हैं, यह उपन्यास विशेषतः आबोतानी (न्यीशी) समुदाय के सामाजिक-जीवन तथा नायकीय मिथक पुरुष तानी के साहसिक कर्मों को केंद्र में रखता है। तानी का चित्रण साहस, उदारता, बुद्धि और भावुकता से युक्त नायकीय प्रवृत्ति के रूप में किया गया है, कथानक में उसका पराक्रम, बंधन से मुक्ति तथा व्यक्तिगत संबंधों की जटिलताएँ प्रभावी ढंग से अंकित हैं। कथा-बिम्बों में लेखिका का काव्यात्मक लेखन कई स्थानों पर दृष्टिगोचर होता है, पात्रों की भावनात्मक अनुभूतियों का सूक्ष्म चित्रण उपन्यास की विशेषता है। रचनाकार द्वारा जंगलीपन को आदिवासी दृष्टिकोण के समकक्ष स्थापित करके मानव-जीवन के सहज, स्वाभाविक तथा स्वतंत्र मूल्यों

पर बल दिया गया है- जिसे लेखिका ने उपन्यास की भौतिक व मनोवैज्ञानिक स्थितियों के माध्यम से उकेरा है। इस उपन्यास के संदर्भ में अमिष वर्मा का मतव्य है- “जंगली फूल’ उपन्यास के संदर्भ में आदिवासियत, प्रेम और स्त्री- ये तीन कोण हैं, जहाँ से इस उपन्यास को देखा जाना चाहिए। आदिवासियत का मतलब है- आदिवासी नजरिया। इस उपन्यास में जो जंगलीपन है वही दरअसल आदिवासी नजरिया है। जीवन के प्रति, मनुष्यता के प्रति एक सहज, स्वाभाविक, उन्मुक्त, किसी भी किस्म के बनावटीपन से सर्वथा मुक्त, अपने नियमों से अनुशासित, खुद को और सबको मुक्त देखने वाला नजरिया। इसी को जंगलीपन के रूप में लेखिका ने इस उपन्यास में रेखांकित किया है।”¹ यह कृति जनजातीय जीवन और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को सफलता से प्रतिबिंबित करती है। चूंकि यह उपन्यास आबोतानी समुदाय के पुरखे तानी (जो कि एक मिथकीय पात्र हैं) पर केंद्रित है, अतः यह उपन्यास अरुणाचल के विस्तृत ऐतिहासिक संदर्भों पर अपेक्षित प्रकार से विस्तार नहीं कर पाता। किंतु न्यीशी समाज की दंतकथाओं में तानी का चित्रण जिस प्रकार भोगी, बहुपत्नीक तथा स्वार्थी व्यक्ति के रूप में किया गया है, यह रचना तत्कालीन परिवेश का विश्लेषण करते हुए उस मिथक को तोड़ने का प्रयास करने के साथ-साथ उसकी पुनर्व्याख्या की मांग करती है।

‘मिनाम’ (मोर्जुम लोयी)

‘मिनाम’ (एक आदिवासी स्त्री की संघर्षकथा) लेखिका मोर्जुम लोयी द्वारा रचित है, इसका प्रकाशन वर्ष 2020 में बोधि प्रकाशन, जयपुर से हुआ। मोर्जुम लोयी का जन्म अरुणाचल प्रदेश के काबू ग्राम में एक गालो परिवार में हुआ, इन्होंने स्नातकोत्तर शिक्षा राजीव गांधी विश्वविद्यालय, अरुणाचल प्रदेश से प्राप्त की और वर्तमान में बीनी याडा गवर्नमेंट कॉलेज, लेखी, ईटानगर में हिंदी प्राध्यापक के रूप में कार्यरत हैं।

¹ वर्मा, अमिष. (अक्टूबर-2021). आदिवासियत, स्त्री और प्रेम का त्रिकोण : जंगली फूल. (अक्षरा पत्रिका). पृ. 48

इनकी प्रकाशित रचनाओं में ‘मिनाम’ (उपन्यास), ‘ननम पोनू’ (गालो जनजाति के लोकगीत) तथा ‘काबू’ (गालो जनजाति की लोककथाएं एवं अन्य कहानियां) प्रमुख हैं। यह उपन्यास गालो जनजाति की सामाजिक-जीवन, परंपराएं तथा विशेषकर आदिवासी स्त्री के संघर्ष को सजीवता से प्रस्तुत करता है। लेखिका स्वयं उसी सामाजिक परिवेश से होने के कारण उपन्यास में सत्यनिष्ठ और प्रत्यक्ष अनुभवजन्य अभिव्यक्ति प्रस्तुत करती हैं, जिससे कथा वास्तविकता के निकट प्रतीत होती है। “लेखिका मोर्जुम लोयी का उपन्यास ‘मिनाम’ गालो जनजाति की एक आदिवासी स्त्री की संघर्ष कथा है, जिसको पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए लेखिका आदिवासी समाज व विशेषकर आदिवासी स्त्री की जिंदगी किन भीषण कष्टों व संघर्षों से गुजरती है, उसका लेखा-जोखा पाठकों के समक्ष बिना किसी शब्दजाल या कल्पना का सहारा लिए परोसती हैं और पाठक जान पाते हैं कि कितना अँधेरा है अभी भी उनकी जिंदगी में और कितनी रोशनी की किरण पहुँच पाई है अभी तक। लेखिका क्योंकि स्वयं गालो आदिवासी परिवार से हैं, इसलिए उपन्यास सच के बहुत करीब व जस-का-तस लिखा हुआ लगता है।”¹ कृति स्त्री-केंद्रित संघर्ष-कथाओं का संवेदनशील प्रतिनिधित्व देती है, परंतु रचनाकौशल के दृष्टिकोण से कुछ असंतुलन दिखता है- कथा में किसी एक पात्र को केंद्रीयता नहीं मिली है तथा उपन्यास का कथानक समय-रेखा के स्थान पर कभी-कभी डायरी-शैली के प्रयोग से व्यवधान ग्रस्त लगता है। ‘पेट विवाह’ तथा ‘अपहरण विवाह’ जैसी सामाजिक कुरीतियों के प्रभाव को उपन्यास ने प्रभावी रूप से उजागर किया है, तथापि आधे भाग में यामी की और आधे में मिनाम की गाथा होने से कथानक का एकीकृत फोकस कुछ हद तक क्षीण दिखाई पड़ता है। स्त्री-जीवन पर आधारित हिंसा, घरेलू उत्पीड़न और सामाजिक आशाओं का यथार्थपरक चित्रण उपन्यास की प्रमुख उपलब्धि है, यह गालो समाज की स्त्री-केंद्रित परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए क्षेत्रीय लेखन में एक महत्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत करता है।

¹ जुगरान, सुधा. (अप्रैल-सितंबर, 2022). रोशनी की बाट जोहता आदिवासी समाज : मिनाम. (वाङ्मय पत्रिका, संपादक : एम.फ़ीरोज़ खान). पृ.89

‘मेरी आवाज़ सुनो’ (जुमसी सिराम ‘नीनो’)

लेखक जुमसी सिराम (नीनो) का परिचय उपर्युक्त (मातमुर जामोह) में दिया जा चुका है। जुमसी सिराम अरुणाचल प्रदेश के प्रारंभिक तथा प्रमुख हिंदी कथाकारों में गिने जाते हैं। ‘मेरी आवाज़ सुनो’ की रचना सबसे पहले 1983 में पटना की एक मासिक पत्रिका में धारावाहिक के रूप में प्रकाशित हुई। पुस्तकाकार रूप में इसका प्रथम प्रकाशन 1992 में हुआ, तत्पश्चात् 2003 में और फिर 2021 में अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली से प्रकाशन हुआ।

यह उपन्यास गालो जनजाति की सामाजिक विकृतियाँ- विशेषकर ‘नेप्प न्यीदा’ (पेट विवाह), दहेज संबंधी मांगें तथा अन्य रूढ़िवादी प्रथाएँ- को तीव्रता से उजागर करता है। कथा-रचना में स्त्रियों की पीड़ा, सामाजिक अपेक्षाएँ और उनके विरुद्ध प्रतिरोध-प्रयास स्पष्ट दृष्टि से प्रस्तुत है, उपन्यास का अंत स्त्री शिक्षा और समाज के विकास पर आशावादी संदेश के साथ पूरा होता है। कृति में स्थानीय शब्दावली- जैसे- ‘पोका’, ‘न्यीन न्यीदा’, ‘ओमे-न्यीदा’, ‘आन्ने ओ आन्ना’ का समावेश उपन्यास के सांस्कृतिक प्रतीकत्व को प्रबल बनाता है। उपन्यास की कथावस्तु मुख्य पात्र आयि-आलुक के इर्द-गिर्द ही घूमती है। कहीं-कहीं पर लेखक ने आयि को यायि लिख दिया है, हो सकता है कि प्रचलित दंतकथा में आयि को यायि भी कहा गया हो, किंतु इससे पाठक के मन में भ्रामक स्थिति पैदा होती है। पंक्तिगत व्यवहार और स्थानीय अनुष्ठानिकताओं का सजीव चित्रण अरुणाचल की सांस्कृतिक विरासत को पठनीय रूप में संजोता है। इस उपन्यास के माध्यम से अरुणाचल प्रदेश की स्वतंत्र स्त्रियों की दुखांतक, परंतु संघर्षशील यात्रा का प्रभावी विवरण मिलता है। शिल्पगत रूप से इस उपन्यास में स्थानीयता का समन्वय मिलता है तथा साहित्यिक रूप से क्षेत्रीय हिंदी साहित्य में इसकी विशेष पहचान स्थापित होती है।

3.2 अन्य स्थानीय रचनाकारों के उपन्यासों में उत्तर-पूर्व की अभिव्यक्ति

भारत का उत्तर-पूर्व प्राकृतिक सौंदर्य, सांस्कृतिक विविधता और आतिथ्य के लिए सदैव विख्यात रहा है। इसकी भौगोलिक विशेषताएँ- पहाड़, नदियाँ, उपजाऊ मैदान और बहुभाषी समाज, प्राचीन काल से ही लोगों को आकर्षित करती रही हैं। कृषि, पर्यटन, खनिज, व्यापार और धार्मिक केंद्रों के कारण यह क्षेत्र, यद्यपि भौगोलिक रूप से कभी-कभी दुर्गम रहा, पर विभिन्न कारकों से संपर्क में बना रहा। परिणामतः पूर्वोत्तर की मिश्रित समाजिक-सांस्कृतिक संरचना में समग्र भारतीयता का प्रतिबिंब दिखाई देता है। भाषा एवं साहित्य किसी एक समुदाय की पैतृक संपत्ति नहीं होते, इसलिए उत्तर-पूर्व की संवेदनाएँ, जीवन-शैली और लोकधर्म हिंदी साहित्य के विभिन्न विधाओं में चित्रित हुई, विशेषकर वहां यात्रा, प्रवास या अध्ययन करने आए अन्य स्थानीय लेखकों के माध्यम से। इन रचनाकारों ने क्षेत्र की प्रकृति, लोकजीवन, धार्मिक परंपराएँ, संघर्ष और अस्मिता पर संजीदा लेखन किया और परिणामतः स्थानीय लेखकों का भी हिंदी में सृजन-प्रवर्तन बढ़ा। इस संदर्भ में अन्य स्थानीय रचनाकारों का योगदान साहित्यिक रूप से अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। कुछ प्रमुख कृतियों का संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है-

‘ब्रह्मपुत्र’ (देवेंद्र सत्यार्थी)

‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास असम की सामाजिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का समृद्ध चित्रण प्रस्तुत करता है। रचयिता देवेंद्र सत्यार्थी (जन्म : 28 मई 1908, संगरूर, पंजाब) लोक-संग्रह और लोक-साहित्य अध्ययन के वरिष्ठ साधक थे। उन्होंने भारत, नेपाल, भूटान, श्रीलंका आदि स्थानों में लोकगीतों का संकलन किया और हिंदी में लोक-साहित्य को प्रतिष्ठित स्थान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सत्यार्थी की रचनात्मक-सूची व्यापक है- कविता, लोकगीत, उपन्यास, संस्मरण तथा आत्मकथा आदि। इनकी रचनाओं में, उपन्यास- ‘रथ के पहिए’, ‘दूध गाछ’, ‘कठपुतली’, ‘ब्रह्मपुत्र’, ‘कथा कहो उर्वशी’, ‘तेरी कसम सतलुजा। संस्मरण- ‘क्या गोरी क्या सांवली’, ‘रेखाएं बोल उठी। लोकगीत- ‘धरती गाती है’, ‘धीरे बहो गंगा’, ‘बेला फूले आधी रात’, ‘बाजत आवे ढोल’। आत्मकथात्मक

लेखन- 'चाँदसूरज के बीरन', 'नीलयक्षिणी', 'सफरनामा पाकिस्तान' आदि हैं। वर्ष 1977 में भारत सरकार की ओर से इन्हें पद्मश्री, पंजाबी अकादमी, दिल्ली द्वारा सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार सम्मान और 1999 में लाइफटाइम फेलोशिप प्रदान की गई। 12 फरवरी, 2003 को इनका निधन हो गया।

‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास का कथा केंद्र दिसाँगमुख (शिवसागर के नजदीक) नामक ब्रह्मपुत्र के तट पर बसा गाँव है, जिसके चरित्रों के माध्यम से लेखक ने पूरे असम के जनजीवन की बहुआयामी छवि को उभारा है। उपन्यास में विभिन्न जातियों के बीच सहअस्तित्व तथा कुछ सामाजिक प्रथाओं में विद्यमान भेदभाव दोनों का संवेदनशील विवेचन मिलता है। स्वतंत्रता-पूर्व भारतीय समाज की कड़वी सच्चाई- जिनमें भ्रष्टाचार, बेगार, पुलिस-अत्याचार और व्यवसायियों के शोषण के प्रसंग-उपन्यास में स्पष्ट रूप से अंकित हैं। उपन्यास की रूप-रचना (शिल्प) से संबंधित समीक्षात्मक टिप्पणियों में यह संकेत मिलता है कि कथानक का बिखराव ही इसका विशिष्ट गुण है- वह बहुलता को दर्शाने के लिए अनेक पात्रों और घटनाओं का जाल बुनता है। इस बिखराव के बावजूद या इसी कारण यह रचना आंचलिक परिस्थितियों का समेकित चित्र प्रस्तुत करने में सफल रहती है। बिहू, नदी-संबंधी कहावतें, पान-सुपारी की संस्कृति व बाढ़ जनित समस्याएँ उपन्यास को असमीया सामाजिक-संस्कृति का प्रतीक बनाती हैं। उपन्यास के समापन में 1950 के भूकंपोत्तर बाढ़ से दिसाँगमुख-समुदाय के पुनर्निर्माण का दृश्य सामाजिक धैर्य और प्राकृतिक-प्रतिकूलताओं के प्रतिरोध का प्रतीक बनकर उभरता है।

मधुरेश के शब्दों में “कथानक की दृष्टि से 'ब्रह्मपुत्र' एक सुगठित उपन्यास का उदाहरण नहीं है। उसका बिखराव ही वस्तुतः उसका वैशिष्ट्य है। अपनी प्रकृति में आंचलिक उपन्यास के पर्याप्त निकट होने पर भी वह आंचलिक उपन्यास नहीं है। न यह गोपीनाथ महान्ती के 'अमृत संतान', 'माटी-मटाल' और 'परजा' की तरह विभिन्न आदिवासी समुदायों पर केंद्रित है, न ही सतीनाथ भादुड़ी के 'ढोड़ाय चरित मानस' की तरह, जिसके बारे में कभी कहा गया था कि रेणु ने इस पर ही कार्बन रखकर अपने 'मैला आंचल' की प्रतिलिपि तैयार की है। अंचल के कुछ प्रतिनिधि पात्रों के माध्यम से एक अंचल विशेष की कहानी है। जिस सामाजिक-सांस्कृतिक बहुलता को देवेंद्र सत्यार्थी अंकित करना चाहते हैं

उसके लिए 'ब्रह्मपुत्र' का बिखराव वाला यह शिल्प ही एक गुण बन जाता है। इसके बिना इस बहुलता को एक अंतरसूत्र में पिरो पाना मुश्किल था।¹ इस प्रकार ब्रह्मपुत्र उपन्यास में एक नायक की तरह उभरता है। ब्रह्मपुत्र को आलोचकों द्वारा आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में रखा गया है, वह असम-विशेष की परंपराओं तथा लोक-जीवन को हिंदी पाठक-समुदाय के समक्ष प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करता है।

‘मुक्तावती’ (बलभद्र ठाकुर)

मणिपुर की पृष्ठभूमि पर केंद्रित उपन्यास ‘मुक्तावती’ का प्रकाशन 1958 में हिंदी भवन, इलाहाबाद से हुआ तथा इसके लेखक बलभद्र ठाकुर हैं। बलभद्र ठाकुर (जन्म 1910) हिंदी के आंचलिक उपन्यासकार के रूप में चर्चित हैं। संस्कृत में साहित्याचार्य की उपाधि प्राप्त करने के साथ उन्होंने अंग्रेजी व रूसी साहित्य का भी गहन अध्ययन किया। यात्रा-प्रेम और क्षेत्रीय अध्ययन उनकी लेखनशीलता की विशेषता थी। वे राहुल सांकृत्यायन की यात्रापूर्ण शैली से प्रभावित रहे तथा अनेक उपन्यासों के अतिरिक्त यात्रापरक रचनाएँ भी रचे। बलभद्र ठाकुर ने शाण्डिल्य उपनाम से दो यात्रापरक साहित्य ‘कैलाश मानसरोवर’ एवं ‘कालापानी’ की रचना की। अपने क्रांतिकारी स्वभाव के कारण इन्हें लंबे समय तक अंग्रेजों से छिपकर भी रहना पड़ा। स्वाधीनता के बाद बलभद्र ठाकुर ने हिंदी भाषा के प्रचार हेतु देशभर में यात्राएं की, उसी क्रम में इन्होंने कई उपन्यासों की रचना की।

बलभद्र ठाकुर के प्रमुख उपन्यास हैं- ‘मुक्तावती’(1958), ‘आदित्यनाथ’(1958), ‘नेपाल की वो बेटी’(1959), ‘देवताओं के देश में’(1960), ‘घने और बने’(1961) तथा ‘लहरों की छाती पर’(1962)। ये उपन्यास क्रमशः मणिपुर, कुल्लू, नेपाल, हिमाचल प्रदेश, दार्जिलिंग तथा अंडमान-निकोबार पर केंद्रित हैं। इसके अतिरिक्त इनकी रचनाओं में ‘भूमिका’(उपन्यास), ‘बोलती

¹ मधुरेश, (जुलाई-सितंबर, 2017). सांस्कृतिक बहुलता की यायावरी विशेष संदर्भ : ब्रह्मपुत्र. (कथा क्रम पत्रिका, संपादक : शैलेन्द्र सागर). पृ.09

रेखाएं'(संस्मरण), 'विश्व नागरिक गाँधी'(जीवनी) प्रमुख हैं। मौलिक लेखन के अलावा बलभद्र ठाकुर ने कई रूसी और बांग्ला कृतियों का हिंदी में अनुवाद किया।

‘मुक्तावती’ उपन्यास मणिपुर के सामाजिक-राजनीतिक परिवेश, राजशाही, धार्मिक संस्थाओं तथा जन-विद्रोह के प्रतिरोध को कथानक के केंद्र में रखती है। उपन्यास में उपेक्षित धार्मिक प्रथाओं विशेषकर ब्रह्मसभा द्वारा थोपे गए अन्यायजनक नियमों के विरुद्ध संघर्ष तथा मानवीय अधिकारों की वकालत दिखाई देती है। अंग्रेजों की कूटनीति और राजाओं के दमन करने की मनोवृत्ति का भी सुंदर चित्रण हुआ है। सारी शक्ति, अधिकार विरोधी पक्ष में होने के बावजूद सत्ता पक्ष की विजय से संघर्ष करने वाले लोगों को लड़ाई जारी रखने की प्रेरणा भी इस उपन्यास से मिलती है। इस उपन्यास में मणिपुर की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक वातावरण का सुंदर चित्रण किया गया है तथा तत्कालीन युवाओं के बीच ‘गांधीवाद’ और मार्क्सवाद के द्वंद्व को भी चित्रित किया गया है।

“इस उपन्यास के केंद्र में मणिपुरी संस्कृति (विशेष रूप से मैतेई संस्कृति) और राजशाही के प्रति मणिपुरी जनता का विद्रोह है। उपन्यास की कथावस्तु ऐतिहासिक है, लेकिन विधागत आवश्यकता के अनुरूप काल्पनिकता का सहारा लिया गया है। उपन्यास के कथानक का काल 1925 ई. से 1936 ई. के बीच का है। मणिपुरी समाज और संस्कृति को स्वर देते समय लेखक न तो सुंदरता के प्रति अधिक मोह प्रदर्शित करता है और न ही विकृतियों से विमुख होता है। इसी कारण मणिपुरी समाज, संस्कृति, राजशाही और विद्रोह आदि को अभिव्यक्त करने में उपन्यासकार सफल हुआ है। उपन्यास के दो प्रमुख पात्र शैलेंद्र और चंद्रावत मार्क्सवाद और गांधीवाद की पैरोकारी करते दिखाई देते हैं। चूँकि लेखक स्वयं मार्क्सवादी रुझान का था और इसके साथ ही उपन्यास के प्रकाशन वर्ष के दौरान वामपंथ और गांधीवाद की विशेष चर्चा रही है। इस कारण लेखक इन दोनों विचारधाराओं से प्रभावित होकर कल्पना शक्ति के सहारे दो भिन्न विचार रखने वाले युवाओं को सृजित कर मार्क्सवाद और गांधीवाद के द्वंद्व को विकसित करते हुए समन्वय के बिंदु तक पहुँचता है। इसके संदर्भ में इंद्रचंद्र नारंग लिखते हैं कि- ‘इस मुक्तावती उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है- विचारों और आदर्शों का समन्वय।

गांधीवाद और मार्क्सवाद का अर्थात् गांधीवादी और मार्क्सवादी पात्रों के सिद्धांतगत द्वंद्व के भीतर से उनके पारस्परिक प्रेमपूर्ण जीवन का बड़ा सुंदर समन्वय बलभद्र ठाकुर ने प्रतिष्ठित किया है।' इन दोनों पात्रों के वैचारिक चिंतन के केंद्र में भारत एक राष्ट्र के रूप में निरंतर बना रहता है।”¹ उपन्यास धार्मिक संस्थागत अन्याय, सामाजिक शोषण तथा व्यापारिक स्वार्थ द्वारा निर्मित कृत्रिम अकाल जैसे परिवर्तनों का विवेचन करता है, साथ ही स्त्री-संघर्ष और उनके सामाजिकीकरण में भागीदारी का चित्रण भी मिलता है। शिल्पगत दृष्टि से उपन्यास ऐतिहासिक आधार पर कल्पनात्मक विस्तार का सहारा लेकर सामाजिक-राजनीतिक विमर्श को पठनीय बनाया गया है।

‘रक्तयात्रा’ (कृष्णचंद्र शर्मा ‘भिक्षु’)

कृष्णचंद्र शर्मा ‘भिक्षु’ कृत ‘रक्तयात्रा’ उपन्यास का प्रकाशन 1978 में नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली से हुआ। कृष्णचंद्र शर्मा ‘भिक्षु’ साहित्यिक जगत में अपने उपनाम ‘भिक्षु’ से प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म 12 अक्टूबर, 1923 को कनखल (हरिद्वार) में हुआ। शैक्षिक पृष्ठभूमि में इन्होंने बौद्ध धर्म, पालि भाषा का अध्ययन किया तथा काशी हिंदू विश्वविद्यालय से बी.ए., एम.ए. तथा एल.एल.बी. की उपाधियाँ ग्रहण कीं। 1940 से सक्रिय लेखन-जीवन में रहते हुए उनकी कृतियाँ प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं, वे आकाशवाणी से जुड़े और महानिदेशक के पद से सेवानिवृत्त हुए। इनकी रचनाओं में- फ्रांसिसी रक्त क्रांति पर आधारित ‘मौत की सराय’, नागालैंड और नगा जातियों पर आधारित ‘रक्तयात्रा’, पुर्तगाली उपनिवेश के कालवृत्त में गोवा के कैथोलिक समाज पर आधारित ‘अस्तंगता’, बुद्ध के जीवन और काल से प्रेरित ‘महाश्रमण सुनें’ प्रमुख हैं। इसके अलावा ‘नागफनी’, ‘खेती’, ‘चंदनवन की आग’ ‘कदाचित्’ आदि उपन्यास, तीन कहानी संग्रह एवं ‘अंबपाली’ और ‘रूपलक्ष्मी’ नाटक चर्चित कृतियाँ हैं। ‘भिक्षु’ को वर्ष 1997 में साहित्य अकादमी

¹ यादव, कुमार. अरविंद. (जनवरी-दिसंबर, 2022). पूर्वोत्तर भारत की औपन्यासिक अभिव्यक्ति. (कंचनजंघा पत्रिका, संपादक : प्रदीप त्रिपाठी). पृ. 20

द्वारा शलाका सम्मान से सम्मानित किया गया। 29 सितंबर, 2003 को ब्रेन हेमरेज की वजह से इनकी मृत्यु हो गई।

‘रक्तयात्रा’ उपन्यास नागा जनजीवन, उनकी सांस्कृतिक दशा और राजनीतिक संघर्षों पर केंद्रित एक महत्वपूर्ण कृति है। उपन्यास तीन भागों में विभक्त है- प्रथम- आदिम जीवन : शिरच्छेदक, द्वितीय- युगांतर गोरे आए, तृतीय- नया सवेरा : संघर्षों की राह है। “इन तीन अध्यायों के अंतर्गत क्रमशः उनकी आदिम जीवन-शैली और नरमुंड शिकार, ब्रिटिश सरकार से संघर्ष और नए वृहत्तर नागालैंड के स्वप्न के साथ भारत सरकार से संघर्ष है। प्रथम अध्याय पूर्ण रूप से काल्पनिक होकर संस्कृति की कथा कहता है। यह पूरा अध्याय हेड हंटर्स, त्यौहार और जीवन की आदिम परिस्थितियों पर केंद्रित है। इस अध्याय में लेखक संस्कृति की कथा कहने में सफल हुआ है, लेकिन जहाँ वह प्रेमी-प्रेमिका के यौन संबंधों की कथा कहता है, वहाँ वह अनावश्यक प्रतीत होता है। ऐसा वर्णन पाठकीय रुचि को विकसित करने के उद्देश्य से किया गया हो, ऐसा संभव है। द्वितीय और तृतीय अध्याय ऐतिहासिक है। उपन्यास का प्रारंभिक पात्र केदीलिनो है, जिसकी तीन पीढ़ियों के माध्यम से नागाओं के समग्र जीवन का विकासोन्मुख चित्र अंकित किया गया है।”¹ दूसरे अध्याय में संगठित नागा राष्ट्र की संकल्पना उभर कर सामने आती है, जिसका प्रतिनिधि पात्र वियाले है। तीसरी पीढ़ी के माध्यम से उनका उद्देश्य और अधिक स्पष्ट होने लगता है, जिसके परिणामस्वरूप संघर्ष भी तीव्र हो जाता है। इस पीढ़ी के प्रतिनिधि पात्र विजेलू और विचो हैं। विजेलू और विचो के संवाद से नागा राष्ट्र के लिए हो रहे संघर्ष और यथार्थ की विसंगतियाँ स्पष्ट रूप से सामने आती हैं।

इस उपन्यास में नागालैंड की राजनीतिक अस्थिरता और सशक्त जनांदोलन में पृथक देश की मांग जैसे महत्वपूर्ण मुद्दे उठकर हमारे सामने आते हैं। “नागा नेशनल काउंसिल के गठन के साथ ही नागा राज्य की मांग शुरू हो गई। कुछ नागा भारत के अंदर रहना चाहते थे, तो कुछ अलग राष्ट्र की

¹ यादव, कुमार. अरविंद. (जनवरी-दिसंबर, 2022). पूर्वोत्तर भारत की औपन्यासिक अभिव्यक्ति. (कंचनजंघा पत्रिका, संपादक : प्रदीप त्रिपाठी). पृ. 21

मांग कर रहे थे। नागा नेशनल काउंसिल के सेक्रेटरी टी. अलिबा भारत के अंदर अपना स्वतंत्र अस्तित्व एवं अस्मिता चाहते थे। ‘मुझे इस बात की परवाह नहीं कि हिंदुस्तान में कांग्रेसी हुकूमत हो या पाकिस्तानी। मगर हमें एक अलग नस्ल होने के नाते अपने ढंग से अपना भविष्य बनाने और सवारने का हक होना चाहिए।’ अलिबा का स्वप्न यह था कि हम देश के अंदर एक स्वतंत्र नागा देश कि तरह रहे अर्थात् हमारी सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वतंत्रता में किसी बाहरी लोगो का दखल न हो।¹ इस हिंसक संघर्ष पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए विचो अपने भाई विजेलू से पूछती है कि ‘यह तो बताओ कि यह खून-खराबा कब तक चलता रहेगा?... पर उन नागाओं की जान का बदला किससे लोगे जिन्हें खुद हमने मारा है।’ विचो का यह प्रश्न इस ओर भी संकेत करता है कि समय-समय पर नागाओं के बीच से ही इस सशस्त्र संघर्ष की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिह्न खड़े किए जाते रहे हैं। इन दोनों पात्रों में से विजेलू नागा राष्ट्र को सच होते देखने के लिए किसी भी हद तक जा सकता है तो विचो स्वाधीन नागा राष्ट्र और उसके लिए हो रहे संघर्षों पर प्रश्नवाचक चिह्न छोड़ते हुए चलती है। उपन्यास नागालैंड की राजनीतिक अस्थिरता, पृथक्तावादी आंदोलन तथा संसाधित आंतरिक प्रश्नों का साहित्यिक विवेचन प्रस्तुत करता है। निस्संदेह यह कृति नागा संस्कृति और संघर्षों को समझने के लिए उपयोगी स्रोत है, क्योंकि यह इतिहास, संस्कृति और व्यक्तिगत अनुभूतियों को संयोजित कर एक समग्र दृष्टि प्रस्तुत करती है।

‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ (श्रीप्रकाश मिश्र)

‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ का प्रथम संस्करण 1996 में पार्श्व प्रकाशन (अहमदाबाद) से प्रकाशित हुआ, संशोधित संस्करण 2011 में यश पब्लिकेशन, दिल्ली ने प्रकाशित किया। मिजोरम की पृष्ठभूमि पर केंद्रित ‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ उपन्यास के लेखक श्रीप्रकाश मिश्र हैं। लेखक श्रीप्रकाश मिश्र (जन्म 01 सितंबर 1950, कुशीनगर, उत्तर प्रदेश) तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.ए.(राजनीति शास्त्र)

¹ पाण्डेय, अतुल कुमार. (अप्रैल-जून, 2017). हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर के स्वर. (मधुराक्षर पत्रिका, संपादक : बृजेन्द्र अग्निहोत्री). पृ.56-57

और एल-एल.एम. की शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने प्रशासनिक सेवाओं में रहते हुए उत्तर-पूर्व का व्यापक अनुभव अर्जित किया और साहित्यिक गतिविधियों के साथ कविता-संपादन भी किए। ये वर्तमान में इलाहाबाद में रहते हैं और कविता की अनियतकालीन पत्रिका 'उन्नयन' का संपादन/प्रकाशन करते हैं। 'रामविलास शर्मा सम्मान' के संस्थापक व पुरस्कर्ता हैं।

श्रीप्रकाश मिश्र की प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ हैं : पाँच कविता-संग्रह- 'मौन पर शब्द'(1986), 'शब्द के बारीक तारों से'(2009), 'शब्द संभावनाएँ हैं'(2012), 'मिअमाड़'(2015), 'कि जैसे होना खतरनाक संकेत'(2017)। पाँच उपन्यास- 'जहाँ बाँस फूलते हैं'(1996), 'रूपतिल्ली की कथा'(2006), 'जो भुला दिए गए'(2013), 'आपरेशन खुदाबख्श'(2015), 'नदी की टूट रही देह की आवाज'(2020)। चार आलोचना की पुस्तकें- 'यह जो आ रहा है हरा'(1992), 'यूरोप के आधुनिक कवि'(2011), 'युग की नब्ज'(2012), 'रचना का सच'(2013) के अलावा चिन्तन की दो पुस्तकें- 'सोच की दृगछाया' (2017) और 'उत्तर आधुनिक अवधारणाएँ'(2018) प्रकाशित हैं।

'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास मिजोरम के 1966 के विद्रोह तथा उससे उपजी सामाजिक-राजनैतिक हलचलों पर केंद्रित है। कथास्थल डोपा नामक गाँव है जहाँ मिजो पात्रों के साथ-साथ बाहरी इलाकों से आये हिंदी व दक्षिण भारतीय व्यक्तित्व भी उपस्थित हैं। उपन्यास में विद्रोही गतिविधियों का अनुशीलन, प्रशासनिक तंत्र की कारगुजारियाँ, भ्रष्टाचार, तथा मिशनरी शिक्षा के प्रभाव जैसे विषय कठोरता से उभरकर आते हैं। लेखक का प्रशासनिक अनुभव उपन्यास की संवेदनशीलता और घटनाओं की विश्वसनीयता बढ़ाता है। गोपाल प्रधान के शब्दों में- "काफी लंबे समय तक प्रशासनिक हल्कों में रहने के कारण श्रीप्रकाश मिश्र को प्रशासनिक मशीनरी की गहरी जानकारी थी और दीर्घावधि के कारण मिजो समाज से निकट का परिचय भी। इसलिए उपन्यास में शासन तंत्र के प्रत्येक अंग की कारगुजारियों का विस्तृत वर्णन है। मिजो भाषा के शब्द भी प्रचुरता से प्रयुक्त हुए हैं। मिजो भाषा का एक शब्द है-वाइ। इसका अर्थ है बाहरी। केंद्रीय शासन-प्रशासन से जुड़ा प्रत्येक व्यक्ति मिजो समाज के लिए बाहरी है। मिजो लोग भीख माँगना सबसे निकृष्ट-काम समझते हैं। बाहरी लोगों अर्थात् केंद्रीय

सरकार के कार्यालयों से चीजें उठा लाएँगे, कभी-कभी जबर्दस्ती भी, पर भीख नहीं माँगेंगे। कथाभूमि डोपा नाम गाँव है। इसी गाँव को केंद्र में रखते हुए कथाकार ने मिजो समाज की अंदरूनी हलचल को पकड़ने की कोशिश की है।”¹

इस उपन्यास में विद्रोहियों को मुख्यधारा में लाने के प्रयास भी हुए हैं। पर जो विद्रोही मुख्यधारा में लौट आते हैं, उनके प्रति उनके संघर्षरत विद्रोही साथियों के मन में बैर भाव पनपते हुए भी दिखाया गया है। मिजोरम की राजनीति, संस्कृति, समाज का बड़ा सटीक चित्रण इस उपन्यास में देखने को मिलता है। रिश्ततखोरी, भ्रष्टाचार के भी कई प्रसंग इस उपन्यास में हैं। ईसाई पादरियों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में किये गए प्रयासों का भी चित्रण मिलता है।

शिल्प की दृष्टि से इस उपन्यास में पूर्वदीप्ति शैली के द्वारा 1966 के मिजो विद्रोह की पृष्ठभूमि को दिखाया गया है। उपन्यास की कथा को 37 भागों में विभक्त किया गया है। उपन्यास के अंत में रुआलखूमा की नौ कविताएँ दी गई हैं जिससे उपन्यास यथार्थ के अधिक निकट लगता है। देवराज के शब्दों में- “इस तरह ‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ उपन्यास मिजोरम की धमनियों से गुजरते हुए दुनिया के हर उस भू-भाग तक ले जाता है, जहाँ उथल-पुथल है, विद्रोह है, संघर्ष है। किसी उपन्यासों को रचना-सिद्धांतों या साहित्य-शास्त्र की कसौटी पर कसने में रूचि रखने वालों को इस कृति के भाषायी-दोष निश्चय ही बहुत खटकेंगे। उनके लिए श्रीप्रकाश मिश्र को एकदम क्षमा नहीं किया जा सकता, लेकिन उपन्यास की शैलिक-कसावट, काव्यात्मक-प्रयोग, पाठकों की विश्वसनीयता अर्जित करने के लिए काव्य-परिशिष्ट की कल्पना, मानव-हृदय की गहराई में झाँकने की सामर्थ्य, प्रकृति-निरिक्षण की शक्ति, सहज-स्वभाविक चरित्रांकन, जंगल और ग्राम जीवन की नितांत प्रमाणिक जानकारी, कल्पना-शक्ति के प्रयोग आदि विशेषताओं के लिए उनकी प्रशंसा भी करनी होगी। कला के क्षेत्र में यथार्थ और यथा तथ्यता के मध्य रेखांकन योग्य दूरी होती है। कई बार लेखक इस अंतर को न समझते हुए यथार्थ के नाम पर तथ्यात्मकता के प्रति समर्पित रहता है। श्रीप्रकाश मिश्र का यह उपन्यास इस दोष से मुक्त है। लेखक

¹ प्रधान, गोपाल. (2018). हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत. हिंदी और पूर्वोत्तर. (संपादक : कृपाशंकर चौबे). पृ.135-136

अच्छी तरह जानता है कि तथ्यों को मथ कर यथार्थ कैसे पाया जाता है और उसने अपनी इस क्षमता का भरपूर उपयोग भी किया है। इस दृष्टि से यह हिंदी का विशिष्ट उपन्यास कहा जा सकता है।¹ इस उपन्यास में मिजोरम की जनजातीय संस्कृति और नागरिक-समस्या का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। मिजोरम में बांस फूलने की घटना (माऊटम) और उससे फैले अकाल की समस्या से उत्पन्न जनता का विद्रोह जैसे ऐतिहासिक प्रसंगों को कलात्मकता से चित्रित किया गया है।

‘शिखर और सीमाएँ’ (शरत कुमार)

लेखक शरत कुमार द्वारा रचित ‘शिखर और सीमाएँ’ का प्रकाशन 1998 में हिंद पॉकेट बुक्स, हरियाणा से हुआ। शरत कुमार (जन्म 29 जुलाई 1937, मेरठ) राष्ट्रीय रक्षा अकादमी से प्रशिक्षित पूरा कर नौसेना सेवा में रहे, बाद में औद्योगिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं में सक्रिय रहे। इनकी कहानियों का पहला संग्रह 1966 में प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष ये नौसेना से त्यागपत्र देकर एक औद्योगिक प्रतिष्ठान से जुड़े। कलकत्ता और कश्मीर में निजी और सार्वजनिक औद्योगिक प्रतिष्ठानों का अध्यक्ष रहने के बाद 1989 में अपने पद से इस्तीफा देकर अपना पहला उपन्यास, ‘शिखर और सीमाएँ’ लिखा। बाद में, एक प्रख्यात शिक्षण संस्थान ‘आईएमटी’ गाजियाबाद के प्रमुख रहे। वे हिंदी व अंग्रेजी दोनों भाषाओं में लिखते हैं तथा फ़ोटोग्राफी में भी गहरी रुचि रखते हैं।

प्रकाशित कृतियाँ- ‘शिखर और सीमाएँ’ (उपन्यास), ‘बिंदियाँ और लकीरें’, ‘द स्टोर्म एंड अदर स्टोरीज’, ‘द अफेयर एंड अदर स्टोरीज’, ‘तेरह कहानियाँ’ (कथा संग्रह), ‘लाल कोठी अलविदा’ (उपन्यास), ‘इकोनॉमिक लिबरलाइजेशन’, ‘सोशल ट्रांसफॉर्मेशन एंड ह्यूमन वैल्यूज’, ‘इज मैनेजमेंट अन आर्ट’, ‘माइंड योर मैनेजमेंट’ (प्रबंधन संबंधी पुस्तकें)।

इनके चर्चित उपन्यास ‘लाल कोठी अलविदा’(2003) पर दूरदर्शन पर इसी शीर्षक से अभिनेता-निर्देशक परीक्षित साहनी द्वारा एक धारवाहिक का निर्माण किया गया। आगे चलकर इसी

¹ देवराज. (जुलाई-अगस्त, 2003). ज्वालामुखी के अंतरंग का साक्षात्कार (‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ का समाजशास्त्रीय अध्ययन). (भाषा पत्रिका, संपादक : डॉ.शशि भरद्वाज). पृ.120-121

उपन्यास पर 'दुविधा' नामक फिल्म बनी। शरत कुमार ने अपने उपन्यास 'शिखर और सीमाएं' तथा 'लाल कोठी अलविदा' का 'ओरेंज मून' एवं 'फेयरवेल रेड मेंशन' नाम से अनुवाद भी किया। सम्मान- 'हंस' में धारावाहिक प्रकाशित उपन्यास 'शिखर और सीमाएं' (1991) हिंदी अकादमी, दिल्ली द्वारा पुरस्कृत। 'माइंड योर मैनेजमेंट' को सर्वश्रेष्ठ प्रबन्धन-पुस्तक पुरस्कार (2002)। फीचर फिल्म 'दुविधा' को फ्रांस, स्पेन और उत्तरी अमेरिका के अंतरराष्ट्रीय फिल्म उत्सवों में 'सर्टिफिकेट ऑफ़ स्पेशल मैरिट'।

'शिखर और सीमाएं' उपन्यास का मूल कथानक दीप्ति और समरेश नामक पात्रों के बीच सृजित विवाहेतर संबंधों तथा मानवीय विकल्पों के इर्द-गिर्द घुमता है, परंतु इस उपन्यास का विशेषार्थ यह है कि इसकी पृष्ठभूमि सीमा-क्षेत्र (सिक्किम बॉर्डर रोड पर तैनात जीवन) का विस्तृत भौगोलिक एवं कार्यगत वर्णन भी प्रस्तुत करती है। लेखक ने सीमा मार्गों पर कार्यरत व्यक्तियों की कठिनाईयों, बरसात एवं भूस्खलन जैसे जोखिमों का प्रत्यक्ष व संवेदनशील चित्रण किया है, जिससे दुर्गम भू-भाग के सामान्य जीवन का वास्तविक अनुभव पाठक के समक्ष आता है- "आसाम राइफल्स हेडक्वार्टर समरेश के कैम्प से आठ मील आगे चुंग थांग घाटी में था, जहां से तीस्ता नदी दो धाराओं में विभाजित होकर तिब्बत सीमावर्ती लाचेन और लाचुंग घाटियों में ऊपर उठती जाती है। लाचेन तिब्बत सीमा पर स्थित अट्टारह हजार फीट ऊंचे डोंगकुंग दर्रे के राह का आखरी गाँव था।"¹

साथ ही लेखक ने विभिन्न कठिन परिस्थितियों में बॉर्डर रोड के कर्मचारियों को जो काम करना पड़ता है उसे उजागर किया है। उन्होंने लिखा भी है- "बरसात शुरू होने पर बॉर्डर रोड के यूनितों को हिदायत दी गई कि बन चुकी सड़कें हर हालात में खुली रखी जाएँ। इनफेंट्री के यूनित और अग्रिम दस्ते शीघ्र नोटिस एक ओर एक से दूसरी जगह भेजे जा रहे थे। सड़क खुली रखने के लिए बुलडोज़रों को नई सड़क काटने के काम से हटाकर चुंगथांग तक कच्ची बन चुकी सड़क पर फैला दिया गया था, जिससे कि बरसात में पहाड़ और पत्थर टूट जाने पर जल्दी से रास्ता साफ किया जा सके। उस साल बुलडोज़रों

¹ कुमार, शरत. (1998). शिखर और सीमाएं. पृ. 28

के ड्राइवरो ने बरसात में लुढ़कते पत्थरों का खतरा झेलकर सड़क खुली रखने का रिकार्ड कायम किया। बरसात का मौसम खत्म होने तक उत्तरी सिक्किम सड़क पर तैनात तीन बुलडोजर अपने ड्राइवरो समेत बरसाती पत्थरों की चपेट में आकर तीस्ता घाटी की गहराइयों में विलीन हो गए थे।”¹ सिक्किम जैसे दुर्गम इलाके के सामान्य जन-जीवन का चित्रण कर लेखक ने भौगोलिक दुरूहताओं एवं उससे प्रभावित होने वाले सामान्य जन-जीवन एवं उनके जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव को दिखाने का प्रयास किया है।

“प्रस्तुत उपन्यास का वैशिष्ट्य इस बात में है कि यह आज, कल और आने वाले समय के समाज के कई ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दों को सामने रखता है, जिन पर आधुनिक समय में बात करना अत्यंत आवश्यक है। एक विवाहित स्त्री का संबंध अपने पति के अलावा अन्य पुरुष के साथ दिखाया गया है, जिसे हम आज के दौर में विवाहेतर संबंध (एक्स्ट्रा मैरिटल अफेयर) की संज्ञा देते हैं। एक स्त्री जो विवाहित है परंतु अपने रिश्ते में खुश नहीं है। वह आज की आधुनिक नारी है, समाज के साथ चलना भी चाहती है और अपने मन की भी सुनना चाहती है।...इस उपन्यास में लेखक ने वैवाहिक बलात्कार (मैरिटल रेप) अर्थात् पति-पत्नी के बीच जो यौन संबंध पत्नी के मर्जी के बिना स्थापित हुए हों, जैसे एक महत्वपूर्ण और ज्वलंत मुद्दे को उठाया है।”² उपन्यास में आधुनिकता, स्त्री-स्वायत्तता, वैवाहिक रिश्तों की जटिलताएँ व नैतिक प्रश्न उठते हैं। विशेषकर वैवाहिक बलात्कार जैसे संवेदनशील मुद्दों को लेखक ने साहसपूर्वक उठाया है। यद्यपि सिक्किम का स्थानीय सांस्कृतिक विवरण सीमित है, फिर भी भौगोलिक विवरण और सीमा सड़क संगठन के कर्मियों के अनुभव उपन्यास रोचक एवं को विशिष्ट बनाते हैं।

¹ कुमार, शरत. (1998). शिखर और सीमाएं. पृ.28

² दास, चिन्मयी. (जनवरी-जून 2021). ‘शिखर और सीमाएं’ उपन्यास में चित्रित पूर्वोत्तर, प्रेम और पितृसत्ता. (अपनी माटी, संपादक : माणिक एवं जितेन्द्र यादव). अंक 35-36

उत्तर-पूर्व (लाल बहादुर वर्मा)

लाल बहादुर वर्मा कृत 'उत्तर पूर्व' उपन्यास वर्ष 2002 में इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इतिहास के प्रोफेसर एवं जन-आंदोलनकारी लाल बहादुर वर्मा का जन्म 10 जनवरी 1938 को बिहार के छपरा जिले में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा इनकी आनंदनगर, गोरखपुर से हुई। तत्पश्चात गोरखपुर विश्वविद्यालय से स्नातक करने के बाद इन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर की डिग्री हासिल की। इसके बाद 1964 में गोरखपुर विश्वविद्यालय से प्रो. हरिशंकर श्रीवास्तव के निर्देशन में 'एंग्लो इंडियन कम्युनिटी इन नाइनटीन सेंचुरी इन्डिया' पर शोध किया। फिर वे उच्च अध्ययन के लिए फ्रांस गए और रेमो आरां के निर्देशन में रिसर्च किया। भारत आकर प्रो. वर्मा ने मणिपुर विश्वविद्यालय में इतिहास का अध्यापन किया। उसके बाद इन्होंने गोरखपुर विश्वविद्यालय और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भी अध्यापन किया। ये प्रगतिशील विचारधारा के क्रांतिधर्मी व्यक्ति थे। प्रो. वर्मा ने इलाहाबाद से इतिहासबोध पत्रिका निकाली और लंबे समय तक इसके संपादन से जुड़े रहे। ये हिंदी, अंग्रेजी व फ्रेंच भाषा के अच्छे जानकार थे। ये जीवनपर्यंत सामाजिक आंदोलनों से जुड़े रहे। 17 मई 2021 को देहरादून में 83 वर्ष की उम्र में कोरोना से लाल बहादुर वर्मा का निधन हो गया।

लाल बहादुर वर्मा की प्रमुख प्रकाशित रचनाएं- उत्तर पूर्व (उपन्यास), जिंदगी ने एक दिन कहा, यूरोप का इतिहास, विश्व इतिहास की झलक, इतिहास : क्यों-क्या-कैसे, अधूरी क्रांतियों का इतिहास बोध, क्रांतियाँ तो होंगी ही!, इतिहास के बारे में, आधुनिक विश्व इतिहास की झलक, कांग्रेस के सौ साल, अपने को गंभीरता से लें, भारत की जनकथा, मानव मुक्ति कथा, गांधीगिरी, जीवन प्रवाह में बहते हुए (आत्मकथा-1), बुतपरस्ती मेरा ईमान नहीं (आत्मकथा-2) आदि।

'उत्तर-पूर्व' मणिपुर पर केंद्रित उपन्यास है, जिसकी भूमिका में लेखक ने मणिपुर के सामाजिक-राजनैतिक असमंजस और वहां के अज्ञातपन पर अपनी बेचैनी व्यक्त की है। "अर्जुन की ससुराल कहे जाने के बावजूद, सुभाषचंद्र बोस के आजाद हिंद फौज की भारत विजय योजना के एक मात्र विजय स्थल (मोयरांग) होने के बावजूद और दशकों से विद्रोह की चुनौती प्रस्तुत करने के बावजूद मणिपुर

'इंडिया' में अधिकांशतः अज्ञात ही है।'¹ उपन्यास का कथानक अनेक उत्तर-भारतीय पात्रों के साथ-साथ मणिपुरी पात्र इराबो व उसकी बहन राधा के जीवन पर केंद्रित है, इसके जरिये लेखक मणिपुर की जटिल सामाजिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक समस्याओं का विशद विवेचन करता है। उपन्यास के शीर्षक के श्लेष स्पष्ट करते हुए विष्णुचंद्र शर्मा ने टिप्पणी लिखी है- “उत्तर पूर्व उपन्यास का नाम प्रतीकात्मक है और उसके दो अर्थ निकाले जा सकते हैं। एक है नार्थ-ईस्ट के संदर्भ में। दूसरा है जवाब मिलने से पहले सवालियों के उड़ने-घुमड़ने और टकराने का मंथन। इसमें जवाब न मिलने की पीड़ा भी है और उसे ढूंढने का रोमांस भी.....”²

उपन्यास में लेखक ने आत्मसादित अनुभवों को सहजता से स्थान दिया है, पर लेखक के विश्वविद्यालयी-जीवन का विस्तृत समावेश कभी-कभी कथानक के प्रसारण में बाधक बन जाता है। “उपन्यास का कथा समय ऐतिहासिक नहीं, बल्कि लेखक का समकालिक है, इसीलिए लेखक को किसी कथायुक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। अलबत्ता लेखक ने 'मैं' शैली अपनाने की बजाय अपना ही प्रतिरूप पात्र प्रोफेसर बर्मन गढ़ा है जो लेखक की तरह की विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में प्रोफेसर हैं। इसी के लिए जाने अनजाने लेखक का परिचित विश्वविद्यालयी जीवन उपन्यास में जरूरत से ज्यादा ही जगह घेर लेता है और उसी मात्रा में मणिपुर के सामाजिक यथार्थ के उद्घाटन में बाधा भी डालता है। ऐतिहासिक कथा न होने के बावजूद मणिपुर के आधुनिक इतिहास के एक विराट नायक इराबट सिंह की उपस्थिति कथा में बराबर बनी रहती है।”³ उपन्यास मणिपुर के आधुनिक इतिहास, सैन्य शासन, नस्लीय भेदभाव व सामाजिक परंपराओं पर धरातलीय टिप्पणियाँ प्रस्तुत करता है तथा इस क्षेत्र की जटिलताओं को हिंदी पाठक-समूह के समक्ष सुस्पष्ट ढंग से रखता है।

उपन्यास में मणिपुर के व्यक्ति का दिल्ली के लोगों द्वारा नस्लीय टिप्पणी करना, इराबो द्वारा बार-बार खुद को भारतीय साबित करने जैसे प्रकरण समाज के विकृत यथार्थ को दर्शाते हैं। जिससे

¹ वर्मा, लाल बहादुर. (2002). उत्तर पूर्व, पृ. 07

² वही, पृ. 09

³ प्रधान, गोपाल. (2018). हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत. (हिंदी और पूर्वोत्तर. संपादक : कृपाशंकर चौबे). पृ.139-140

इराबों एक प्रकार से हीनग्रंथि का शिकार हो जाता है, लेखक ने इसका बखूबी चित्रण किया है। एस. बिजेन के शब्दों में- “पूर्वोत्तर की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि और इतिहास के बारे में भी आम लोगों को बहुत ही कम जानकारी है। यह क्षेत्र राजनीतिक तौर पर भी उतना मज़बूत नहीं है। इन सारी परिस्थितियों को डॉ. वर्मा ने अपने उपन्यास में विभिन्न पात्रों के माध्यम से बहुत सहज ढंग से पेश किया है। इबोहल, बर्मा, इराबो, तनु, आरके, जुही एवं राधा इस उपन्यास के ऐसे पात्र हैं, जिन्होंने वहां की ज़िंदगी को गहराई से जिया और भोगा है। इन पात्रों का चिंतन-मनन उपन्यास के हर पन्ने पर मिलता है। डॉ. वर्मा ने वहां के जीवन, समस्याओं और परंपराओं को बहुत गहराई तक महसूस किया और फिर उसे उपन्यास की शक्ति में सबके सामने पेश किया है। यह हाशिए पर धकेले जा रहे एक राज्य के बारे में सटीक चिंतन है। यही नहीं, लेखक ने इस उपन्यास में पूर्वोत्तर के इतिहास से जुड़ी कई अहम जानकारियां पेश की हैं।”¹

‘रूपतिल्ली की कथा’ (श्रीप्रकाश मिश्र)

‘रूपतिल्ली की कथा’ मेघालय की खासी जनजाति पर केंद्रित एक सांस्कृतिक उपन्यास है, जिसका प्रकाशन 2006 में लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद से हुआ। उपन्यास की मुख्य कथा-धुरी दो मानव बलियों के इर्द-गिर्द घूमती है, जिनके माध्यम से लेखक खासी समाज के धार्मिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक आयामों को उजागर करता है। कथा में अंग्रेजों के साथ खासी राजाओं के संघर्ष का ऐतिहासिक चित्रण उपस्थित है तथा हिंदू और ईसाई धर्म प्रचारकों के बीच सांस्कृतिक टकराव का संकेत भी मिलता है। कुल मिलाकर यह एक स्पष्ट रूप से सांस्कृतिक उपन्यास है, जिसमें प्रकृति को आलंबन के रूप में प्रभावशाली तरीके से उपयोग किया गया है। उपन्यास में कई प्रेम-प्रसंग भी स्थान पाते हैं तथा बलि-प्रथा के संदर्भ में यह स्पष्ट होता है कि उक्त प्रथा खासी समाज में धर्मीय पक्ष से जुड़ी है- यह कानून का मामला नहीं। “जगह-जगह 'खासी लोक कथाओं और लोकगीतों का हिंदी अनुवाद

¹ सिंह, एस. बिजेन. (2010). मणिपुर की दर्द भरी कहानी. परदेश ब्लॉग पोर्टल से उद्धृत
(http://pardesh123.blogspot.com/2010/12/blog-post_31.html)

भी इस उपन्यास को 'स्थानीय रंग' (लोकल कलर) प्रदान करने में पर्याप्त सफल हुआ है। कहीं-कहीं यथार्थ और फेंटेसी एक-दूसरे में घुलमिल गए हैं। मेघालय की तीनों जनजातियाँ मातृसत्तात्मक हैं। इस सामाजिक व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए लेखक बताता है, जब तक परिवार छोटा होगा, पूरी जमीन परिवार की होती होगी। लेकिन जब परिवार बढ़कर गोत्र बना होगा, तब यह पूरी जमीन गोत्र की हो गई होगी...यह जमीन उत्तराधिकार में भी हस्तांतरित होती जाती होगी- गोत्र नानी से, परिवार नानी से, परिवार नानी को और परिवार नानी का पहले अपनी सबसे छोटी बेटी को, फिर इस छोटी बेटी की सबसे छोटी-बेटी को। जब तक ये तीन पीढ़ियों- नानी, बेटी, नतिनी एक साथ रहती होंगी एक परिवार बना रहता होगा। लेकिन जब नतिनी को भी सबसे छोटी बेटी हो जाती होगी, परिवार टूटता होगा। जमीन बँटती होगी। इस जमीन का कर्ता, संभालने वाला मामा बनता होगा- जैसे गोत्र की जमीन का कर्ता गोत्र मामा।”¹

लेखक ने खासी प्रदेश के 19 वीं सदी प्रारंभ के वातावरण को सजीवता से प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है, वह अनेक स्थानों पर सफल है, कुछ स्थानों पर जादुई/काल्पनिक तत्त्व और यथार्थ का सम्मिश्रण ध्यान आकर्षित करता है। उपन्यास का राजनीतिक चरित्र अंत में अंग्रेजों के साथ टकराव के रूप में उभरता है। पादरियों द्वारा खासी समुदाय का ईसाई धर्म में धर्मांतरण, क्रांतिकारी ऊ तिरोत सिंह का अंग्रेजों द्वारा गिरफ्तार किए जाना और रूपतिल्ली चोटी पर स्थित डिडेई पेड़ का काटे जाना खासी राजाओं के संघर्ष के समापन का प्रतीकात्मक संकेत बनकर नजर आता है। ‘रूपतिल्ली की कथा’ खासी संस्कृति, सामाजिक संरचना और धार्मिक परंपराओं का कलात्मक तथा संवेदनशील विवेचन प्रस्तुत करती है, यह मेघालय केंद्रित हिंदी उपन्यासों में एक समृद्ध और विशिष्ट प्रविष्टि है।

‘आहुति’ (श्रीधर पांडेय)

‘आहुति’ उपन्यास मणिपुर की पृष्ठभूमि पर निर्मित है तथा इसका प्रकाशन 2008 में जानकी प्रकाशन, पटना से हुआ। लेखक श्रीधर पांडेय (मूल नाम- श्रीधर नारायण पांडेय) इतिहास के प्रोफेसर

¹ प्रधान, गोपाल.(2018). हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत. (हिंदी और पूर्वोत्तर. संपादक : कृपाशंकर चौबे) से उद्धृत

रहे हैं, इन्होंने मणिपुर विश्वविद्यालय में अध्यापन तथा अन्य अकादमिक पदों पर कार्य किया है। इनके अंग्रेजी और हिंदी में अनेकों निबंध विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। श्रीधर पांडेय की प्रकाशित पुस्तकें हैं- एडुकेशन एण्ड सोशल चेंज इन बिहार (1975), सोर्सेज ऑफ हिस्ट्री ऑफ मणिपुर (1985), इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया। साठ के दशक में कुछ कहानियाँ हिंदी की पत्रिकाओं, नई धारा (पटना), नयापथ (लखनऊ), चित्रा (कलकत्ता) तथा स्थानीय पत्रिकाओं में प्रकाशित, हिंदी में पहला उपन्यास बनते-बिगड़ते रिश्ते सन् 2003 ई. में प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत उपन्यास में एक मध्यवर्गीय मैतेयी परिवार की लड़की कनुप्रिया चानु का संपर्क एक हिंदी-भाषी बिहार के नवयुवक मनोज से होता है। मनोज एक किसान परिवार का बेटा है। स्वतंत्रता के चालीस वर्षों के बाद भी उत्तर भारत के ग्रामीण जीवन में बढ़ती आर्थिक निर्धनता के बीच बेकारी के दंश से पीड़ित मनोज अपना गाँव छोड़ने को बाध्य होता है। गाँव और प्रदेश से हजारों कोस दूर मणिपुर में मनोज को शिक्षक की नौकरी मिल जाती है। साथ ही मनोज के संपर्क से चानु की मणिपुर में हिंदी की शिक्षा पूरी होती है तथा वह मनोज के प्रोत्साहन पर उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्रवेश लेती है। चानु की निकटता से मनोज को मणिपुर की पारिवारिक व सामाजिक व्यवस्था को जानने-समझने का अवसर प्राप्त हुआ तथा चानु के युवावस्था प्राप्त करते-करते यह निकटता प्रेम का रूप धारण कर लेती है। चानु जब बनारस से पढ़ाई कर मणिपुर वापस आती है तो उसके रसूखदार चचेरे भाई उस पर किसी मैतेई व्यक्ति से ही शादी करने का दबाव बनाते हैं, लेकिन चानु इस दबाव को अस्वीकार कर मनोज के साथ शादी के बंधन में बंधने का साहस-भरा निर्णय लेती है। मनोज अपने सहकर्मी शिक्षक की सहायता से चानु को लेकर मोइराड भाग जाता है, जहाँ दोनों शादी के बंधन में बंध जाते हैं। चानु के चचेरे भाई इसे बर्दाश्त नहीं कर पाते। शादी संपन्न होने के बाद मणिपुरी वैवाहिक नियमानुसार वर-वधू पहली रात एक झोपड़ी में बिता रहे थे तभी कुछ अज्ञात लोगों द्वारा मनोज-चानु पर गोलियों से हमला होता है, जिसमें प्रेम की वेदी पर चानु अपने जीवन की आहुति देकर मनोज के प्राण बचा लेती है।

लेखक मणिपुर की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का संक्षेप में वर्णन करते हुए कथा-निर्माण करता है। यद्यपि उपन्यास का आकार छोटा है, परंतु लेखक द्वारा मनोज-चानु की मूल कथा के साथ अनु की कथा और उसके साथ उत्तर भारत के परिवेश का समानांतर चित्रण के साथ मणिपुरी समाज-संस्कृति का वर्णन उपन्यास की विधागत अपेक्षाओं को पूर्ण करता है। उपन्यास का कथानक उग्रवाद, सीमा-भौगोलिक संकट और सांस्कृतिक भिन्नताओं के परिप्रेक्ष्य में निर्मित है। सामाजिक बंधनों को तोड़ता मनोज-चानु का प्रेम और नायिका चानु का बलिदान अंतिम रूप से हिंसा के विरुद्ध मानवीय संदेश प्रदान करता है। लेखक आशा भरे शब्दों- “चानु का बलिदान घृणा और हिंसा को मिटाकर रहेगा, हमें उसका संदेश देश के कोने कोने में ले जाना है।”¹ के साथ उपन्यास का समापन करता है। कथानक में ऐतिहासिक सूचनाओं का समावेश दृष्टिगोचर है पर शिल्पगत कसाव के अभाव से रचना कहीं-कहीं कमजोर जान पड़ती है। फिर भी यह उपन्यास मणिपुरी परिवेश और उग्रवाद-संबंधी सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में उपयोगी संसाधन है।

‘उफ़्र’ (प्रमोद कुमार तिवारी)

‘उफ़्र’ उपन्यास के रचनाकार प्रमोद कुमार तिवारी (जन्म 30 अक्टूबर 1965) हैं। वे प्रशासनिक सेवा (IAS - असम-मेघालय कैडर) से संबंधित रहे हैं, प्रशासनिक अनुभव और साहित्यिक रुचि दोनों का संयोग उनकी लेखनी में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस उपन्यास का प्रकाशन 2010 में भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से हुआ। इनकी प्रकाशित कृतियाँ हैं- ‘डर हमारी जेबों में’, ‘उफ़्र’, ‘अरे चांडाल’ (उपन्यास)। इन्हें ‘डर हमारी जेबों में’ उपन्यास के लिए ‘अंतरराष्ट्रीय इन्दु शर्मा कथा सम्मान’ वर्ष 2005 से सम्मानित किया गया।

यह उपन्यास असम की समकालीन राजनीति, प्रशासनिक दलदल, भ्रष्टाचार, अपहरण, हत्या तथा उग्रवादी गतिविधियों का तीव्र, घटनापरक व नाटकीय चित्रण प्रस्तुत करता है। रचना के छोटे-छोटे दृश्यों का संवेदनशील संयोजन उपन्यास को नाट्यरूप देने की क्षमता रखता है। उफ़्र उपन्यास में एक

¹ पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति. पृ. 143

ऐसी कथा रची गई है, जिसमें मुख्यमंत्री, मंत्री, विधायक, सचिव, एस. पी., डी.सी., समाजसेवी, उग्रवादी आदि राजनितिक गतिविधियों से जुड़ा हुआ पूरा तंत्र शामिल है। राजनीतिक उठा-पटक से पूरा उपन्यास भरा हुआ है। एक ईमानदार एस.पी., एस.पी. की समाजसेवी पत्नी और बेईमान तथा भ्रष्ट मंत्री, विधायक, सचिव, पुलिस, डी.सी. के बीच हुई लड़ाइयां ही पूरे उपन्यास को आकार देती हैं। इस उपन्यास में बंगलादेशी घुसपैठियों के बढ़ते प्रभुत्व के प्रसंग हैं तो उल्फा समस्या भी है, भारत और असम की अखंडता का प्रश्न है, केंद्र की ओर उपेक्षा की गई है, उग्रवाद की वजह से असम को ही हुई हानि के चित्रण के साथ-साथ रिश्तखोरी, भ्रष्टाचार के साक्ष्य भी हैं। उपन्यास में उच्चपदस्थ राजनीतिक व प्रशासनिक पात्रों के अलावा मध्य तथा निम्न वर्ग के सुख-दुःख को भी स्थान दिया गया है, ईमानदार व्यक्तियों के संघर्ष का निरूपण यहाँ प्रमुख रूप से आता है। लेखक के प्रशासनिक अनुभव के कारण उपन्यास में प्रासंगिक राजनीतिक जानकारी और यथार्थ का घनत्व मिलता है। इसके अतिरिक्त असम की बाढ़-समस्याओं, बांग्लादेशी घुसपैठ तथा उल्फा-संबंधी मुद्दों का भी कथानक में समावेश है, जिससे यह एक राजनीतिक तथा समस्यापारक उपन्यास के रूप में कतिपय महत्वपूर्ण दृश्य उजागर करता है।

‘कामरूप के गलियारे’ (जय नारायण कौशिक)

प्रस्तुत उपन्यास ‘कामरूप के गलियारे’ का प्रकाशन नमन प्रकाशन, नई दिल्ली से 2011 में हुआ तथा इसके लेखक जय नारायण कौशिक हैं। डॉ. जय नारायण कौशिक (जन्म 4 नवम्बर 1935) एक प्रख्यात साहित्यकार, शिक्षाविद् तथा लोक-संस्कृति-अनुसंधानकर्ता हैं। उनका साहित्य लोक-जीवन, लोककथाएँ, कोश, उपन्यास और शैक्षिक विषयों में विस्तृत है।

इनकी प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ हैं- मेरी कैलास मानसरोवर यात्रा, दिल्ली अंचल की लोकसंस्कृति, देवी भागवत सूक्ति सुधा कोश, दिल्ली की अपनी कहानी (वैदिक युग से अद्यतन), राम कथा और लोकसाहित्य, कृष्ण कथा और लोकसाहित्य, हमारे तीज-त्योहार और मेले, यमुना तेरा कैसा पानी, इन्द्रप्रस्थ माहात्म्य कथा, लोकसंस्कृति और लोकसाहित्य, राष्ट्रीय कलेंडर के विकास की

कहानी, Fasts of the Hindus (Part-I, II & III), Folk Tales from Haryana., काव्य-बुद्धवाणी (धम्मपद का पद्यानुवाद), यात्रा के पड़ाव (भर्तृहरि-शतकों का पद्यानुवाद), धरा के गीत (वेद-मंत्रों का पद्यानुवाद), कोश- हरियाणवी हिंदी कोश, उपन्यास- माटी का मोल (पुरस्कृत), बूढ़ सुहागिन, धरती का सिंदूर, कामरूप के गलियारे, बाल-साहित्य- पेड़ की कहानी (पुरस्कृत), अंकों की कहानी, वैज्ञानिक कहानियाँ तथा अन्य।

डॉ. जय नारायण कौशिक को पर्यटन मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा राहुल संकृत्यायन पुरस्कार, हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा हरियाणा गौरव सम्मान, राष्ट्रपति द्वारा राष्ट्रीय शिक्षक सम्मान, हिंदी अकादमी दिल्ली द्वारा साहित्यकार सम्मान, अंतरराष्ट्रीय मानव कल्याण परिषद् सम्मान, अखिल भारतीय साहित्य परिषद् सम्मान, भारत गौरव सम्मान आदि पुरस्कार/सम्मान प्राप्त हुए हैं।

‘कामरूप के गलियारे’ उपन्यास पौराणिक कल्पना और आधुनिक विचारों का मिश्रण प्रस्तुत करता है। लेखक ने शिव-पार्वती को कथानक के चरित्र रूप में स्थापित कर पूर्वोत्तर की यात्रा के रूप में सातों राज्यों (सात बहनों) के लोककथात्मक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक स्थानों का परिचय देने का साहित्यिक प्रयत्न किया है। परंतु, अगर सिक्किम को भी शामिल किया जाता तो उपन्यास और प्रासंगिक हो पाता। “वर्तमान कृति में जहाँ लेखक ने पूर्वोत्तर क्षेत्र की सहस्रों वर्ष पुरानी सांस्कृतिक-साहित्यिक-सामाजिक परंपराओं की श्रृंखला के सूत्रों को कोटोला है, वहां वर्तमान सामाजिक, भौतिक और आर्थिक विकास के सदर्भों में उसकी अनेक समस्याओं के समाधान का रचनात्मक संकेत दिया है। पुस्तक में एकात्मता की दृष्टि से पूर्वोत्तर के सभी राज्यों को ईशान या कामरूप नाम दिया है और उन्हें गलियारों की संज्ञा दी है। यात्रा सामग्री को रुचिकर बनाने के लिए इसे कथात्मक रूप दिया गया है। शिव और पार्वती इसके उदात्त चरित हैं, जिन्हें क्षेत्र के आतंकवाद से जूझना पड़ता है। यहाँ प्रत्येक राज्य के पर्यटन महत्त्व के स्थानों को राष्ट्रीय एकसूत्रता की दृष्टि से उजागर किया गया है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी पाठक इसमें कई नए प्रयोग पाएँगे।”¹

¹ कौशिक, जय नारायण. (2011). कामरूप के गलियारे. (उपन्यास के फ्लैप से)

उपन्यास में लोककथाएँ, पर्यटन-स्थल, जनजातीय परंपराएँ, आतंकवाद और सामाजिक समस्याएँ ये सब एक समेकित यात्रा-रूप कथा के नाम पर रखे गए हैं। शिव-पार्वती जहाँ भी भ्रमण के लिए जाते कोई-न-कोई स्थानीय भक्त उन्हें अपना प्रदेश घुमाता है। पूर्वोत्तर भारत की लोककथाएँ, जनजातियाँ, धार्मिक स्थल, सामाजिक व्यवस्था, पर्व-त्यौहार, पर्यटन, आतंकवाद आदि से संबंधित कई प्रसंग इस उपन्यास में मिलते हैं। यद्यपि यह लेखकीय प्रयोग थोड़ा रोमांचित तो अवश्य करता है, परंतु कहीं-कहीं उबाऊ और अटपटा सा लगने लगता है, “शिव के शांत और गंभीर स्वभाव को देख सभी आतंकी लुटेरे चकित थे। जिसके घर को हम लूटने की नीयत से आए, जिसके नौकर चाकरों को हमने मारा-पीटा उसने हम पर कोई क्रोध तक नहीं दिखाया, क्रोध की भाषा तो दूर रही। उसने फोन करके पुलिस को भी नहीं बुलाया। उसने तो हमारी दवा-दारू की। हमें भोजन दिया। हमें विश्राम करने की सलाह दी। यह पर्यटक कोई साधारण आदमी नहीं हो सकता है। हमसे कोई बड़ी भूल हुई है।...शिव बोले- मैं तुम्हारे आगे-पीछे की बातें समझ गया हूँ। तुम बुरे नहीं हो। हालात ने तुम्हें बुरा बनाया है। पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण तुम्हारी बोलियाँ अलग-अलग हैं। तुम एक-दूसरे कबीले की बात समझ नहीं पाते। भरतखंड की मुख्य भाषा सीखो। सभी कबीले एक-दूसरे के निकट आ पाओगे।...क्या तुम्हारे हितकारी बनने वालों ने तुम्हारी मातृबोली में तुम्हें शिक्षा दी? क्या उस बोली को सम्मान दिया? क्या देश की की मुख्य लिपि में पुस्तकें छपवा कर तुम्हें दीं? जरा सोचो। इन्द्रप्रस्थ की सरकार के कामकाज में भागीदार बनना है तो देश की भाषा सीखने में सबका हित है।”¹ ऐसे संवाद काल्पनिकता के सृजन से विवादित होने से बच जाते हैं।

उक्त संदर्भ में लेखक ने उपन्यास की भूमिका में ही अपनी मंशा स्पष्ट कर दी है- “वर्तमान पुस्तक “कामरूप के गलियारे” लिखते समय यह भावना रही है कि भारत की पूर्वोत्तर दिशा के सात राज्यों को कोई पढ़े तो वे क्षेत्र, पाठक से साक्षात् बातें करें।”² इस प्रकार यह उपन्यास पाठकों को

¹ कौशिक, जय नारायण. (2011). कामरूप के गलियारे. पृ. 180-181

² वही, पृ. 06

पूर्वोत्तर भारत पर लिखी गई रचनाओं में थोड़ा अलग प्रकार का अनुभव देता है। लेखक की मंशा स्पष्ट है- पूर्वोत्तर के सात राज्यों के बारे में पठनीय, समेकित तथा रोचक जानकारी प्रस्तुत करना। परंतु पौराणिक चरित्रों (शिव-पार्वती) के माध्यम से किए गए यह प्रयोग कहीं-कहीं रोमांचित एवं अतिशयोक्ति-प्रधान प्रतीत होते हैं और कुछ अंशों में पाठक को अटपटा अनुभव भी हो सकता है। तथापि, उपन्यास में उपलब्ध पूर्वोत्तर-संबंधी जानकारी, लोककथात्मक वस्तु और सांस्कृतिक विवेचन इसे उपयोगी संदर्भ बनाते हैं। कामरूप के गलियारे एक प्रयत्नशील और सूचना-प्रधान रचना है, जो पाठक को पूर्वोत्तर के लोक-संसाधन और सांस्कृतिक परिदृश्य से परिचित कराती है, शिल्पगत कुछ कमियाँ होने पर भी यह क्षेत्र-जनित सराहनीय सामग्री है।

‘देश भीतर देश’ (प्रदीप सौरभ)

प्रदीप सौरभ द्वारा रचित ‘देश भीतर देश’ वाणी प्रकाशन (2012) से प्रकाशित हुआ। प्रदीप सौरभ (जन्म 5 सितंबर 1959) एक अनुभवी पत्रकार तथा कथाकार हैं। पत्रकारिता में दीर्घ अनुभव के कारण उनके उपन्यास में रिपोर्टिंग-जैसी स्पष्टता, तथ्यपरकता तथा तीक्ष्ण व्यंग्य देखने को मिलता है। इनकी प्रकाशित कृतियाँ- ‘मुन्नी मोबाइल’, ‘तीसरी ताली’, ‘देश भीतर देश’, ‘ब्लाइंड स्ट्रीट’ (उपन्यास), ‘पापा मान जाये प्लीज़’ (बाल कथा-संग्रह), ‘दरख्त का दर्द’ (कविता संग्रह) आदि हैं। पत्रकारिता में पैंतीस वर्षों से अधिक समय बिताने के दौरान पूर्वोत्तर राज्यों, गुजरात समेत पूरे भारत भर का भ्रमण किया। गुजरात दंगों की रिपोर्टिंग के लिए ये पुरस्कृत भी हुए। प्रदीप सौरभ को वर्ष 2012 में ‘तीसरी ताली’ उपन्यास के लिए ‘अंतरराष्ट्रीय इंदु शर्मा कथा सम्मान’ प्राप्त हुआ।

‘देश भीतर देश’ उपन्यास का मूल कथानक हिंदी भाषी युवक विनय और असमीया युवती मिल्की की प्रेमकथा है, परंतु कथा इसके इतर जाकर पूर्वोत्तर राज्यों एवं केंद्रीय नीतियों के कारण वहां के लोगों के प्रति पक्षपात और असहाय स्थिति का चिंतन करती है। विनय उपनिवेशी मानसिकता और पूर्वोत्तर के प्रति भेदभाव के चलते देश के भीतर कई देश देखने जैसी मानसिक बीमारी से ग्रस्त हो जाता है। यह उपन्यास का मनोवैज्ञानिक तथा राजनीतिक मूलमंत्र है। “यह उपन्यास पूर्वोत्तर राज्यों में सादिन

असम, इंडिपेंडेंट बोडोलैंड, आजाद कार्बीलांग की मांग को लेकर आरंभ हुए जनांदोलनों के क्रमशः उल्फा, बोडो आदि प्रतिबंधित उग्रवादी संगठनों में बदलने की प्रक्रिया व इतिहास, उनकी जायज नाजायज मांगों, हिंसक गतिविधियों, भटकनों एवं उनके विडंबनापूर्ण अंत पर तीखी रोशनी डालता है और प्रकारांतर से केंद्र और हाशिए के अंतःसंवाद की कमजोर के कड़ियों को नापते हुए देश में तेजी से फैल रहे नक्सलवाद को समझने में कारगर है। असम में उल्फा की स्थापना, उद्देश्य गतिविधियों एवं बुनियादी लक्ष्य से भटकावों का प्रामाणिक ब्यौरा, इसकी तसदीक करता है। मसलन, असम के तमाम बेरोजगार युवा उल्फा में महज इसलिए शामिल हो गए थे क्योंकि उल्फा अपने कैडरों को परिवार पालने के लिए निश्चित मासिक वेतन देता था और असमीया लड़कियां अंडरग्राउंड उल्फाइयों पर जान छिड़कती थीं।¹

उपन्यास में उल्फा तथा अन्य विद्रोही संगठनों का उल्लेख आता है, किंतु कई प्रसंग सूचनात्मक रूप में ही रहते हैं, कथात्मक अंग के रूप में गढ़े नहीं गए। कुछ घटनाएँ जैसे मिल्की की बहन का दिल्ली ले जाकर कोठे में बेचे जाने का विवरण कथानक को भावनात्मकता से बांध देता है, परंतु कुछ प्रसंगों में यथार्थवाद से हटकर अविश्वसनीयता का आभास भी होता है (उदाहरणार्थ असमीया परिवार द्वारा बेटी के साथ संबंध हेतु प्रस्ताव जैसा प्रसंग)। “कथा का देशकाल 1970 से 2010 तक विस्तीर्ण है, जिसमें आजादी के बाद असम के इतिहास, विनय के असम प्रवास व उसके दो दशक बाद की सभी महत्वपूर्ण घटनाएँ अनिवार्यतः शामिल हैं। उपन्यास की गुंफित संरचना में आवाजाही करता विनय का अतीत एवं वर्तमान एक आईना बनकर उभरता है, जिसमें असम के तत्कालीन इतिहास एवं समकालीन जीवन का ठोस प्रतिबिंब स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। 'देश भीतर देश' नामक मनोवैज्ञानिक बीमारी से ग्रस्त विनय के अवचेतन और अर्धचेतन अवस्था के तारतम्य में उपन्यास का कथ्य टुकड़ों में सामने आता है। कथाकार चूंकि पेशेवर पत्रकार है, वह इतिहास

¹ शांडिल्य, सुन्दरम. (जुलाई-अगस्त, 2013). हाशिए से संवाद की एक बेचैन प्रेमकथा. (पुस्तक-वार्ता पत्रिका, संपादक : भारत भारद्वाज). पृ. 14

के डीटेलस की बजाय घटनाओं की ब्रीफ हिस्ट्री प्रस्तुत करता है और छोटे अखबारी कतरन के आकार की सूचनाओं एवं तथ्यों को कथावस्तु में बड़े कौशल एवं संयम से टांकता है कि नैरेशन में कोई फांक नजर नहीं आती। पूरा सच कहने के फेर में उपन्यास की भाषा कहीं स्थूल जरूर लगती है, लेकिन उसमें गल्प की भाषायी खूबियों के साथ पत्रकारिता की भाषिक उत्तेजना, विचारोन्मुखता, व्यंग्यपरकता एवं प्रतिरोधी चेतना भरपूर है।”¹ लेखक के पत्रकार होने के कारण रचना में ऐतिहासिक-सूचना तथा पत्रकारिता-शैली की सहज उपस्थिति है, जो इस उपन्यास को तथ्यप्रधान बनाती है पर कभी-कभी कथा-कला की भाषिक निपुणता पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है। देश भीतर देश पूर्वोत्तर-संबंधी समस्याओं, विद्रोहों और सामाजिक परिवर्तनों पर पत्रकार-नज़रिए से लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसका प्रमुख उद्देश्य है- हाशिए पर पड़े क्षेत्रों व लोगों के द्वंद्व और विडंबनाओं को व्यापक पाठक-समूह तक पहुंचाना।

‘कामरूपा’ (रमानाथ त्रिपाठी)

रमानाथ त्रिपाठी द्वारा रचित ‘कामरूपा’ उपन्यास का प्रकाशन 2013 में ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली से हुआ। रमानाथ त्रिपाठी की बहुआयामी सृजनशीलता (कथाकार, निबंधकार, अनुवादक, अनुसंधाता) भारतीय साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती है। उनका जन्म 08 अक्टूबर, 1926 को उत्तर प्रदेश के इटावा जिले के क्योटारा में हुआ। रमानाथ त्रिपाठी ने राम-साहित्य पर गहन शोध के साथ-साथ अनेक उपन्यास, शोध-प्रबंध व अनूदित कृतियाँ लिखी हैं। उनकी प्रमुख कृतियों में ‘रामगाथा’, ‘कली और धुआँ’, ‘शंख-सिन्दूर’, ‘कामरूपा’ आदि शामिल हैं।

कामरूपा उपन्यास के मुख्य पात्र अमित और रानू हैं अमित दिल्ली का रहने वाला है जबकि रानू असम की। कामरूप की संस्कृति पर प्रकाश डालना कामरूप अर्थात् असम की संस्कृति पर प्रकाश डालने के लिए ही कामरूप की नायिका का चुनाव किया गया तथा इस उपन्यास का नामकरण

¹ शांडिल्य, सुन्दरम. (जुलाई-अगस्त, 2013). हाशिए से संवाद की एक बेचैन प्रेमकथा. (पुस्तक-वार्ता पत्रिका, संपादक : भारत भारद्वाज). पृ. 15

'कामरूपा' भी उसी के नाम पर रखा गया है। पूरे उपन्यास में असम की संस्कृति तथा संस्कार की चर्चा की गई है। मेखला या गमछा के रूप में परिधान की बात की गई हो या फिर शक्ति पीठ की कामाख्या देवी की साधना में रक्त तथा मैथुन की प्राथमिकता को उकेरते हुए वैष्णव भक्त शंकर के सिद्धियों की बात की गई हो। कुछ किंवदंतियों का खुलासा भी किया गया है और कुछ पर से ढके आवरण को हटाया भी गया है। जैसे रानू किसी पुस्तक का उद्धरण देते हुए कहती है- “इसमें लिखा है कामरूप की स्त्रियाँ पुरुषों को भेड़ा बना देती थीं।.... मैंने भी दो चार भेड़ा पाल रखे हैं।”¹

उधर अमित कहता है कि मैं वहां की संस्कृति को स्वयं देख आया हूँ जो तुम बताती हो, सिर्फ वही नहीं है। इसके साथ ही तंत्रात्मक साधनाओं में आई विकृति को परिष्कृत करने का श्रेय महापुरुष शंकरदेव को देते हुए गुवाहाटी प्रवास के अंतिम भाग में असमीया गमछा भेंट लेकर अमित सोचता है “जोंक भी असम की, रानू भी असम की, जयमती असम की और यह गृहणी (भुवन की पत्नी) तथा केदारेश्वर वाली बालिका भी असम की। असम अर्थात् कामरूपा।”²

इस उपन्यास में हठयोग साधना का भी परिचयात्मक किंतु सूक्ष्म विवरण दिया गया है। चूंकि यह अमित के शोध विषय से संबंधित भी है, अतः उपन्यास के पूरे कथानक में तंत्रात्मक साधना का क्रमशः विकास और विगत काल में आई विकृतियों की भी चर्चा मिलती है। खजुराहो वास्तु-शिल्प पर बात करते हुए अमित रानू को उसके दार्शनिक पक्ष के विषय में समझाता है। इसके साथ ही इस उपन्यास में महापुरुष शंकरदेव की भी चर्चा की गई है।

इस उपन्यास के आवरण पृष्ठ पर एक सुंदर स्त्री का प्रतिबिंब है और इस उपन्यास का शीर्षक भी उसी के अनुकूल कामरूपा दिया गया है। अमित रानू को कामरूपा का अर्थ समझाते हुए कहता है - “पहला अर्थ है कामरूप देश की नारी, दूसरा अर्थ सुन्दरी नारी। तुम कामरूप की हो और सुंदरी भी हो। इस नाते तुम कामरूपा हो। किंतु कामरूपा का तृतीय अर्थ इच्छा अनुसार रूप बदलने वाली। ऐसी तो

¹ त्रिपाठी, रमानाथ. (2013). कामरूपा. पृ. 107

² वही, पृ. 107

शूर्पणखा थी। उसने पंचवटी में राम को अपना परिचय इस प्रकार दिया था- शूर्पणखा नाम राक्षसी कारुणिणी। वह विधवा थी और शिकारी आँखों से मरदों को खोजकर उनके साथ विलास करती घूमती थी। तुम तो जन्म से ही कामरूपा हो। शूर्पणखा जैसी कामरूपा बनकर कामरूप को बदनाम मत करो। मैं कामरूप की नारियों को देख आया हूँ। वे साहासिनी, स्नेहमयी और चरित्रवती हैं।¹

इस उपन्यास में लेखक ने एक साथ प्रेम, सनातन धर्म की महिमा, पूर्वोत्तर का ईसाईकरण, वामपंथ का प्रभाव, धर्मांतरण, बांग्लादेश घुसपैठ की समस्या, पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव, साहित्यिक जगत में प्रसिद्धि पाने के हथकंडे, साहित्यकारों के कथनी और करनी में अंतर आदि अनेक प्रसंगों को उठाया गया है, जिससे उपन्यास किसी एक विषय पर केंद्रित नहीं हो पाता। कुल 200 पृष्ठों के उपन्यास में लेखक ने भारतीय सनातन संस्कृति और असम के पौराणिक पहलुओं पर ज्यादा बल दिया है। अतः पूर्वोत्तर भारत और हिंदी पाठकों के बीच एक सूचनात्मक पुस्तक के रूप में यह उपन्यास महत्वपूर्ण है, पर शिल्प और कथावस्तु के आधार पर यह एक सामान्य रचना है।

‘सियांग के उस पार’ (दयाराम वर्मा)

दयाराम वर्मा कृत अरुणाचल प्रदेश की पृष्ठभूमि पर लिखित उपन्यास ‘सियांग के उस पार’ का प्रकाशन 2018 में नोशन प्रेस, चेन्नई से हुआ। दयाराम वर्मा (जन्म 17 जुलाई 1966) का परिचय बहुविध जीवन-अनुभवों से संयुक्त है- वायुसेना में तकनीशियन के रूप में तैनाती, पूर्वोत्तर में प्रतिनियुक्ति और बाद में बैंकिंग सेवा। उनकी साहित्यिक अभिरुचि कहानी, उपन्यास और यात्रा-वृत्तांत तक फैली है। इनकी प्रकाशित कृतियों में ‘सियांग के उस पार’ और ‘ब्रह्मपुत्र से सांगपो तक : एक सफरनामा’ प्रमुख हैं। दयाराम वर्मा को ‘शब्द गुंजन उपन्यास सम्मान’ (2018), ‘सत्य की मशाल सम्मान’ (2019), ‘तुलसी सम्मान’ (2021) और सरस्वती साहित्य संगम, रावतसर (राजस्थान) द्वारा ‘स्व. मुखराम माकड माहिर पुरस्कार’ (2022) से सम्मानित किया जा चुका है।

¹ त्रिपाठी, रमानाथ. (2013). कामरूपा. पृ. 191-192

यह उपन्यास बिक्रम और निसमी की प्रेम कहानी पर आधारित है। बिक्रम वायुसेना में रेडियो तकनीशियन के पद पर नियुक्त होकर अरुणाचल प्रदेश के सियांग घाटी पहुंचता है, जहाँ उसे निसमी नामक एक लड़की से प्यार हो जाता है। निसमी बिक्रम को बताती है कि उसकी बड़ी बहन मिनी को एक देबांग नाम के लड़के से प्यार हो गया था, जो एक इंजीनियर था और उत्तर भारत से एक प्रोजेक्ट के तहत अरुणाचल आया था, मिनी और देबांग एक-दूसरे से प्रेम करने लगते हैं और उनकी बात शादी तक पहुँच जाती है। लेकिन, शादी से पहले देबांग अपने घर जाता है और लौटकर नहीं आता, उसके करीबियों से पता चलता है कि घर जाते समय पहाड़ से गिरकर बाढ़ में बह जाने से उसकी मौत हो गई, मिनी इस सदमे को बर्दाश्त नहीं कर पाती है और अपना मानसिक व शारीरिक संतुलन खोकर मरणासन्न अवस्था में पहुँच जाती है। निसमी देबांग से अनुरोध करती है कि उसकी शक्ल बिक्रम से बहुत मिलती है, इसीलिए वह उसके साथ देबांग बनकर उसके गाँव चले और मिनी से मिले, जिससे मिनी शायद ठीक हो सकती है। बिक्रम उसके साथ देबांग बनकर चलने को राजी हो जाता है और वे दोनों अपने गाँव निकल जाते हैं। गाँव जाने में पैदल तीन दिन का समय लगता है, इस बीच वे लोग विभिन्न जगहों से होते हुए, उन्हें जानते हुए, की गांवों में ठहरते और ग्रामीण लोगों से मिलते हुए जाते हैं, जिससे बिक्रम अरुणाचल को गहराई से जानने-समझने लगता है। निसमी के गाँव में बिक्रम को देख हर कोई उसे देबांग ही समझता है, यही हाल मिनी का भी होता है वो भी बिक्रम को देबांग समझ धीरे-धीरे ठीक होने लगती है कि एक रात अचानक उसकी मृत्यु हो जाती है। इस घटना से बिक्रम-निसमी बेहद दुखी होते हैं और एक-दूसरे का साथ छोड़ने का निश्चय करते हैं। इस घटना के सालों बाद बिक्रम अरुणाचल प्रदेश जाता है और उसकी मुलाकात निसमी से होती है, इस बीच एक दूसरे की याद में बिक्रम ने अपना नाम बदलकर देबांग कर लिया और निसमी ने मिनी। वर्षों बाद उनकी यह मुलाकात उन्हें अतीत की सुखद यादों में ले जाती है और उपन्यास का अंत हो जाता है।

‘सियांग के उस पार’ उपन्यास काल्पनिक ढंग से लिखा गया है, यद्यपि उसमें अरुणाचल प्रदेश के प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण और वायुसेना के जवानों का जीवन-संघर्ष और वायुसेना से जुड़ी

तकनीकी शब्दावली उपन्यास में जिज्ञासा और यथार्थ का मिश्रण पैदा करता है। लेखक की पूर्वोत्तर से संबद्ध कुछ व्यक्तिगत अनुभूतियाँ और वन-संस्कृति के प्रति व्याख्यात्मक दृष्टि उपन्यास को एक विशिष्ट स्वर देती हैं। किंतु शिल्पगत दृष्टि से रचना में कई स्थानों पर अति नाटकीयता तथा कथानक में अविश्वसनीयता के लक्षण नजर आते हैं। जैसे- प्रेमी का अचानक गायब होना, उसके 'दोहरे' स्वरूप का प्रकट होना, प्रेम में बिछुड़कर एक-दूजे की याद में अपने नाम बदलना इत्यादि ऐसे प्रकरण जो उपन्यास को फिल्मी-प्रभाव देते हैं। समग्रतः में कहा जाए तो यह उपन्यास पूर्वोत्तर की वन-संस्कृति पर संवेदनशील विवेचन प्रस्तुत करता है, पर समग्र रूप से यह रचना क्षेत्रीय-सामग्री की गहन सामाजिक-राजनैतिक जानकारी नहीं देती। शिल्पगत कमजोरियाँ और अतिस्वप्नीय घटनाक्रम इसे साहित्यिक दृष्टि से सीमित बनाते हैं।

‘लोहित’ (अनिता सभरवाल)

विवेच्य उपन्यास ‘लोहित’ की लेखिका अनिता सभरवाल हैं तथा इसका प्रकाशन 2019 में परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली से हुआ। अनिता सभरवाल अंग्रेजी-शिक्षित (स्नातकोत्तर एवं पत्रकारिता-डिप्लोमा) लेखिका हैं, जिनकी कहानियाँ व निबंध अनेक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। उनकी पुस्तक-सूची में ‘यात्राशेष’, ‘लोहित’ तथा ‘तिरिया’ है।

लोहित (2019) असम आंदोलन और उल्फा-संबंधी संदर्भों को भावपूर्ण एवं सशक्त ढंग से चित्रित करता है। उपन्यास में जातिगत विरोध, आंतरिक विसंगतियाँ, अस्मिता संघर्ष, युवा-वर्ग का भटकाव तथा सामाजिक द्वैधता को प्रमाणिकता से प्रस्तुत किया गया है। नायिका जोयमती का गैर-असमी युवक से संबंध और उसके कारण समाज द्वारा हो रहे प्रतिरोध का मनोवैज्ञानिक विवेचन लेखिका ने कलात्मकता के साथ किया है। ब्रह्मपुत्र को उपन्यास में एक जीवंत प्रतीक के रूप में शामिल करना तथा असम की परंपरागत सामाजिक संरचनाओं को कथ्य में उभारना इस कृति की प्रमुख उपलब्धियाँ हैं।

प्रस्तुत उपन्यास की कथा असम की जोयमती (जोय) नामक एक युवती की कहानी है, जिसका संबंध असम के एक राजवंशीय परिवार से है। जोयमती एक निःस्वार्थ और कोमल हृदय वाली लड़की है और उसका सबसे घनिष्ठतम मित्र है 'लोहित' (ब्रह्मपुत्र नदी का अन्य नाम) नदी। यहाँ उपन्यास में लोहित नदी को एक पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। असम में बहिरागत घुसपैठिए की समस्या को लेकर चल रहे आंदोलन में जोयमती के कॉलेज के विद्यार्थी भी सक्रिय हैं। उन्हीं में एक छात्र नेता हितेन से जोयमती भावनात्मक रूप से जुड़ जाती है, फिर जोय के पिता का तबादला पंजाब हो जाता है और वहाँ वह बृजेंद्र से मिलती है। जोय की स्थिति त्रिशंकु जैसी हो जाती है। अंततः वह बृजेंद्र से विवाह करती है। शादी के बाद जोय-बृजेंद्र असम आ जाते हैं। बृजेंद्र को एक तेल रिफाइनरी में नौकरी मिल जाती है, वे दोनों खुशी-खुशी एक साथ रहने लगते हैं। इस बीच असम में बाहरी-भीतरी का संघर्ष शुरू हो जाता है, जिसके निशाने पर जोय और बृजेंद्र भी आ जाते हैं। जोय सोचती है कि ये आंदोलनकारी किसे विदेशी कह रहे हैं? इसी बीच जोय के जीवन में हितेन फिर से लौट आता है और जोय-बृजेंद्र की रक्षा करता है। हितेन की हालत देख जोय को पश्चाताप होता है और वह उसे श्रावणी से शादी कर अपनी माँ के पास अमेरिका लौट जाने को कहती है। उपन्यास के उत्तरार्ध में सैन्य अभियान, उल्फा आंदोलन जोय-बृजेंद्र-हितेन का अंतर्द्वंद्व जैसे घटनाओं से उपन्यास का परिवेश काफी भारी और अस्पष्ट हो जाता है, जिसके निवारण के रूप में जोय के पुत्र लोहित का जन्म होता है। उपन्यास में शिशु लोहित का जन्म असम और सभी पात्रों के जीवन में पुनर्जन्म का प्रतीक बनकर उभरता है।

“लोहित” उपन्यास विचारोत्तेजक कथानक और उत्कृष्ट भाषा-शैली के कारण समकालीन कथा साहित्य में अनूठी संवेदना के साथ अभिव्यक्त होता है। लेखिका अनिता सभरवाल ने देश और व्यक्ति की नियति का जो सघन चित्रण प्रस्तुत किया है वह अद्भुत है। उपन्यास की कथावस्तु असम प्रदेश के परंपरागत जीवन प्रवाह के साथ वर्तमान राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक परिवेश को आत्मसात् कर विकसित हुई है। असम की सामाजिक कुरीतियों (विशेषकर जातिवाद) के कारण उत्पन्न पीढ़ी-संघर्ष का ज्वलंत वर्णन किया गया है। युवा वर्ग के भटकाव का यथार्थस्वरूप रचनाकार ने

वहां रहते हुए देखा, अनुभव किया। हितेन और जोयमती जैसे मुख्य चरित्रों के द्वारा लेखिका ने उस रोशनी की तलाश की है जो तनाव, अवसाद, विघटन, हताशा और मोहभंग के घने अंधकार में न्याय, समानता, एकता की उम्मीद जगाती है।”¹ विषयगत गहराई, भाषा-शैली तथा संवेदनशील चरित्रांकन की वजह से ‘लोहित’ समकालीन कथा साहित्य में प्रभावी योगदान प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास असम के सामाजिक-राजनैतिक परिदृश्य को साहित्यिक विवेचन के रूप में पाठक के समक्ष रखता है।

‘प्रेमवल्लरी’ (मलिक राजकुमार)

अरुणाचल प्रदेश की लोक-संस्कृति पर आधारित उपन्यास ‘प्रेमवल्लरी’ का प्रकाशन वर्ष 2019 में विद्या विहार, नई दिल्ली से हुआ तथा इसके लेखक मलिक राजकुमार हैं। मलिक राजकुमार (जन्म 15 फ़रवरी 1955) का साहित्यिक कार्य पंजाबी, हिंदी तथा यात्रा-संदर्भों में विस्तृत है। रचना-संसार- नदी बहती है, एक लड़की पारुल (कविता-संग्रह), संपादन साँझे अला (सिरायकी कविता-संग्रह), शब-ए-मालवा (ग़ज़ल-संग्रह), संबंधों की नाव, लामबहादुर के बैल, शहतूत की आँख, नींद का रिश्ता, सिरायकी कहानियाँ (कहानी-संग्रह), जड़ां दी तलाश (पंजाबी कहानी-संग्रह), पैरों तले पहाड़ (यात्रा-वर्णन), दादका-नानका (पाकिस्तान यात्रा-संस्मरण), एक और त्रिशंकु, बाई पास, प्रेमवल्लरी, स्टेशन मास्टर, कीकरवाला चौक (उपन्यास), मलोहिया दा वेड़ा (मुलतान की वार)। संपादन: भारतीय लोरी साहित्य कोश, पंजाबी संस्कृति, हिसार, जायसी ग्रंथावली (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), अभिनव इमरोज (त्रैमासिक) ग़ज़ल अंक व मंटो अंक।

‘प्रेमवल्लरी’ उपन्यास में दीपेश, उसकी पत्नी और ओई (अरुणाचली युवती) के बीच प्रेम-संबंधों तथा लिविंग-रिलेशनशिप के जटिल परिणामों का चित्रण है। कथानक में अरुणाचल का प्रयोग मुख्यतः परिवेशीय भूमिका तक सीमित रहता है, उपन्यास का कथ्य पारंपरिक लोक-जीवन के गहरे विश्लेषण के स्थान पर व्यक्तिगत संबंधों के भावनात्मक द्वंद्व पर केंद्रित है। कई संवादों और दृश्यों में स्थानीय भाव-भंगिमा को दिखाने का प्रयास है, पर समग्र रूप से यह कृति क्षेत्र-केंद्रित अनुसंधान के

¹ सभरवाल, अनिता. (2019). लोहित. पुस्तक के फ्लैप से

लिए सीमित उपयोगिता रखती है। “हाँ...कर दिया माफ, माफ न करती तो क्या करती, प्रकृति ने ही मुझे तुम्हारे पास बुला भेजा है। अब मुझे ऑफिस से हफ्ते भर की छुट्टी मिल गई हैं। अपना अरुणाचल मुझे घुमाओगे ना दीपेश की पत्नी ने उसे बाँहों में लेकर सहला दिया। फिर पलंग पर सहारा देकर बैठा दिया। ओई बड़े ध्यान से दोनों का मिलन देख रही थी। दीपेश ने उससे कहा...दे मेरी पत्नी के सारे प्रश्नों का जवाब। मेरी बात सुनने की तो इसने जहमत ही नहीं उठाई। दीपेश की पत्नी ने जवाब दे दिया, नहीं, मुझे किसी से कोई जवाब नहीं चाहिए। किसी से कोई प्रश्न भी नहीं करना। ओई बोल पड़ी, मैं सिर्फ प्रेम-वल्लरी हूँ। दीपेश के सहारे फली-फूली हूँ। आप इस तरह समझें कि हमारा संबंध लिवइन रिलेशन जैसा ही था। अब मैं वह भी खत्म करती हूँ। दीपेश आपके थे, आपके हैं, आपके ही रहेंगे। प्रकृति हमसे यही चाहती थी तो मिला दिया, अब उसका हित पूर्ण हुआ तो दीपेश आपके हैं। दीपेश की पत्नी ओई को इस तरह बोलता देखकर मंत्र-मुग्ध सी खड़ी रह गई। फिर बोली, थैक्स ओई।”¹ उपन्यास की भाषा-रुचि तथा संबंधों का चित्रण पाठकों के लिए रोचक हो सकता है, किंतु जो पाठक विस्तृत क्षेत्रीय-सांस्कृतिक अवलोकन अपेक्षित करते हैं, उन्हें यह रचना अपेक्षित गहराई नहीं दे पाएगी।

‘नदी की टूट रही देह की आवाज’ (श्रीप्रकाश मिश्र)

‘नदी की टूट रही देह की आवाज’ के लेखक श्रीप्रकाश मिश्र हैं, यह उपन्यास लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज से वर्ष 2020 में प्रकाशित हुआ। श्रीप्रकाश मिश्र की उपन्यास रचना में पूर्वोत्तर पर लिखे जाने वाले सामाजिक-राजनीतिक उपन्यासों की एक महत्वपूर्ण परंपरा है, नदी की टूट रही देह की आवाज इसी संदर्भ में असम में अवैध घुसपैठ तथा उससे उत्पन्न सामाजिक संघर्षों पर केंद्रित एक महत्वाकांक्षी कृति है। “श्रीप्रकाश मिश्र का पूर्वोत्तर भारत को लेकर लिखा गया यह तीसरा उपन्यास... बोड़ो युवकों द्वारा हथियार उठा लेने की विवशता को भी प्रस्तुत करता है। उपन्यास ‘नदी की टूट रही देह की आवाज’ असम में बांग्लादेशी नागरिकों के अवैध घुसपैठ की भीषण समस्या को चित्रित करता है। यह उपन्यास कोरे तथ्यों के द्वारा नहीं, रोचक कथा के द्वारा आकार ग्रहण करता है। जिस वातावरण

¹ राजकुमार, मलिक. (2019). प्रेमवल्लरी. पृ.133-134

का चित्रण इस उपन्यास में किया गया है, वह बड़ा ही सजीव है। इस उपन्यास के पात्र हाड़-माँस के जीवित व्यक्ति लगते, विचारों के निर्जीव पुतले नहीं। कथा का केंद्र है असम के मडलदै नामक स्थान का एक गाँव- जाऊगाँव। समय-सीमा है भारत की स्वतंत्रता के बाद से लेकर असम आंदोलन के बाद तक का कुछ काल। असम में बांग्लादेश के नागरिकों की अवैध घुसपैठ से यहाँ की जनजातियों की जमीनें छीन गई है। इस उपन्यास में बोड़ो जनजाति के साथ अवैध बांग्लादेशी घुसपैठियों की जमीन को लेकर चले संघर्ष को चित्रित किया गया है।¹ उपन्यास का केंद्र बिंदु बोड़ो जनजाति और बांग्लादेशी घुसपैठियों के कारण भूमि-हिंसा के संघर्ष हैं। रचना में भूमि-कब्जा के छोटे-छोटे प्रसंगों के जरिये स्थानीय लोगों की असहायता, घाव और विद्रोह की प्रतिव्यथा को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणतः वसुंधर के खेत पर नमाजगाह बन जाने का प्रसंग सामूहिक भूमि-संकट का आंखों देखा सशक्त प्रतिरूप है। वसुंधर की दयनीय स्थिति का चित्रण करते हुए उपन्यासकार ने एक जगह लिखा है- “वसुंधर खड़े-खड़े ही बातकर गाँव लौट आया। पर पलखत नहीं पड़ा। उसे लगता था कि नमाज शुक्रवार को पढ़ी जाती है। इसलिए वह शुक्रवार को बड़े सबेरे उठकर अपने खेत पर चला जाता और पात की चटाइयाँ और आगे तक बिछा दी गई हैं। देखते-ही-देखते दो-तीन माह में पूरा खेत ही नमाजगाह बन गया। वह हर बार एतराज जताता और टका-सा उत्तर पाता कि क्या करें नमाजियों की संख्या बढ़ती जा रही है और यह धर्म का कारज है। पर जब पूरा खेत कब्जा हो गया तो उसका धैर्य जवाब दे गया। बड़ा गर्जन-तर्जन मचाया, पर हुआ कुछ नहीं।”²

श्रीप्रकाश मिश्र ने उपन्यास में असम की भूमि-संपदा, जातीय संघर्ष और राजनीतिक उदासीनता के बीच जन-आत्मा की करवटें उभारी हैं। भाषा में असमिया/बंगला शब्दों का समावेश स्थानीयता को सशक्त बनाता है। उपन्यास न केवल घटनात्मक रूप से बल्कि मानव-केंद्रित चरित्रांकन के दृष्टि से भी प्रबल है- पात्र जीवंत तथा परिस्थितिग्रस्त दिखाई देते हैं। इस संदर्भ में विजय कुमार

¹ मण्डल, संजीव. (जुलाई-सितंबर, 2022). नदी की टूट रही देह की आवाज में चित्रित घुसपैठ की समस्या. (शोध-चिंतन पत्रिका, संपादक: रीतामणि वैश्य). पृ. 44

² मिश्र, श्रीप्रकाश. (2020). नदी की टूट रही देह की आवाज. पृ. 26

तिवारी का कथन उल्लेखनीय है- “श्रीप्रकाश मिश्र का यह उपन्यास हिंदी साहित्य को अपनी तरह से समृद्ध करने वाला है। इसमें काल खण्ड की राजनीति है, सामाजिक संघर्ष है और असमीया मानुस को जाति, धर्म, क्षेत्र में बांटने का षड्यंत्र भी है। कुल मिलाकर यह ऐतिहासिक दस्तावेज है, जिसे पूरे देश को जानना चाहिए। संपूर्ण निराशाओं के बावजूद लोगों में उम्मीद थी, शायद उनके छिने गए खेत वापस मिल जायें। उनका यह मूक समर्थन वसुमतारी को पर्याप्त लगता। विद्यार्थी जोश में आ रहे थे और आंदोलन के लिए उतारू होने लगे। शांतिपूर्ण और उग्र दोनों तरह के आंदोलनों के हिमायती थे। जुलूस निकला और बाजार आते-आते अनियंत्रित हो गया। दुकानें धड़ाधड़ बंद होने लगीं, मारपीट शुरू हो गई। नेत्री दिव्या के कपड़ों को गुण्डों ने तार-तार कर दिया। अपनी लाज बचाने के लिए हाथ-पाँव समेटकर जमीन पर बैठ गई। किसी महिला ने अपनी शॉल डाल दी। जुलूस में शामिल कुलियों पर बहुत मार पड़ी। उधर जाऊगाँव में सजधज कर बैठी उर्सला ने नितिन बड़ ठाकुर के साथ विवाह की अनुमति, आशीर्वाद और सहमति मांगे। नितिन को उर्सला के सामने खड़ा किया गया। सबकी अनुमति मिली। वधू शुल्क दो हजार रुपये तय हुआ। यु लिन रो पड़ा। उर्सला भी पिता से लिपटकर रोने लगी, मार्मिक चित्रण मिश्र जी ने किया है।”¹

‘नदी की टूट रही देह की आवाज’ असम के लिए महत्वपूर्ण एक साक्ष्य-उन्मुख उपन्यास है जो बांग्लादेशी घुसपैठ के प्रभाव को स्थानीय जनजीवन के स्तर पर विवेचित करता है। यह कृति सामाजिक-राजनैतिक विमर्श में उपयोगी ठहरती है और क्षेत्रीय आंदोलन तथा भूमि-संबंधी असमानताओं पर एक साहित्यिक दस्तावेज के रूप में प्रासंगिक है।

उपरोक्त वर्णित उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत के लगभग सभी राज्यों पर पर्याप्त साहित्यिक सामग्री उपलब्ध मिलती है। कालक्रम की दृष्टि से देखा जाए तो वर्ष 1956 से लेकर 2020 के बीच 64 वर्षों के अंतराल में इन सभी उपन्यासों का सृजन हुआ है। इस उल्लेखित समयावधि में पूर्वोत्तर भारत में हिंदी के

¹ तिवारी, विजय कुमार. (जुलाई 2022). ‘नदी की टूट रही देह की आवाज की मर्म भरी संवेदनाएं’. (सेतु पत्रिका, संपादक : अनुराग शर्मा) से उद्धृत

प्रचार-प्रसार में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है, जिसके फलस्वरूप अब पूर्वोत्तर भारत में अधिक मात्रा में मूल स्थानीय लेखकों द्वारा साहित्य सृजन हो रहा है। 'ब्रह्मपुत्र', 'रक्तयात्रा', 'रूपतिल्ली की कथा', 'देश भीतर देश', 'जंगली फूल', 'मेरी आवाज सुनो' जैसे उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न मुद्दों यथा सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि को उठाया गया है। कुछ उपन्यासों में जैसे 'हिडिंबा' में हिडिंबा को नागालैंड की पुत्री के रूप में चित्रित किया गया है, किंतु हिमाचल प्रदेश के लोग भी हिडिंबा को अपने प्रदेश से संबंधित मानते हैं, लोक-आस्था के ऐसे बहुत से प्रसंग मिलते हैं जो सर्वत्र अपनी एकरूपता नहीं रखते। उसी प्रकार श्रीप्रकाश मिश्र और महेंद्रनाथ दुबे के उपन्यासों में मेघालय की खासी जनजाति के लिए 'खसिया' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसे खासी समाज के लोग अच्छा नहीं मानते, किंतु किसी भी रचनाकार की अपनी एक पृष्ठभूमि होती है, जिसकी छाप उसके सृजनशीलता में दिखाई देती है। इसी प्रकार जंगली फूल, मिनाम और मेरी आवाज सुनो जैसे उपन्यासों की भाषा में चलताऊ हिंदी, कहीं-कहीं व्याकरणिक अशुद्धि एवं हिंदी फिल्मों से प्रेरित संवादों की झलक देखने को मिलती है। अतः इसे भाषिक शुद्धता के घेरे में न देखकर अभिव्यक्ति की सरलता और आधुनिक भाषिक स्वरूप के रूप में देखा जाना चाहिए, परंतु संवेदनशील मुद्दों पर रचनाकारों को भी सतर्कता बरतनी चाहिए। वस्तुतः पूर्वोत्तर भारत पर रचे गए उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत के स्थानीय लेखक हों अथवा गैर स्थानीय लेखक, सभी ने अपने लेखन में पूर्वोत्तर भारत के प्रति एक समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिसे पढ़कर कहीं से भी यह अंतर कर पाना मुश्किल है कि रचनाकार किस प्रांत का है, जो रचना के मर्म को अक्षुण्ण रखता है तथा साहित्य के वास्तविक अभीष्ट को सार्थक बनाता है।

अध्याय-4

पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त लोक संस्कृति के विविध पक्ष

4.1 लोक मान्यताएं, परंपरा एवं मिथकीय संदर्भ

4.2 लोक संरचना में स्त्री-जीवन और मातृवंशीय समाज

4.3 लोक-पर्व, रीति-रिवाज एवं लोक कलाएं

4.4 संस्कार, अनुष्ठान और लोक प्रथाएं

4.5 लोक-जीवन और सांस्कृतिक समन्वय

4.1 लोक मान्यताएं, परंपरा एवं मिथकीय संदर्भ

‘लोक’ एक अत्यंत विशिष्ट और व्यापक अवधारणा है, जिसकी परिधि में समूचा मानव संसार समाहित है। मनुष्य का जीवन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने लोक-परिवेश पर आश्रित रहता है। प्रकृति में विद्यमान सभी रूपाकार, जीव-जंतु, भौगोलिक स्थितियाँ और घटनाएँ लोक के ही अंग हैं। मानव-निर्मित जगत में प्रत्येक सजीव और निर्जीव तत्त्व भी लोक के दायरे में आते हैं। भारतीय संस्कृति में मनुष्य का लोक से संबंध जन्म से भी पहले स्थापित हो जाता है। गर्भाधान संस्कार से लेकर अन्नप्राशन, नामकरण, मुंडन, विद्यारंभ, उपनयन, विवाह और मृत्यु संस्कार तक हर क्रिया लोक परंपराओं से जुड़ी होती है। लोक वह मूल स्रोत है, जिससे साहित्य, शास्त्र, चिकित्सा, संगीत, स्थापत्य, कला, नृत्य और ज्ञान-विज्ञान जैसी अनेक विधाएं उत्पन्न हुई हैं। समय, स्थान और परिस्थितियों के अनुसार इसका स्वरूप निरंतर परिवर्तित और विकसित होता रहता है। भारत की विविध भौगोलिक और सांस्कृतिक संरचना इसे अत्यंत विशिष्ट बनाती हैं। यहां प्रत्येक क्षेत्र की अपनी लोकपरंपराएँ, भाषाएँ, वेशभूषाएँ और जीवन शैली हैं। ‘कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बानी’ यह कहावत भारतीय सांस्कृतिक विविधता की सजीव झलक प्रस्तुत करती है। भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र में स्थित आठों राज्यों की अपनी-अपनी विशिष्ट लोक-संस्कृति, भाषा-बोली, खान-पान और परंपराएँ हैं, जो इसे बाकी राज्यों से अलग पहचान देती हैं।

उपन्यासों में विन्यस्त लोक मान्यताएं-

लोक-मान्यताएं किसी समाज की सांस्कृतिक संरचना की आधारशिला होती हैं। सामान्य जनजीवन इन विश्वासों से ही संचालित होता है। ये मान्यताएं अपने उत्पत्ति-काल और प्रयोग के संदर्भों में विविध रूप धारण करती हैं। किसी शुभ-अशुभ संकेत, शकुन, अपशकुन या टोटके के रूप में ये विकसित होती हैं। कभी-कभी इनका आधार वैज्ञानिक दृष्टि से युक्तिसंगत होता है, तो कभी केवल परंपरा या अंधविश्वास पर टिका होता है। समय के साथ जब ये समाज स्वीकृत हो जाते हैं, तब ये दृढ़

लोक-मान्यताओं में परिवर्तित हो जाती हैं। विशेषकर आदिवासी समाजों में लोक-विश्वासों की जड़ें अत्यंत गहरी और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सक्रिय दिखाई देती हैं। पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में ऐसी लोक मान्यताओं का सशक्त चित्रण हुआ है।

‘रूपतिल्ली की कथा’ ऐसा ही एक उपन्यास है जो खासी लोकविश्वास पर आधारित है। इसमें अनेक पारंपरिक मान्यताओं और लोकविश्वासों को कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास का केंद्र ‘नरबलि’ की परंपरा से जुड़ा एक मिथकीय विश्वास है। खासी समाज में यह धारणा प्रचलित है कि बलि देने से भावी अनिष्ट होने से बचा जा सकता है, इस परंपरा का उल्लेख मिथकों और लोककथाओं में तो मिलता है, परंतु इसके वास्तविक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। प्रायः लोकविश्वास के पीछे किसी न किसी प्रकार की कोई किंवदंती होती है, लेखक श्रीप्रकाश मिश्र ने इस लोकविश्वास को जीवंत रूप में चित्रित किया है- “लब्बोलुआब यह कि राडजिरतेह के उस पार कोडखेन गाँव में कभी बड़ा ही उत्तम बाजार लगता था। इलाके भर के लोग लांघियाड नाले के सुंदर पुल को पार कर उस बाजार में जाया करते थे। कुछ समय तक तो सब ठीक-ठाक चलता रहा। लेकिन बाद में यदि दस लोग साथ जाते तो उनमें से पाँच ही वापस आते। दो गुजरते तो एक गायब हो जाता। हाँ यदि कोई एक जाता तो उसे कुछ नहीं होता। सभी हैरान। तब टोटका करने वालों ने बहुत यत्न करके पता लगाया कि राडजिरतेह गाँव के बगल की गुफा में कहीं से आकर एक विशाल साँप रहने लगा है। देवता ने आज्ञा दे रखी है कि जो भी जीवित प्राणी उधर से गुजरे उसे वह निगल जाए। शर्त यह होगी कि जितने परानी होंगे उनका आधा छोड़ना होगा। इसलिए वह एक परानी को नहीं निगलता है। इससे जन-जन में यह भय पैठ गया कि धीरे-धीरे करके यह साँप एक दिन पूरे खसिया प्रांतर के आदमी-पशु-परानी को खाकर पूरे इलाके को बीरान कर देगा। इससे उबरने के लिए उन लोगों ने पहाड़ के और मैदान के लोगों की एक सभा बुलाई सुनाई के बाजार में। बड़ी गहमा-गहमी हुई। लंबी-लंबी बहसें हुईं तय हुआ कि उनके बीच का कोई एक आदमी साँप से दोस्ती करे, फिर उसकी पूजा तय कर दे। लेकिन कोई आदमी अपनी जान जोखिम में डालने के लिए तैयार नहीं हुआ। माना कि वह अकेले आदमी को नहीं निगलता। लेकिन

साँप की जात, निगल ही बैठे तो? यही न कि देवता का कौल तोड़ने की उसे सजा मिलेगी। लेकिन सजा जब मिलेगी तब मिलेगी, उसकी जान तो चली गई होगी। होते-होते बात सुनाइदोह के पास पहुँची। बाग का रखवाला। दिन ताम्बूल, आम, कटहल, नीबू, संतरे, अनानास की सेवा कर के बिताता। उनका मालिक अकेला आदमी। अकेले तो बहुत से लोग थे। लेकिन वह स्वभाव का बहादुर था। यह बहादुरी भीतर की चीज होती है, उपदेश या लालच से नहीं आती। उसी बहादुरी ने उसे उकसाया तो उसने साँप को समाप्त करने का बीड़ा उठाया-पूजा का कौल बाँधने पर तो जान चढ़ानी ही पड़ती, चाहे एक-एक कर ही क्यों न हो। इसलिए उसे समाप्त कर देना ही ठीक है। पर कैसे? लोग उसकी चिरौरी तो कर सकते थे, पर रास्ता नहीं बता सकते थे। सुनाइदोह ने स्वयं ही रास्ता खोजा। भेड़, बकरी, खरगोश, बछड़ा लेकर जाता और थ्लेन को पेट भर खिलाता। होते-होते थ्लेन उसकी आहट पहचानने लगा और भोजन के लिए इंतजार करने लगा। उसके पाँवों की आवाज पर मुँह बा देता जैसे दोस्ती के लिए हाथ बढ़ाया हो। सुनाइदोह उसके मुँह में भेड़-बकरी का मांस भर देता। वह इतना हिये लग गया कि सुनाइदोह अगर आता नहीं तो गुस्सा होता। किंतु गुस्से में हानि नहीं पहुँचाता। एक तरह से मनुहार करता। सुविधा पाकर उसकी आक्रामकता आलस्य में बदल गई।.....सुनाइदोह उसका मित्र और विश्वासपात्र बन गया। इतना कि वह आँख मूँद कर ही उसका दिया आहार ग्रहण करने लगा। तब एक दिन सुनाइदोह ने अपनी भट्टी में एक बड़ा-सा लोहे का गोला तपाकर लाल किया और चिमटे से उठाये साँप के पास पहुँचा। बड़े प्रेम से पुकारा कि बहनोई ! जल्दी से मुँह खोलो, आज तुम्हारे लिए बड़ा ही लजीज गोश्त लाया हूँ। साँप ने जैसे ही कोकाच बाया उसने जलता गोला उसके मुँह में डाल दिया। थोड़ी आँच तो लगी, लेकिन जब तक कुछ समझता निगलने के लिए मुँह बंद कर लिया। साँप का स्वभाव है कि जिसे निगलने के लिए वह मुँह में भर लेता है उसे न तो छोड़ सकता है, न उगल सकता है। इसलिए छटपटा-छटपटा कर गर्म लोहे का गोला निगलता गया और साथ ही भयंकर आर्तनाद करता गया। उसकी चिगघाड़ सुनकर वन-प्रांतर के सभी पशु-परानी भाग गए। धरती काँप गई, लेकिन सुनाइदोह खुशी से बेहोश हो गया। आँखें खुलीं तो सुस्त पड़े साँप के पास गया। वह कातर आँखों से अपने विश्वासघाती मित्र को देख रहा था।

मरने से पहले बोला, इस विश्वासघात का बदला मेरे शरीर की बोटी-बोटी लेगी। जितनी पेशियाँ हैं सड़कर उतनी साँप बनेंगी। पूरा इलाका साँपों से भर जायेगा। खासी जाति का नामोनिशान मिट जायेगा.....”¹ इस लोककथा में बलि-परंपरा के साथ-साथ खासी समाज और साँप के बीच संबंध का भी गहरा प्रतीकात्मक अर्थ निहित है। यद्यपि जंगल और पर्वतीय इलाकों में साँप जैसे विषैले जानवर का होना आम बात है, किंतु खासी लोक मान्यताओं में इस बात को एक कहानी के स्वरूप में जीवित रखना रोचक और पूर्वजों के तत्कालीन सामाजिक परिवेश को भी दर्शाता है, साथ ही इसमें एक नैतिक शिक्षा भी निहित है कि किसी के साथ विश्वासघात करने पर मनुष्य को उसका प्रतिशोधरूपी परिणाम भोगना पड़ता है। ‘सुनाइदोह’ और ‘थ्लेन’ (साँप) की कथा केवल विश्वासघात और प्रतिशोध की कहानी नहीं, बल्कि यह लोकविश्वासों की उस जटिल मानसिकता का परिचायक है, जिसमें भय, आस्था और लोक-परंपरा एक-दूसरे में परस्पर गुथे हुए हैं।

साँप के श्राप की कथा के परिणामस्वरूप खासी समाज में एक और लोकविश्वास जन्म लेता है। जिससे यह माना गया कि- “लंबी-चौड़ी आशंकाओं, बातों, बहसों के बीच तय होता है कि साँप का आधा हिस्सा मैदान के लोग पकाकर खा लें, आधा हिस्सा पहाड़ के लोग। मैदान के लोगों की संख्या अधिक थी। वे पूरा खा गए। पहाड़ियों की संख्या कम थी। वे थोड़ा-थोड़ा कर बाँट-बाँट कर खाने लगे। उसी में माफू गाँव की बुढ़िया थी, जो अपना हिस्सा वृद्धावस्था के चलते खाना भूल गई। उसी टुकड़े की पेशियों से फिर तरह-तरह के साँप पैदा हुए, जो पहले पहाड़ों में, फिर मैदानों में फैल गए। वे ही लोगों को सताते हैं, खासकर खासियों को।”² इस लोककथा के अनुसार खासी समाज में यह मान्यता गहराई से स्थापित हो गई कि साँप उनके शत्रु हैं। यही कारण है कि आज भी खासी समुदाय सर्प को अपने दुश्मन के रूप में देखता है।

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 24-26

² वही, पृ. 26

इसी तरह आदिवासी समाज में पूजा और अनुष्ठानों में पुरोहितों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। ग्राम-समृद्धि, सुख-शांति और फसलों की भरपूर पैदावार के लिए समय-समय पर विशेष पूजा-अनुष्ठान संपन्न किए जाते हैं। इन अनुष्ठानों में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पारंपरिक मंत्रोच्चारण और प्रतीकात्मक क्रियाएँ की जाती हैं। उदाहरणस्वरूप, खासी समाज के एक अनुष्ठान का वर्णन इस प्रकार मिलता है- “हे देव, अपना पूजा ग्रहण करो और हमारा काम सुगम करो। हे देव। कह कर उन्होंने अंडे को उठा लिया और सामने की कड़ी ज़मीन पर दे मारा। अंडा टूटा तो आधी जर्दी अंडे में बनी रही और आधी छिलके के साथ चिटक कर फैल गई। दोनों पुजारियों ने हाथ माथे के ऊपर ले जाकर आँखें मूँद ली और उ फान किरपद (कृपा के देवता) को गोहरा कर कहा कि हे देव! पूजा ग्रहण करो और हमारे गाँव पर कृपा करो।”¹ इस दृश्य से स्पष्ट होता है कि पूजा की प्रक्रिया में प्रतीकों की महत्ता बहुत अधिक है, यहां अंडा सृजन, जीवन और आस्था का प्रतीक बनकर उभरता है। यह विधि दर्शाती है कि किस प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं के माध्यम से देवता को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाता है।

हर आदिवासी समुदाय की अपनी विशिष्ट पूजा-पद्धति होती है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी परंपरा के रूप में संरक्षित रही है। खासी समाज में ‘उ ब्लेइ’ (देवता) के पूजा स्वीकार करने या न करने का पता लगाने की भी एक पारंपरिक पद्धति है। इसे अत्यंत सावधानी और धार्मिक श्रद्धा के साथ किया जाता है- “मुख्य लिंगदोह ने बड़ी सफाई से अपनी छुरी से मुर्गे का पेट फाड़ दिया। उसकी बड़ी आंत के इर्द-गिर्द जो मटर के बड़े दाने जैसे मांसवृत्त फूले थे, उनमें से जो बड़ा था वह देव का प्रतीक माना जाता था, जो छोटा था, वह आदमी का। दोनों एक पतली झिल्ली से जुड़े थे। वे धीरे-धीरे ऐंठ रहे थे। पुजारियों ने जब उन पर अक्षत छोड़ी तो वे और तेज़ी से ऐंठ-ऐंठ कर करीब आने लगे। ज्यादा हरकत उ ब्लेइ वाले मांस पिंड में थी, जो आदमीवाले मांस-पिंड के करीब आ रहा था। यह इस बात का प्रमाण था कि देवता ने पूजा ग्रहण कर ली है।”² यह अनुष्ठान केवल धार्मिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि लोक-मान्यता और

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 26

² वही, पृ. 45

सामुदायिक एकता का भी प्रतीक है। पूजा के दौरान यह देखा जाता है कि देवता ने आहुति स्वीकार की या नहीं। इससे लोगों को अपने कर्म, फसल, और भविष्य के प्रति विश्वास मिलता है। पूर्वोत्तर भारत के अधिकांश आदिवासी समुदायों में इस तरह की पूजा-पद्धतियाँ आज भी जीवित हैं। इनका स्वरूप भले ही आधुनिकता से प्रभावित हुआ हो, लेकिन इनकी आत्मा अभी भी लोकविश्वास, परंपरा और प्रकृति-आस्था पर आधारित है।

खासी समाज के जीवन और संस्कृति में लोकविश्वासों की गहरी जड़ें हैं। प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व के साथ इस समुदाय की कोई न कोई मान्यता जुड़ी हुई है। ऐसा ही एक विश्वास महीरुह के सफेद फूल से संबंधित है, जिसे खासी लोक परंपरा में एक विशेष संकेत के रूप में देखा जाता है। “खासी मान्यता थी कि हजारों वर्ष तक ज़िंदा रहने वाला यह महीरुह अपने जीवन में दो-चार बार ही खिलता है और जब खिलता है तब खसिया लोक में कोई न कोई अनहोनी अवश्य होती है। यह अनहोनी उनके जातीय जीवन में कोई न कोई परिवर्तन अवश्य लाती है।”¹ यह विश्वास केवल एक पेड़ या फूल से जुड़ा हुआ अंधविश्वास नहीं, बल्कि समुदाय की सामूहिक चेतना का प्रतीक है। प्रकृति के माध्यम से शुभ-अशुभ की भविष्यवाणी करना इस समाज की सांस्कृतिक सोच का हिस्सा है। महीरुह के खिलने को खासी लोग अपने सामाजिक या आध्यात्मिक जीवन में किसी परिवर्तन का संकेत मानते हैं, साथ ही यह उनके जीवन में प्रकृति के महत्त्व को भी दर्शाता है।

लेखक श्रीप्रकाश मिश्र ने अपने उपन्यास में ऐसे ही लोक-मान्यताओं को बड़े संवेदनशील ढंग से चित्रित किया है। उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार खासी समाज अपनी आस्था, भय और प्राकृतिक अनुभवों को मिथकीय कथाओं के रूप में रूपांतरित करता है। सृष्टि और मानव उत्पत्ति को लेकर खासी समाज की अपनी विशिष्ट मान्यता है, जो उनकी मिथकीय चेतना को उजागर करती है- “पहले उब्लेई नोंग-थाऊ (सृष्टि करने वाले देवता) ने आदमी सृजित कर वसुधा पर रख दिया। लेकिन अशुभ हवा-बयार, दुष्टआत्माओं ने उसे नष्ट कर दिया। उसने दुबारा फिर मानव-सृजन

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 66

किया, किंतु उसका हथ्र वही हुआ। तब बहुत सोच-विचार कर उसने पहले कुत्ते की सृजना की फिर आदमी रचा। कुत्ते को आदमी को बचाए रखने का भार सौंपा। कुत्ते ने वैसा ही किया। भँक-भूक कर, काट-काट कर, चहेँट-चहेँट कर दुष्टात्माओं को भगाता रहा। परिणामस्वरूप आदमी बचा रहा। कुत्ता उसकी आज भी रक्षा करता है।¹ कुत्ते को मानव के रक्षक के रूप में स्थापित करना इस बात का प्रतीक है कि मनुष्य और पशु के बीच का संबंध केवल उपयोगिता का नहीं, बल्कि विश्वास और पारस्परिक रक्षा का भी है।

खासी समाज, अन्य आदिवासी समाजों की तरह, शुभ और अशुभ आत्माओं दोनों में विश्वास करता है। यह माना जाता है कि इन आत्माओं का निवास मानव समाज के साथ-साथ इस भौतिक संसार में भी है। इसी विश्वास के आधार पर विभिन्न पूजा-अनुष्ठान आयोजित किए जाते हैं, ताकि इन आत्माओं को संतुष्ट रखा जा सके। ‘रूपतिल्ली की कथा’ उपन्यास में वर्णित सृष्टि से संबंधित एक और महत्वपूर्ण विश्वास खासी लोकजीवन में विद्यमान है- “खासी लोग तो आज भी यही कहते हैं कि सृष्टि के आरंभ में आदमी और देव की एक भाषा थी, जिसके चलते वे आपस में सीधे-सीधे बात करते थे। लेकिन जब पाप आया तो आदमी और देव की दो भाषाएं हो गईं और प्रकारांतर में उनके बीच का यह पुल भी ढह गया। यह पाप क्योंकि और कहाँ से आया यह तो पता नहीं किंतु देव और मानव में संबंध जोड़ने के लिए और उसे बनाए रखने के लिए आदि पुरखा-पुरखिन जिन्हें लुंग-खुनलाई कहते हैं, यह अद्भुत पक्षी मुर्गा खोज लाए अपनी भावी संततियों की रक्षा और कल्याण के लिए। अब वही देव और मानव के बीच संपर्क का काम करता है। तब तक जीवित रहता है, मानव-लोक में विचरता है, जब दिवंगत होता है तब देव-लोक में विचरता है। मानव-लोक से देव-लोक में संदेश तभी ले जा सकता है, जब वह एक विशेष अनुष्ठान में प्राण त्यागे। और यह परा-लोक में विचरण देव को यह याद दिलाने के लिए होता है कि उसने आदमी से वादा किया था कि तुम्हारा कल्याण करूँगा, यदि गाहे-ब-गाहे याद

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 98

करोगे। मेरे माध्यम से आज आदमी ने अमुक काम के लिए तुम्हें याद किया है।”¹ इस विश्वास से यह स्पष्ट होता है कि मुर्गा (पक्षी) देवताओं और मनुष्यों के बीच संवाद का माध्यम माना जाता है। इस प्रकार की लोक मान्यताएं खासी समाज की लोक-परलोक से संपर्क और समरसता की भावना को अभिव्यक्त करती हैं।

पाप और आत्मा की अवधारणा को लेकर भी खासी समाज का दृष्टिकोण अत्यंत विशिष्ट है। अन्य धार्मिक समुदायों की तुलना में उनका दार्शनिक दृष्टिकोण भिन्न है- “खासियों में यूँ भी पाप की अवधारणा नहीं होती क्योंकि नरक की अवधारणा नहीं होती। नरक की अवधारणा नहीं होती, क्योंकि भावी जीवन की अवधारणा नहीं होती। भावी जीवन की अवधारणा नहीं होती क्योंकि आत्मा की अवधारणा नहीं होती। इसलिए वादा खिलाफी की सज़ा सांसारिक है और सांसारिक सज़ा में मृत्यु सबसे बड़ी सज़ा है।”² इस मान्यता से स्पष्ट है कि खासी समाज में परलोक या पुनर्जन्म की धारणा का अभाव है। उनके लिए जीवन और मृत्यु इसी संसार तक सीमित हैं। अतः उनके धार्मिक और नैतिक विचार भी सांसारिक जीवन पर केंद्रित रहते हैं। हालांकि, अनेक आदिवासी समुदायों में पूर्वजों की आत्माओं को सम्मान देने की परंपरा प्रचलित है। आत्माओं को पूर्वजों के रूप में पूजा जाना इस विश्वास का प्रतीक है कि मृत व्यक्ति का अस्तित्व समाप्त नहीं होता, बल्कि वह समुदाय की चेतना में एक संरक्षक शक्ति के रूप में विद्यमान रहता है।

असम का कार्बी समुदाय अपनी विशिष्ट परंपराओं और लोकविश्वासों के लिए जाना जाता है। यह समुदाय भारतीय जनजातीय जीवन की उस परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है, जहां जीवन के प्रत्येक संस्कार जन्म, विवाह और मृत्यु सामाजिक और धार्मिक विश्वासों से गहराई से जुड़े होते हैं। कार्बी समुदाय में मृत्यु-संस्कार की परंपरा भी अत्यंत विशिष्ट है। इसे स्थानीय बोली में ‘समांकन’ कहा जाता है। मृत्यु के बाद आत्मा की गंतव्य-स्थिति का निर्धारण एक पारंपरिक प्रक्रिया द्वारा किया जाता है।

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 98

² वही, पृ. 98

“कार्बी लोगों का मृत्यु संस्कार भी कुछ विशिष्ट होता है। इसे समांकन कहते हैं। इनका विश्वास है कि मृत्यु के बाद व्यक्ति की आत्मा डाम्ब्रा जोमरांग (स्वर्ग) या ड्राम्पाभि (नर्क) में जाती है। किसकी आत्मा कहाँ गई है? इसका पता लगाने के लिए वे शव-संस्कार स्थल पर एक गड्ढा खोदते हैं। अगर गड्ढे में पानी निकल आता है तो मानते हैं कि वह आत्मा स्वर्ग गई है और अगर पानी नहीं निकलता तो मानते हैं कि उसे नर्क वास मिला है। आत्मा के स्वर्ग या नर्क जाने के समय के बारे में भी इनका स्वतंत्र दृष्टिकेण है। जहाँ बड़े लोग मानते हैं कि मरने के तेरह दिन बाद तक आत्मा इधर-उधर चक्कर लगाती फिरती है। नागा लोग मानते हैं कि मरने के तीन दिन बाद तक आत्मा मृतात्मा की देह में ही बसी रहती है, वहाँ कार्बी लोगों का विश्वास है कि मृत्यु होते ही आत्मा स्वर्ग या नर्क में चली जाती है।”¹ इस विश्वास के अनुसार, आत्मा का स्वर्ग (डाम्ब्रा जोमरांग) या नर्क (ड्राम्पाभि) में जाना, व्यक्ति के कर्म और श्रद्धा पर निर्भर करता है। आत्माओं को कार्बी लोग पूर्वजों के रूप में पहचानते हैं, जो मानव-जगत से विलग होकर भी परिवार और समाज की रक्षा करते हैं। उनकी शांति के लिए समय-समय पर श्राद्ध और पूजा-अनुष्ठान किए जाते हैं। यह एक अनिवार्य प्रक्रिया मानी जाती है, क्योंकि असंतुष्ट आत्माएँ प्राकृतिक आपदाओं या रोगों के रूप में हानि पहुँचा सकती हैं।

पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न जनजातीय समूहों में मृत्यु के बाद आत्मा की गति को लेकर भिन्न-भिन्न विश्वास पाए जाते हैं। जैसे नागा समाज में यह धारणा है कि मृत्यु के पश्चात आत्मा तीन दिन तक मृत शरीर के आस-पास बनी रहती है। कार्बी समाज का विश्वास इससे भिन्न है, उनके अनुसार, मृत्यु के क्षण के साथ ही आत्मा सीधे स्वर्ग या नर्क में प्रवेश करती है। वहीं, अन्य समाजों में यह माना जाता है कि मृत्यु के बाद आत्मा तेरह दिनों तक पृथ्वी पर भटकती है और फिर परलोक की यात्रा आरंभ करती है। मुक्ति उपन्यास में महेंद्रनाथ दुबे लिखते हैं- “जहाँ बड़े लोग मानते हैं कि मरने के तेरह दिन बाद तक आत्मा इधर-उधर चक्कर लगाती फिरती है। नागा लोग मानते हैं कि मरने के तीन दिन बाद तक आत्मा मृतात्मा की देह में ही बसी रहती है, वहाँ कार्बी लोगों का विश्वास है कि मृत्यु होते ही आत्मा स्वर्ग या

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 217

नर्क में चली जाती है।”¹ इस प्रकार कार्बी समाज की आत्मा-संबंधी अवधारणा खासी समाज से बिल्कुल अलग है। खासी समाज, जहां नरक या परलोक की अवधारणा को अस्वीकार करता है, वहीं कार्बी समाज स्वर्ग और नर्क दोनों में दृढ़ विश्वास रखता है। यही विविधता भारतीय लोक-संस्कृति की वास्तविक विशेषता है, जहां एक ही भौगोलिक क्षेत्र के भीतर भी समुदाय-विशेष की आस्थाएँ भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती हैं।

असम के कार्बी समुदाय में अविवाहित मनुष्य के लिए मृत्यु संस्कार के अलग नियम हैं- “इस समाज में विवाह अत्यंत आवश्यक संस्कार है जिसे मनुष्य को मानना ही होता है। अगर कोई व्यक्ति अविवाहित ही ‘मर गया तो उसका अंतिम संस्कार करने के पहले उसके विवाह संस्कार के सारे कर्म किए जाते हैं। इनमें विवाह का सीधा अर्थ वंश-परंपरा की वृद्धि के लिए संतान पैदा करना है।”² इस प्रकार मृत्यु के बाद भी मनुष्य अपने संस्कारों द्वारा अपने लोकविश्वास से जुड़ा रहता है, जहां उसके जीवन में वंशवृद्धि की अहमियत मरणोपरांत भी कायम रहती है। असम की तरह अरुणाचल प्रदेश में भी शव दाह-संस्कार की परंपरागत विधियाँ हैं। “यहां तिब्बती या मोम्पा लोगों में दफन करने, जलाने या जल प्रवाहित करके के अलग रिवाज हैं, वहाँ हर मृत्यु के बाद गोम्पा में ही जन्मपत्री के हिसाब से बताया जाता है कि शव के साथ क्या किया जाए। यहां तो शव-विच्छेद का भी विधान है, शव को टुकड़ों में बाँटकर पानी में या जंगल में डाल देते हैं, ताकि जीव-जंतुओं का आहार बन जाए। उनका विश्वास है कि शरीर पंच तत्वों की देन है। शव बनने के बाद उसकी कोई उपयोगिता नहीं है, अतः उसकी उपयोगिता जीव-जंतुओं के आहार रूप में स्वीकार की गई है।”³ बौद्ध संस्कृति से प्रभावित लोगों में यह आचार प्रचलित है। कुछ जगहों पर बौद्ध अनुयायी अहिंसानुगामी होने के कारण दूसरे प्रदेश से किसी व्यक्ति को शव काटने के लिए बुलाते हैं। उनकी धारणा है कि मानव शरीर प्रकृति निर्मित है और मरणोपरांत भी इसे प्रकृति को समर्पित कर देना चाहिए।

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 217

² वही, पृ. 217

³ राजकुमार, मलिक. (2019). प्रेमवल्लरी. पृ. 79-80

नागालैंड के अंगामी जनजाति में मृत व्यक्ति के शव को किसी बच्चे द्वारा नहलाया जाता है, उसके बाद मृत व्यक्ति के ही बिस्तर पर उसे लिटाकर उसके बगल में उसके पसंदीदा कपड़े, जरूरतमंद सामान, खाने-पीने की वस्तुएँ, एक बर्तन में पानी में धान के बीज, अनाज, गोशत, शराब आदि वस्तुएँ रखी जाती हैं। इस क्रिया में मृत व्यक्ति के घर, उसके परिचितों के घर से सामग्री लाकर उसके पास रखी जाती है। रक्तयात्रा उपन्यास में निकेतुजो की मौत के बाद उसके दाह संस्कार में उसे दफनाते समय “निंगुले ने आगे बढ़कर अपना सामान दिया। उसमें से भी थोड़ा सा सामान कांग में रख दिया गया। तभी फैलेनु ने आकर कहा कि निकेतुजो का चुंगा तो किसी ने रखा ही नहीं और न उसका दाव और भाला। यह कहते हुए उसने दाव और भाले को उसके शव की बगल में रख दिया था और चुंगे को कांग में। वह रोकर शांत हो चुकी थी। पर चुंगे को कांग में रखते हुए फिर से रो पड़ी। हिचकियों में टूट-टूटकर कहती गई, इसी चुंगे में वह मधु पीता था। इसे उसने खुद सुंदर बांस काटकर बनाया था। इस पर उसने मिथुन का सिर भी रंगों से बनाया था। यह चुंगा उसे बेहद पसंद था। उसने यह कुछ ऐसे वेदनावृद्धि स्वर में कहा कि सभी लोगों की आंखें भर आईं। मृत्यु शोक फिर से हरा हो उठा। केदीलिनो भी कैलेनु को छाती से लगा-कर फूट-फूटकर रो पड़ा। वह रोते-रोते कहने लगा, तू मत दुःखी हो मेरी बेटी। निकेतुजो तारा बनकर रात के अंधेरे में हमें गांव-जंगल में रास्ता दिखाएगा। चोरों से हमारी निगरानी रखेगा। अंधेरे में घात करने वाले दुश्मनों से हमें होशियार रखेगा।”¹ इस प्रकार अन्य जनजातियों की तरह अंगामी समुदाय में भी मरने के बाद परलोक की अवधारणा देखने को मिलती है।

पृथ्वी की उत्पत्ति को लेकर एक प्राचीन और प्रसिद्ध लोकविश्वास प्रचलित है। यह विश्वास उनके विश्व-दर्शन और सृष्टि-बोध का दार्शनिक रूप प्रस्तुत करता है। उनके अनुसार- “पृथ्वी का जन्म गैसीय पिंडों से हुआ है। फिर जल, जलचर, वृक्ष-वनस्पति तब जंगली-जीव जंतुओं का जन्म हुआ, फिर मनुष्य की उत्पत्ति हुई। ऐसे एक पुरुष ‘वामनयो’ की दो स्त्रियाँ हुई। एक कार्बी जाति की दूसरी असमीया। कार्बी स्त्री की कोख से महाशक्तिशाली राम का जन्म हुआ। सभी हिंदू इसी राम की संतान हैं,

¹ भिक्खु, कृष्णचंद्र शर्मा. (1978). रक्तयात्रा. पृ. 97

जबकि असमीया स्त्री की कोख से दुबला-पतला कमजोर बालक जन्मा। कुछ लोक कथाओं के अंत में उससे प्राप्त होने वाली शिक्षा का उपदेश छंदबद्ध रूप में रहता है। कुत्ता, बिल्ली, बन्दर, हाथी, कौआ, राजहंस, सियार, मेंढकी आदि जीव- जंतुओं को लेकर नाना तरह की लोक कथाएँ प्रचलित हैं इन जनजातियों में जिनसे आधुनिक शिक्षित मानव भी विशेष शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं¹ यह लोककथा आदिवासी सृष्टि-दृष्टि का अद्भुत उदाहरण है, जहां प्राकृतिक घटनाओं, जीव-जंतुओं और मनुष्य की उत्पत्ति को एक सांस्कृतिक और पौराणिक ढाँचे में समझा गया है। तथापि, जैसा कि लेखक महेंद्रनाथ दुबे ने संकेत किया है, इस कथा की ऐतिहासिक सत्यता या प्रमाणिकता पर प्रश्न उठाए जा सकते हैं। संभवतः यह किसी धार्मिक या सांस्कृतिक मिथक का प्रतीकात्मक रूप है, जिसका उद्देश्य केवल उत्पत्ति की व्याख्या करना नहीं, बल्कि समाज के सांस्कृतिक गौरव को प्रतिष्ठित करना है।

लोकविश्वास के प्रचलित होने के पीछे भय, भाग्य और राजकीय संरक्षण जैसे कारक भी कार्य करते हैं। किसी बड़े या आभिजात्य वर्ग द्वारा पोषित होने के कारण ऐसे लोकविश्वास आम जनमानस में दृढ़तापूर्वक रूढ़ हो जाते हैं। असम के पोमसातुंग क्षेत्र में नए राजा के राज्याभिषेक से पहले देव-पूजन की परंपरा निभाई जाती थी। इस प्रक्रिया का उद्देश्य राज्य की समृद्धि और जनता की सुरक्षा सुनिश्चित करना था। “परंपरा थी कि नए राजा के गद्दीनशीन होने से पहले पोमसातुंग के लोग तमाम छोटे-छोटे देवों की पूजा करते थे, जिससे फसल अच्छी हो, लोग बीमार न पड़े और नया राज शुभकारी हो। इससे यह जाहिर हो जाता था कि सियेम की नियुक्ति के लिए परिवारों के मुखियों की राय मान ली है। बेह-दियेंग खलाम (ताउन की देवी) की पूजा उमियांग नदी के किनारे होती थी। रोग की देवी महामाई का वास नल्ले के एक घुमाव में माना जाता था। उसे आइतान कहते थे। कहते हैं गरजन के देवता उ लेइ-पिथत जब नाराज होते हैं, तब आइतान पर गरजते हैं। उनकी गर्जना पर देवी क्रुद्ध होकर चल पड़ती हैं आकाश। आकाश में ही युद्ध कर उन्हें परास्त करना चाहती है। लड़ाई के दौरान जो उनके बदन से खून-पसीने की बूँदें गिरती हैं, उसी से ताऊन का रोग फैलता है। पहले चूहे मरते हैं, फिर बिल्लियाँ। फिर कुत्ते

¹ दुबे, महेंद्रनाथ.(1999). मुक्ति. पृ. 218

मरते हैं। उसके बाद दीगर पालतू पशु। अंत में आदमी। यानी महामाई बिना पूर्व सूचना दिए लोगों को डँसती नहीं। चूहे-बिल्लियों के मरने को देखकर यदि पूजा चढ़ा दिया जाए तो उनका कोप थम जाता है। इसी से इशारा पाकर लिंगदोह लोगों ने वर्षा का एक माह तय कर दिया है जब बिना उनके कोप के ही पूजा चढ़ाकर अग्रिम सुरक्षा की गारंटी ले ली जाती है। राज्याभिषेक जैसे बड़े राजकीय उत्सव हो तो उनको नेवतना आवश्यक है।¹ इस लोकविश्वास में प्रकृति, देवी-देवता और महामारी का गहरा संबंध दिखाई देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आदिवासी समाजों में रोग और प्राकृतिक आपदाओं को दैवीय चेतावनी के रूप में देखा जाता है और पूजा-अनुष्ठान के माध्यम से उनसे निवारण का प्रयास किया जाता है।

‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास में उपन्यासकार ने असम के मीरी समुदाय की पारंपरिक आस्था और धार्मिक उत्सवों का सजीव चित्रण किया है। यह समाज अपने ‘दबूर पूजा’ नामक विशेष पर्व के लिए प्रसिद्ध है। है। “मीरी समुदाय में एक पारंपरिक त्यौहार मनाया जाता है ‘दबूर पूजा’। पूजा के लिए मीरी भाषा का शब्द है ‘उई’, अतः मीरी लोग इस त्यौहार को ‘दबूर उई’ कहते थे। असमीया और नेपाली लोगों का विश्वास था कि दबूर इंद्र देवता का ही मीरी रूप है इसलिए वे इसे इंद्र-पूजा कहते थे। यह पूजा वर्ष में दो बार की जाती थी। चैत और आश्विन में एक-एक बार इसकी पूजा अवश्य की जाती थी।”² यह पूजा वर्षा, फसल और समृद्धि के प्रतीक के रूप में की जाती है। किंतु आधुनिक समय में धर्मांतरण और ईसाई प्रभाव के चलते इन परंपराओं में गहरा परिवर्तन आया है। धर्मांतरण के कारण पारंपरिक पूजा-पद्धतियों, पुरखों की उपासना और लोक-नृत्य जैसे सांस्कृतिक प्रतीक क्षीण हो गए हैं। अब इन समुदायों में चर्च और ईसाई रीति-रिवाजों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल से ही प्राकृतिक घटनाओं, रोगों, जन्म और मृत्यु के अनुभवों से लोकविश्वासों की उत्पत्ति हुई। समय के साथ ये विश्वास समाज द्वारा स्वीकार

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 218

² सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र, पृ. 24

किए गए और परंपरा के रूप में स्थिर हो गए। इस प्रकार हम देखे तो पता लगता है कि आदिम काल में कैसे प्राकृतिक घटनाओं से पौराणिक व लोक मान्यताओं की सृष्टि हुई, जो कालांतर में चलकर समाज स्वीकृत होकर परंपरा में बदलती गई। लोक-विश्वास की प्रासंगिकता तभी है, जब हम अपनी सांस्कृतिक वैविध्य और सांस्कृतिक पहचान को बचाकर रखेंगे अन्यथा लोक-विश्वास की प्रासंगिकता तभी खत्म हो जाती है जब हम अपनी संस्कृति-पहचान को भूलकर किसी अन्य की संस्कृति-पहचान को अपना लेते हैं। लोकविश्वास केवल धार्मिक आस्था नहीं बल्कि सांस्कृतिक पहचान और सामूहिक स्मृति का प्रतीक हैं। यदि किसी समाज की परंपराएँ और लोकविश्वास नष्ट हो जाएँ, तो उसके अस्तित्व की जड़ें भी कमजोर पड़ जाती हैं।

उपन्यासों में चित्रित परंपरा एवं विश्वास-

हर समाज की सांस्कृतिक संरचना में कुछ ऐसी परंपराएँ होती हैं, जो समय के साथ संस्कार और अनुशासन का रूप ले लेती हैं। 'ब्रह्मपुत्र' उपन्यास में मीरी समाज की दबूर पूजा से संबंधित एक भयावह परंपरा का चित्रण मिलता है- "दबूर पूजा के दिन कोई गैर-मीरी व्यक्ति यदि मीरी बस्ती में प्रवेश करता है तो उसके हाथ-पाँव बाँधकर सूअरों के रहने वाली जगह पर सारे दिन के लिए फेंक दिया जाता है। अतुल का अबोध छोटा भाई मखना भी जब दबूर पूजा के ही दिन मीरी बस्ती में प्रवेश करता है, तब उसे भी हाथ-पाँव बाँध कर सूअरों के रहने की जगह फेंक दिया जाता है। वहाँ एक नाग निकलता है और मखना को डँस लेता है। नाग के डँसने से मखना मर जाता है।"¹ यह प्रसंग न केवल एक क्रूर परंपरा को उजागर करता है, बल्कि यह भी दिखाता है कि अंधविश्वास और धार्मिक अंधभक्ति कैसे मानवीय संवेदनाओं पर हावी हो जाती है। समय के साथ ऐसी परंपराओं का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है, ताकि लोकमान्यताएं अपनी मानव-सम्मत और सांस्कृतिक मूल भावना को बनाए रख सकें। इस प्रकरण के बाद गांव के लोग नन्हें मखना की मृत्यु से बड़े आहत होते हैं और फिर दबूर पूजा में गैर-मीरी

¹ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 52

लोगों के प्रवेश को अनुमति मिल जाती है। इस तरह हमें लोक मान्यताओं के लचीलेपन का भी प्रमाण मिलता है, जिसे लोकमानस अपने हिसाब से निर्धारित करता है।

रूपतिल्ली की कथा उपन्यास में लोक मान्यताओं की परिवर्तनशीलता का एक उदाहरण मिलता है, “दबइल सिंह उदास हो गया। उसे देखकर राफताब भी उदास हो गया। इस उदासी ने दोनों में एक आत्मीयता पिरो दी। दस्तूर के खिलाफ़ राफताब ने दबइल सिंह को सुपारी दी। यह खसिया परंपरा के विरुद्ध था। छोटे ही सम्मानार्थ बड़े को पहले सुपारी पेश करते हैं। छोटे-बड़े का जहाँ कोई दूसरा मानदंड न दिखे, वहाँ उम्र ही मानदंड बन जाती है। राफताब दबइल से उम्र में काफी बड़ा था। तो भी सुपारी दिया। दबइल इस दरियादिली से पिघल गया।”¹ खासी लोगों में गीली कच्ची सुपारी बड़े चाव से खाया जाता है, जिसे वे ‘क्वाय’ कहते हैं, जिसे वे पान के साथ अथवा बिना पान के भी खाते हैं। खासी संस्कृति में ‘क्वाय’ का बड़ा महत्त्व है, जिस कारण उसके खाने-खिलाने के भी नियम हैं। राफताब ने नियमों की अवहेलना कर दबइल को सुपारी दी, ऐसे प्रसंग दर्शाते हैं कि लोकमानस में आत्मीयता सभी नीति-नियमों से ऊपर होती है, अतः ऐसी स्थिति में लोग अपने अनुसार कभी-कभी नियमों को बदल भी देते हैं।

उपन्यास ‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ में मिजो समाज की परंपराएँ, नैतिक आचार और लोकविश्वास अत्यंत स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आते हैं। मिजो जीवन-शैली में अनुशासन, श्रम और आत्मसम्मान के मूल्य गहराई से निहित हैं। मिजो संस्कृति में भीख माँगना अपमानजनक और परंपराविरोधी कार्य माना जाता है। उपन्यास में जब एक भालू नचाने वाला बच्चों के सामने अपने भालू का प्रदर्शन करता है और बच्चे उसे खाने-पीने का सामान देने लगते हैं, तब रुआलखूमा बच्चों को ऐसा करने से रोकता है। वह कहता है- “उसका धंधा भीख माँगना है, जो मिजो परंपरा के खिलाफ़ है।”² इस प्रसंग के माध्यम से उपन्यासकार यह रेखांकित करते हैं कि मिजो समाज में स्वावलंबन और आत्मसम्मान को सर्वोपरि

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 18-19

² मिश्र, श्रीप्रकाश. (2011). जहाँ बाँस फूलते हैं. पृ. 62

माना जाता है। इसी उपन्यास में यह भी उल्लेख है कि मिजो लोग सामान्य परिस्थितियों में राह चलते किसी को आवाज़ या गुहार नहीं लगाते। यह उनकी संस्कृति का एक विशिष्ट व्यावहारिक नियम है। मिजो लोगों का यह विश्वास भी उल्लेखनीय है कि खाली हाथ कहीं जाना अनुचित है। जब दोला स्कूल के लिए सहायता निधि (फंड) लेने के उद्देश्य से आइज़ोल पहुँचता है, तब एक सरकारी बाबू उससे घूस मांगते हुए व्यंग्य में कहता है- “यह तुम्हारी मिजो परंपरा है। खाली हाथ कहीं नहीं जाते।”¹ मिजो समाज की एक प्राचीन परंपरा ‘हेड-हंटिंग’ (शिर-शिकार) की भी चर्चा इस उपन्यास में मिलती है। कामी माइकल को मिजो लोगों में एक समय प्रचलित हेड-हंटिंग की परंपरा के बारे में बताती है। हेड-हंटिंग में लोगों के सिर काट कर लाए जाते थे। कामी कहती है- एक जमाने में ‘हेड-हंटिंग’ की परंपरा हमारे कौम में भी थी। आज यह परंपरा केवल इतिहास और स्मृति में रह गई है। इसके विपरीत, मिजो समाज में आत्महत्या को गंभीर रूप से असंस्कारिक और परंपरा-विरोधी माना गया है। इस प्रकार मिजो समाज में जीवन के प्रति गहरी आस्था, श्रम की प्रतिष्ठा और आत्मबल की परंपरा विद्यमान रही है।

‘मिनाम’ उपन्यास में अरुणाचल प्रदेश की गालो जनजाति की सामाजिक परंपराओं का यथार्थ चित्रण मिलता है। गालो समाज में मृत्यु-संस्कार से जुड़ी एक विशिष्ट परंपरा प्रचलित है जिसके अंतर्गत “अर्थी को कंधा देने वाले मरने वाले की संपत्ति से हिस्सा माँग सकता था। तत्कालीन समाज में अर्थी को कंधा देने वाला अपना हक माँग सकता था।”² यह परंपरा आज भी कुछ स्थानों पर देखी जा सकती है, यद्यपि अब इसे स्वैच्छिक भाव से निभाया जाता है। पहले जहां यह ‘हक’ समझा जाता था, वहीं अब यह सेवा और सम्मान का कार्य बन गया है। ‘रूपतिल्ली की कथा’ में खासी समाज की मातृवंशीय सामाजिक संरचना का सशक्त चित्रण है। यहां परिवार की पहचान पिता नहीं, बल्कि माता की वंशरेखा से तय होती है। उपन्यास में इस विशेषता को राफताब के प्रसंग में इस प्रकार व्यक्त किया गया है- “खसिया अपनी नानी के घर में रहता है और पत्नी की नानी के घर में पैठता है। इसलिए उसकी

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2011). जहाँ बांस फूलते हैं. पृ. 65

² लोयी, मोर्जुम. (2020). मिनाम. पृ. 71

कोई पहचान नहीं बनती।”¹ यह प्रणाली सामाजिक दृष्टि से स्त्री के केंद्रीय स्थान को प्रतिष्ठित करती है। खासी समाज में वंश और उत्तराधिकार स्त्री पक्ष से चलते हैं, जिससे यह समाज भारतीय उपमहाद्वीप की अन्य पितृसत्तात्मक व्यवस्थाओं से भिन्न प्रतीत होता है।

‘रूपतिल्ली की कथा’ उपन्यास में खासी लोकविश्वास के अनुसार स्वर्ग की अवधारणा नहीं है, किंतु एक अन्य लोक की कल्पना अवश्य की जाती है- “खासियों में स्वर्ग की कल्पना नहीं होती, एक बेहतर इतर लोक की कल्पना जरूर होती है, जहां मृत व्यक्ति का प्रेत यदि बास करने का मौका पाता है तो निरंतर क्वाय चबाता रहता है, दुनिया के झंझटों से दूर।”² इसके अतिरिक्त, यह भी माना जाता है कि सृष्टि के प्रारंभ में मनुष्य और देवता की भाषा एक ही थी, परंतु पाप के आगमन से वह संबंध टूट गया। यह लोकविश्वास रूपतिल्ली की कथा में विस्तार से व्यक्त हुआ है। ‘रूपतिल्ली की कथा’ में कोपिली नदी के संबंध में प्रचलित मिथकीय विश्वासों का भी उल्लेख है। नवगाँव और नगाँव के लोगों के अनुसार- “कोपिली नदी पानी से पूर्ण होकर पुरैला नावों को जल्दी गंतव्य तक पहुँचाती है। सूख कर कछारों को इस लायक बनाती है कि तीना धान बिन बोये उपजे। जिनके खेत नहीं है उनका इस प्रकार पेट भरती है और मछुआरों को मछली उपलब्ध कराकर जीने का साधन देती है। लेकिन इसके बदले बलि लेती है- मानव बलि।”³ यह लोकविश्वास प्रकृति और मानव के परस्पर संबंध की गहरी प्रतीकात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है। नदी, जो जीवन देती है, वही अपने अस्तित्व के लिए ‘बलि’ भी मांगती है। इसी क्रम में गोवालपाड़ा क्षेत्र के लोगों के बीच कोपिली नदी से जुड़ी एक और कथा प्रचलित है- “इनका कोई व्यापारी था, लाडचू।.... एक बार कमला देवी गायन-बादन के अपने गहरे जलमहल में नाव पर बैठी विहार कर रही थी। आनंद का मौसम था। काम से बिंधी थी। लाडचू उन्हें तृप्त नहीं कर पाया। शरीर में दाग थे और आँख में देढ़ी। उन्हें बड़ा पछतावा हुआ। पश्चाताप स्वरूप

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 167

² वही, पृ. 54

³ वही, पृ. 136

जलकुँवर देवी बन गयीं। मान्यता चल पड़ी कि जो उन्हें पुरुष चढ़ायेगा, उसे मालामाल कर देगी। जो नहीं चढ़ायेगा उसकी नाव डुबो देगी। नरबलि देने की प्रथा चल पड़ी। आदमी लालच में जो न कर दे।”¹

पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में मिजो, खासी, गालो और अन्य जनजातीय समुदायों के माध्यम से हमें यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि प्रत्येक समाज की अपनी सांस्कृतिक मर्यादा, धार्मिक आस्था और नैतिक सीमाएँ होती हैं। मिजो समाज आत्मसम्मान का प्रतीक है, खासी समाज मातृवंशीय पहचान का, गालो समाज सामूहिक उत्तरदायित्व का, और असम व मेघालय के लोक मान्यताएं आध्यात्मिक सत्ता का प्रमाण हैं। इन लोकविश्वासों और परंपराओं का अध्ययन यह दर्शाता है कि पूर्वोत्तर का सामाजिक जीवन केवल लोककथाओं या मिथकों का संग्रह नहीं है, बल्कि यह आस्था, व्यवहार और पहचान की निरंतर चलती परंपरा है।

मिथकीय संदर्भों की लोक स्वीकृति-

मिथक वह पारंपरिक कथा या विश्वास हैं, जो किसी समाज या संस्कृति में पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक या लिखित रूप में प्रचलित रहता है और जिसके माध्यम से उस समाज के लोग सृष्टि, देवताओं, मानव जीवन, प्रकृति, नैतिक मूल्यों तथा सामाजिक आस्थाओं की व्याख्या करते हैं। मिथकों में अक्सर अलौकिक घटनाएँ, दैवीय शक्तियाँ, नायक या प्रतीकात्मक पात्र होते हैं। मिथकीय चेतना प्रायः पौराणिक होते हैं। इनका उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि सांस्कृतिक चेतना, लोकविश्वास और जीवन-दृष्टि को अभिव्यक्त करना होता है। अतः मिथक किसी समाज की सामूहिक कल्पना, आस्था और सांस्कृतिक स्मृति का प्रतीकात्मक रूप है, जिसके माध्यम से वह अपने अस्तित्व और संसार को समझने का प्रयास करता है।

मिथक मनुष्य की संस्कृति के सबसे प्राचीन और प्रभावी अभिव्यक्ति-माध्यमों में से एक है। यह कल्पना और अनुभव का सम्मिलन है, जो मानवीय जीवन की जटिलताओं को प्रतीकात्मक भाषा में संप्रेषित करता है। “मिथक एक कथा है, जिसमें सृष्टि और उसके उपकरणों के उद्भव, उसकी

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 137

गतिक्रिया और उस पर नियंत्रण, उसके अबूझ व्यापार, मूलभूत मानवीय क्रियाओं और समस्याओं, प्रतिरूपों और तत्त्वों, जीवन-मरण आदि विहंगम विषयों को लेकर आरंभ कालीन धारणाएँ, चिंताएँ, विश्वास और तत्संबंधी कर्मकांड को अभिव्यक्ति मिली है।”¹ मिथक लचीले और परिवर्तनशील होते हैं, वे समाज के अनुसार अपना रूप बदलते रहते हैं। यही कारण है कि एक ही मिथक अलग-अलग संस्कृतियों में भिन्न अर्थ और प्रयोजन ग्रहण करता है। डॉ. नगेंद्र के अनुसार- “सामान्य रूप से मिथक का अर्थ है ऐसी परंपरागत कथा, जिसका संबंध अतिप्राकृत घटनाओं और भावों से होता है। मिथक मूलतः आदिम मानव के समिष्ट-मन की सृष्टि है, जिसमें चेतन की अपेक्षा अचेतन प्रक्रिया का प्राधान्य होता है।”²

मिथकों की रचना केवल विद्वानों का कार्य नहीं, बल्कि एक साधारण व्यक्ति भी अपनी कल्पनाशक्ति और अनुभव के आधार पर मिथक की सृष्टि कर सकता है। विज्ञान जहां बहुत बाद में आया, वहीं मिथक मानव सभ्यता की प्रारंभिक अवस्था से ही मानव समाज का हिस्सा रहे हैं। पूर्वोत्तर समाजों में लोक कथाओं और मिथकों की अत्यंत समृद्ध परंपरा रही है। यहां ईश्वरीय प्रतीक, अलौकिक घटनाएँ, प्रवास की कथाएँ, भाषा की उत्पत्ति, ऐतिहासिक स्मृतियाँ, मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ, कला, संगीत, भक्ति, दर्शन, धर्म और संस्कृति से संबंधित अनेक मिथक प्रचलित हैं। उदाहरणस्वरूप, मेघालय की राजधानी शिलांग का नाम मिथकीय देवी ‘शाईलॉंग’ के नाम पर पड़ा, जिनका निवास ‘शिलांग पीक’ पर माना जाता है। परशुराम द्वारा अपनी माता के वध के बाद उनके हाथ से फरसा चिपक गया और फिर उन्होंने लोहित (ब्रह्मपुत्र) में स्नान किया जिसके कारण रक्त के लाल रंग से नदी के जल का रंग लाल हो गया और इस कारण नदी का नाम लोहित पड़ा। एक अन्य मिथक के अनुसार महाभारत की हिडिंबा नागालैंड की थी, हिडिंबा के नाम से उस स्थान का नाम डिंबपुर पड़ा। जो कालांतर में अपभ्रंश होकर दीमापुर हो गया। उसी प्रकार पौराणिक कथा के अनुसार भगवान कृष्ण और बाणासुर के

¹ अमरनाथ. (2016). हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली. पृ. 282

² वही, पृ. 282

बीच भीषण युद्ध के उपरांत पूरा क्षेत्र रक्त से लाल हो गया जिस कारण उस जगह का नाम तेजपुर पड़ा। ऐसे लोक प्रचलित मिथकों का कोई तथ्यात्मक साक्ष्य नहीं मिलता किंतु ये जनश्रुतियों के माध्यम से आज भी अपनी परंपरा में कायम हैं। वस्तुतः मिथकों की रचना और उसे अशिक्षित जनजातीय समाज द्वारा संरक्षित रखने का उपक्रम बेहद रोचक और आश्चर्यजनक है। यद्यपि ये आधारहीन होते हैं, किंतु कभी-कभी तर्कशील और विज्ञानसम्मत भी होते हैं।

पूर्वोत्तर भारत का संबंध पौराणिक काल से भी जोड़ा जाता है। जहां इसके नामकरण और भौगोलिक संरचना के पीछे भी मिथकीय संदर्भों का प्रमाण मिलता है। जैसे असम का एक प्राचीन नाम कामरूप भी है। 'मुक्ति' उपन्यास में इन नामों के संबंध में मिथकीय संदर्भ द्रष्टव्य हैं- "दूर ब्रह्मपुत्र की धार के मध्य एक टापू है उमानंद। उसके पास उर्वशी स्तंभ है। टापू पर उमानंद भैरव का मंदिर है। प्रत्येक देवी का एक भैरव होता है। उमानंद कामाख्या देवी के भैरव हैं। यहां महादेव ने अपने तीसरे नेत्र की ज्वाला से कामदेव को भस्म कर दिया था, इसीलिए इस शैल द्वीप का नाम 'भस्माचल' है। यहां शिवरात्रि के दिन मेला लगता है। कामदेव की पत्नी रति पर पसीजकर महादेव ने कामदेव को नया रूप दिया था, इसीलिए इस देश का नाम 'कामरूप' पड़ा। असम का पुराना नाम कामरूप या प्रागज्योतिषपुर था। असम नाम तो अंग्रेजों के शासनकाल में प्रचारित हुआ। संप्रति कामरूप असम के एक जिले का नाम है, जिसका मुख्यालय गुवाहाटी है।"¹ इस प्रसंग के कारण लोगों में यह मिथक भी प्रचलित है कि कामदेव-रति के प्रभाववश यहां की स्त्रियाँ बेहद खूबसूरत होती हैं। इसी प्रकार गुवाहाटी शहर के अन्य नाम प्रागज्योतिषपुर के पीछे भी एक मिथक प्रचलित है, जिसके विषय में महेंद्रनाथ दुबे अपने उपन्यास 'मुक्ति' में लिखते हैं- "गुवाहाटी के ब्रह्मपुत्र नदी के ठीक किनारे स्थित नीलाचल की यह पहाड़ी कोई साधारण पहाड़ी न होकर समूचे पूर्वी भारत का इतिहास ही समेटे हुए है। बहुत पुराने जमाने में इस क्षेत्र को प्रागज्योतिषपुर कहते थे। कहा गया है कि सृष्टि के प्रारंभ में ही ब्रह्मा ने यहां रहकर ज्योतिष शास्त्र की

¹ त्रिपाठी, रमानाथ. (2013). कामरूपा. पृ. 145

रचना की। इसी से इसका नाम प्राग्ज्योतिषपुर पड़ा। योगिनी-तंत्र और हरगौरी संवाद में भी ऐसा ही कहा गया है।”¹

ब्रह्मपुत्र नदी असम की जीवन रेखा हैं। यह नदी मुख्यतः अरुणाचल प्रदेश और असम राज्य से होकर बहती है। ब्रह्मपुत्र नदी के अन्य नाम सियांग, दिबांग, लोहित या लुईत है। इसके तट पर एक प्रसिद्ध तीर्थ एवं पर्यटन स्थल है- परशुराम कुंड। यह क्षेत्र अरुणाचल प्रदेश के लोहित जिले में आता है, जहां प्रतिवर्ष मकर संक्रांति में स्नान करने हजारों श्रद्धालु आते हैं। ऐसी मान्यता है कि इस दिन परशुराम कुंड में स्नान करने गए लोगों के सारे पाप कट जाते हैं। इस जगह के नामकरण के पीछे एक मिथकीय कथा मिलती है-

“ब्रह्मपुत्र को लोहित्य क्यों कहते हैं, जानती हो लिली ?” नीरद मुसकराया।

लिली हँसती रही। जैसे उसे यह जानने की तनिक भी चिंता न हो। पर नीरद के होंठों तक आई हुई बात पीछे न हट सकी, “यह बहुत पुरानी कथा है, लिली ! जब परशुराम ने पिता की आज्ञा से माता का सिर कुल्हाड़े से काट डाला, तो कुल्हाड़ा उसके हाथ से छूटता ही न था। कहते हैं उसकी माता का रक्त ब्रह्मपुत्र में गिरने से इसका जल रक्ताभ हो गया है। लोहित्य और रक्ताभ पर्यायवाची हैं। माता का वध करने के पश्चात् बहुत समय तक परशुराम का मानसिक संतुलन डाँवाडोल रहा। ब्रह्मपुत्र के एक कुंड में नहाकर ही परशुराम को शांति मिली। वह कुंड अब तक परशुराम कुंड कहलाता है।”² जबकि वैज्ञानिक तर्क के अनुसार नदी की मिट्टी में मौजूद आयरन आक्साइड, लाल-पीली तलछट का पानी में घुलना तथा नदी के पानी में लाल शैवाल पाए जाने के कारण इसके पानी का रंग लाल होता है।

मिथकों की रचनाशीलता कभी स्वतंत्र तो कभी एक-दूसरे से जुड़ी होती है। एक मिथक का आलंबन लेकर दूसरे मिथक की भी सृष्टि की जाती है। ऐसे प्रकरण अक्सर भौगोलिक और सामाजिक भिन्नता के कारण अधिक प्रचलित होते हैं। मसलन- परशुराम की कथा से पूर्वोत्तर भारत के देउरी

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 282

² सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 162

समाज में भी एक मिथक प्रचलित है कि देउरी लोग को पानी से कोई खतरा नहीं। महेंद्रनाथ दुबे ने मुक्ति उपन्यास में इसकी चर्चा करते हुए लिखा है- “इनका कहना है कि जब परशुराम ने अपनी माँ की हत्या कर दी, तो इस पाप के कारण उनका फरसा उनकी मुट्ठी में बँधा रह गया। हर तरह का प्रयत्न करने पर भी जब वह नहीं छूटा, तो अंततः घूमते-घूमते जब वे शदिया पहुँचे, तो देउरी जाति के पुरोहितों ने ही मंत्रोपचारपूर्वक जल छिड़ककर उनके फरसे को उनकी मुट्ठी से अलग किया। इससे प्रसन्न होकर परशुराम ने देउरी जाति को वरदान दिया कि जल के उपासक इन देउरियों का जल कभी भी कोई नुकसान नहीं करेगा। इसी से पानी में डूबकर कोई भी देउरी नहीं मरता है। बल्कि बाढ़ के दिनों में मल्लाह अपनी नैया में किसी-न-किसी देउरी को बुलाकर बैठा लेता है, क्योंकि लोगों का विश्वास है कि देउरी मनुष्य के होने से नाव पानी में नहीं डूबेगी।”¹ ऐसे मिथक भले ही अंधविश्वास को बढ़ावा देते हों, पर ये लोकमानस में साहस और आत्मबल का संचार भी करते हैं। अगर इस मिथक की पड़ताल करें तो यह पता चलता है कि पहले समय में देउरी लोग अधिकतर ब्रह्मपुत्र नदी के आस-पास ही अपनी बस्तियाँ बसाते थे, नदी किनारे घर होने से तैराकी में वे लोग माहिर हो गए और ऐसे मिथकों की वजह से उन्हें रोजगार भी मिलता गया नतीजन ऐसे मिथकीय प्रभाव गहराई से लोकमानस के मन में पैठते चले गए।

‘मुक्तावती’ उपन्यास में मणिपुर की उत्पत्ति से जुड़े एक अत्यंत रोचक मिथकीय कथा का वर्णन मिलता है। यह कथा सृष्टि की प्रारंभिक अवस्था से जुड़ी है, जहाँ दैवीय नृत्य के माध्यम से धरती की सृष्टि हुई मानी जाती है- “और इस सृष्टि के निमित्त ही तो ‘लाइनूरा’ नाम से प्रख्यात मणिपुर की आदि सप्त देवियों ने मणिपुर की जलमय सतह पर अहर्निश नाच-नाच कर ‘लाइपुमथाउ’ नामक स्वर्ग के नौ देवताओं को रिझाया था। प्रसन्न किया था। और तब मणिपुर की पवित्र पृथ्वी की उत्पत्ति हो सकी थी।”² यह कथा केवल मिथक नहीं, बल्कि मणिपुरी समाज की मातृ (प्रधान) सांस्कृतिक चेतना का

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 273

² ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 26

प्रतीक है, जिसमें स्त्री-ऊर्जा सृष्टि का आधार बनती है। नृत्य यहां धार्मिक कृत्य के रूप में प्रस्तुत है, जो सृजन, भक्ति और कलात्मक अभिव्यक्ति तीनों को एक सूत्र में बाँधता है। मणिपुर की संस्कृति में 'सनामही' और 'पाखंव' की कथा अत्यंत प्रसिद्ध है। 'मुक्तावती' में इसका उल्लेख मिलता है कि मणिपुर के आदि प्रजापति के दो पुत्रों-सनामही और पाखंव-के बीच राजगद्दी को लेकर संघर्ष हुआ। उनके पिता 'आतिडको' ने शर्त रखी कि जो पहले पृथ्वी की तीन बार परिक्रमा करेगा, वही गद्दी का अधिकारी बनेगा। जब सनामही लौटकर आया और देखा कि पाखंव राजा बन गया है, तो वह क्रोधित हो उठा। किंतु प्रजा पाखंव के पक्ष में थी और उसने उसे बचा लिया। 'मुक्तावती' उपन्यास में चंद्रावत अपने मित्र शैलेंद्र से कहता है- "थौबल चोडबा नृत्य तुम खुद देख चुके हो। वह प्रजा द्वारा सनामही के कोप से पाखंव की उसी रक्षा का प्रतीक है शैलेन।"¹ यह कथा प्रतीकात्मक रूप में बुद्धि, भक्ति और सामूहिकता के मूल्य को रेखांकित करती है। पाखंव की जीत और सनामही के क्रोध का शमन मणिपुरी समाज के उस संतुलन को दर्शाता है, जहां शक्ति और धर्म एक-दूसरे के पूरक हैं।

किसी भी समाज में मिथकों का कट्टरतापूर्वक प्रचलन उस समाज को जटिल व संकीर्ण बना देता है, इस प्रकार की जड़ता किसी वर्ग-विशेष द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए भी किया जाता है। गालो समाज में 'नेप्प-न्यीदा' (पेट-विवाह) जैसी कुप्रथा के प्रचलन के पीछे एक मिथकीय कथा मिलती है, जिसके बारे में जुमसी सिराम 'मेरी आवाज सुनो' में लिखते हैं- "उपस्थित लोगों ने आयि की चीख-पुकार, तर्क-वितर्क पर कोई ध्यान नहीं दिया। पर जब आयि चुप नहीं हुई तो गाँव का मुखिया अंदर-ही-अंदर उबलने लगा। इसके बावजूद उसने ठंडे दिमाग से काम लेना ही मुनासिब समझा। बोला, 'यायि, हमारी बिटिया! मेरी बात सुनो! मानव-पिता 'आबो तानी' की शादी सूर्य भगवान की सुपुत्री 'दोन्यी-मुमसी' से हुई थी। उसने एक कन्या को जन्म दिया और फिर 'कारगू' (जहाँ सूर्य भगवान का निवास समझा जाता है) में चली गई। अपनी बड़ी बहन की गृहस्थी के दीपक को फिर से जलाने के लिए वर्षों बाद मुमसी की छोटी बहन 'मुम्दी' का ब्याह आबो तानी से कराया गया, जिससे कई संतानें उत्पन्न हुईं।

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ.42

‘गालो’ जनजाति भी आबो तानी की सन्तानों में से एक है। आकाश और पाताल के देवतागणों ने तानी और मुम्दी; दोनों को धन-धान्य का आशीर्वाद दिया और पृथ्वी पर राज करने के लिए नियुक्त किया। इस प्रकार दोन्ही मुम्दी को गालो जाति की आदि-माता कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। इसीलिए हमारी बिटिया, अपनी जिद पर अड़ी न रहकर हमारी इच्छाओं को आदिमाता मुम्दी की तरह, हमारी आज्ञाओं को सिर-आँखों पर लो। आदि-माता मुम्दी की तरह अपनी बड़ी बहन की गृहस्थी के बुझते चिराग को फिर से रोशन कर हमारा आशीष प्राप्त करो।”¹ उक्त प्रसंग में मिथकीय कथा की दुहाई देकर आयि को अपनी मृत बहन की जगह उसके जीजा से शादी के लिए विवश किया जाता है। अगर इस प्रसंग को देखें तो तथाकथित मिथकीय कथा में मुमसी के देह त्याग के बाद उसकी जगह तानी से मुम्दी का विवाह परिस्थितिवश सही लग सकता है, लेकिन ताकार जो उम्र में आयि से बत्तीस वर्ष बड़ा है उसके साथ आयि का जबरन विवाह कहीं से भी सही नहीं लगता। इस प्रकार कई बार लोक में प्रचलित मिथकीय संदर्भों का गलत अर्थ बताया जाता है और बिना सोचे-समझे उसका पालन भी किया जाता है, ऐसे में इन नियमों में बदलाव अत्यंत आवश्यक हो जाता है जिसका प्रतिरूप लेखक ने आयि के विद्रोह के रूप में चित्रित किया है।

दुर्भाग्यवश इतिहासकारों और तथाकथित सभ्य समाज द्वारा इन लोककथाओं और मिथकों को लंबे समय तक नज़रअंदाज़ किया गया। किंतु, अब यह आवश्यक है कि इन मिथकों को लिपिबद्ध कर भारतीय साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययन में उचित स्थान दिया जाए, क्योंकि गांवों में रहने वाला आदिवासी समाज हो अथवा शहरों में बसने वाला नगरीय समाज आज भी अपना जीवन इन्हीं मिथकों के आलोक में जीता है। ये मिथक गहराई से उनके जीवन में पैठ गए हैं। जो भले ही वैज्ञानिक और तार्किक न हो, किंतु वह लोक जीवन को निर्धारित करते हैं। जो प्राचीन काल से लेकर आज तक पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय समाज की सांस्कृतिक धरोहर के रूप में जीवित हैं।

¹ ‘नीनो’, जुमसी सिराम. (2021). मेरी आवाज सुनो. पृ. 26

4.2 लोक संरचना में स्त्री जीवन और मातृवंशीय समाज

पूर्वोत्तर भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य में स्त्री जीवन का स्वरूप, उसकी भूमिका और सामाजिक प्रतिष्ठा अन्य क्षेत्रों की तुलना में विशेष और विशिष्ट है। यहां की सामाजिक संरचना में स्त्री-पुरुष समानता का विचार केवल सैद्धांतिक न होकर व्यावहारिक स्तर पर भी विद्यमान है। जनजातीय समाजों में स्त्री घर-परिवार के संचालन तक सीमित नहीं रहती, बल्कि कृषि, व्यवसाय, सामाजिक प्रशासन और सांस्कृतिक आयोजनों में समान रूप से सक्रिय भूमिका निभाती है। यदि पौराणिक दृष्टि से देखें तो पूर्वोत्तर भारत में स्त्री-शक्ति के प्रतीक अनेक उदाहरण मिलते हैं- असम में कामाख्या शक्तिपीठ शाक्त उपासना का प्रमुख केंद्र है, जो स्त्री ऊर्जा और सृजन-शक्ति का प्रतीक माना जाता है। महाभारत में अर्जुन की पत्नी उलूपी का उल्लेख मणिपुर की राजकन्या के रूप में आता है। भीम की पत्नी हिडिंबा का संबंध नागालैंड से जोड़ा जाता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि पूर्वोत्तर भारत में स्त्री का स्थान केवल गृहस्थी तक सीमित नहीं, बल्कि, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक स्तरों पर भी प्रमुख रहा है।

स्त्री विषयक संदर्भों का विश्लेषण-

पूर्वोत्तर भारत में स्त्रियों का स्थान पुरुषों के समान ही माना जाता है। कहीं-कहीं पर यह स्थिति पुरुषों से भी उच्चतर मानी जाती है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखें तो पूर्वोत्तर राज्यों में स्त्री स्वतंत्रता शेष भारत से कहीं अधिक उन्मुक्त अवस्था में देखने को मिलती है। असम प्रदेश के उत्तरी कछार में दिमासा (डिमाशा) जनजाति में भी स्त्रियों का स्थान बहुत ही उच्च दर्जे का माना जाता है। 'मुक्ति' उपन्यास में इस व्यवस्था को दर्शाते हुए लेखक महेंद्रनाथ दुबे लिखते हैं- "डिमाशा समाज में स्त्री और पुरुष की मर्यादा बराबर-बराबर है। माँ की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी पुत्री होती है तथा पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र होता है। लड़के की उपाधि का नाम पिता की उपाधि पर चलता है, तो लड़की का उपाधि नाम माता की उपाधि पर चलता है। वृद्धावस्था को प्राप्त माता-पिता की सेवा-सुश्रूषा का दायित्व लड़की पर ही होता है। डिमाशा लोगों की पूज्य कुलदेवी हैं- माडाई हेरेमभी अर्थात् होश्वरी। किसी भी

शुभ कार्य के आरंभ में हेरेश्वरी देवी का पूजन अवश्य होता है।”¹ यह व्यवस्था स्त्री समानता के साथ उसके विशेषाधिकार को भी दर्शाती है।

‘रूपतिल्ली की कथा’ उपन्यास में खासी समाज में पूजा-पाठ में लिडदोह नामक पात्र का चित्रण मिलता है, जो कि पुजारी होता है। चूंकि खासी समाज मातृप्रधान था, इसीलिए स्त्रियों को बड़े अनुष्ठानों में पुजारिन का कार्य करने का अधिकार प्राप्त था, पर धीरे-धीरे वह अधिकार हस्तांतरित होता चला गया। “सभी बूढ़े-पुराने लोग जानते थे कि असली पुजारी तो का सोहस्ला ही है, लिडदोह तो सिर्फ उसका सहायक होता है। लेकिन अब स्थिति दूसरी है। यानी वास्तविकता दूसरी है, सिद्धांत तो अभी वही है। पहले कहा गया कि माह में तीन दिन स्त्री अछूत होती है, वह उसके अशुचिता के दिन होते हैं। उसमें वह कोई धार्मिक काम नहीं कर सकती। फिर कहा गया कि कोई काम नहीं कर सकती, सिवाय आराम के। आराम का ऐसा चस्का लगा कि सत्ताइस दिनों का जो उसका वास्तविक अधिकार था, वह भी धीरे-धीरे जाता रहा। उसकी उपस्थिति प्रतीकात्मक हो गई और जो सहायक होता था, उसका प्रतिनिधि होता था, वही वास्तविक कर्ता हो गया।”² खासी समाज मातृवंशीय होता है, मातृसत्तात्मक नहीं, इसीलिए स्त्रियों की स्थिति सामाजिक दृष्टिकोण से आदर्शात्मक होते हुए भी यथार्थ के धरातल पर बहुत अच्छी नहीं है। परंपरा के नाम पर स्त्रियों की भूमिका को केवल घर-परिवार तक ही सीमित कर दिया है।

‘जंगली फूल’ उपन्यास में अरुणाचल प्रदेश की न्यीशी जनजाति के कबीलाई जीवन को चित्रित किया गया है। इसमें एक ओर जहां उनके पुरुष तानी और उसकी बहन दोलियांग को बहुत ही सक्षम स्थिति में दिखाया गया है, वहीं तत्कालीन समाज में फैले कुरीतियों का पर्दाफाश भी किया गया है। “विवाहित महिला किसी गैर-मर्द के साथ पकड़ी गई तो नर्क से भी बदतर सजा उसे मिलती थी। या तो उसे ऐसे आदमी के साथ बेच देते थे जो उसको पसंद नहीं होते, या फिर कई-कई दिनों तक उसे

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 217

² मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 64

भारी-भरकम लकड़ी के साथ बाँध दिया जाता था और उसकी मर्जी के खिलाफ उसके शरीर के साथ कई तरह से खिलवाड़ किया जाता था। मददगार को कई तरह के जुर्माने लगते थे। कभी-कभी मार-पीट और खून-खराबे तक की नौबत आ जाती। मर्द कई-कई पत्नियाँ रख सकते हैं। उनके लिए कोई खास सजा तय नहीं है।”¹ ‘जंगली फूल’ उपन्यास में अरुणाचल प्रदेश के जनजातीय जीवन को दर्शाया गया है। जहाँ पुरुष बहुविवाह के लिए स्वतंत्र थे और अपनी पत्नियों से कई बच्चे पैदा करते जबकि महिलाओं की स्थिति ठीक इसके विपरीत थी। तत्कालीन समाज में बहुविवाह और कई संतान पैदा करने के पीछे वंश वृद्धि और कबीले का विस्तार करने जैसे कारण प्रचलित थे। जब तानी धान के बीज की तलाश में एक लंबी यात्रा पर निकलता है तो उसकी पत्नी आसीन का अकेले रहना मुश्किल हो जाता है। तानी का भाई तापिन अपनी भाभी पर ही कुदृष्टि रखता है “स्त्री का अपना कौन होता है? कोई चीज है, जो उसकी अपनी हो? जिसको भी मौका मिला उनकी गंदी नजरों, विचारों और व्यवस्था का शिकार हो गई वह। गाँव के मर्द कहते हैं- ‘विधवा औरतों पर दया करते हुए संभोग करना चाहिए। अहसान ही करना होता है। फिर भी ये औरतें बड़ी ही नौटंकीबाज होती हैं। मना करती फिरती हैं।” औरतें अपने लिए उसे खतरा मानकर उससे किनारा कर लेती हैं। इस प्रकार की परेशानियों से बचने के लिए औरतों को किसी मर्द की दूसरी, तीसरी या फिर चौथी बीवी बन जाना मंजूर कर ही लेना होता है। कम-से-कम पत्नी तो कहलाओ किसी की और सुरक्षित रहो।”² आसीन का यह स्वकथन प्राचीन समय में अरुणाचल प्रदेश के कबीलाई जीवन की विद्रूपताओं पर कुठाराघात करता है। जहाँ पति शिकार या खाद्य-सामग्री जुटाने के लिए लंबे समय तक घर से बाहर रहता था और पत्नी को ऐसे सामाजिक दुर्भावनाओं का सामना करना पड़ता था। परिस्थितिवश अगर किसी स्त्री का परपुरुष संबंध बन जाता तो समाज के सारे नीति-नियम केवल स्त्री पर ही लागू होते।

¹ नाबाम, जोराम यालाम. (2019). जंगली फूल. पृ.18

² वही, पृ. 68

‘जंगली फूल’ उपन्यास में एक ओर जहां स्त्रियों की बदहाल स्थिति को दिखाया गया है, तो वहीं दूसरी ओर स्त्री के सबल पक्ष को भी दिखाया गया है। तानी की बहन दोलियांग एक सशक्त पात्र के रूप में नजर आती है, उसके पास एक दैवीय आभा है। वह युद्धकला, पाककला, औषधि विज्ञान जैसे का कलाओं में पारंगत है। दोलियांग आजीवन विवाह न करने का निर्णय लेती है और उस पर कोई किसी प्रकार का दबाव भी नहीं बनाता है, क्योंकि वह सशक्त है, आत्मनिर्भर है। इसी तरह सिमांग जो तानी की दोस्त हैं, वह तानी के साथ उसके कबीले जाना चाहती हैं। धान के बीज रोपने की विधि सिखाने। सिमांग मुखर है वह अपने पति से तानी के साथ जाने की बात कहती है तो उसका पति भी साथ चलने की बात कहता है, तो सिमांग कहती है- “इस शरीर की चौकीदारी करने? मैंने तो कभी नहीं की आपकी। क्या स्त्रीत्व सिर्फ और सिर्फ योनि में ही सीमित है? इसके पार भी कुछ है। क्या कभी जानना नहीं चाहोगे? दूसरों की स्त्री को भोगना है- लेकिन अपनी स्त्री।” उसने मुँह बिचका दिया।¹ दरअसल सिमांग का पति तापिक अपनी सभी पत्नियों में से सिमांग को इसीलिए भी ज्यादा चाहता है, क्योंकि वह विरोध करना जानती हैं, अकेले जंगलों में घूमना जानती है, वह किसी पर आश्रित होकर नहीं रहना चाहती। यहां लेखिका यह संदेश भी प्रस्तुत करती हैं कि स्त्रियों के मुक्ति के द्वार उन्हें स्वयं ही खोलने होंगे। केवल अपने भाग्य और पुरुषों पर आश्रित रहकर ही उसका जीवन सार्थक नहीं होगा।

‘जंगली फूल’ उपन्यास के संदर्भ में बकौल अमिष वर्मा का विश्लेषण बेहद सटीक लगता है- “इसी उपन्यास में एक और सशक्त स्त्री चरित्र है- जीत, जिससे तानी का विवाह होता है। जीत भी समाज की सामंती-पितृसत्तात्मक नैतिकता के छद्म और झूठी मर्यादा को चुनौती देती है। वह तानी से प्रेम करती है और विवाह से पहले ही गर्भवती हो जाती है। लेकिन वह इसे जरा भी अनैतिक नहीं मानती। उसे अपने प्रेम पर भरोसा है, तानी पर भरोसा है। वह अपने पिता से जिरह करती है। वह कहती है कि ‘विवाह तो बस एक औपचारिकता है! वह सही है, लेकिन प्रेम से बड़ा नहीं!’ वह अपने चाचा का उदाहरण देती है जो अपनी पत्नी को प्रताड़ित करता था और जिसने उसे आत्महत्या करने पर

¹ नाबाम, जोराम यालाम. (2019). जंगली फूल. पृ. 108

मजबूर कर दिया था। जीत कहती है कि क्या इससे कबीले की इज्जत नहीं जाती! असल में सिमांग और जीत दोनों ही विद्रोही और जिरह करती हुई स्त्रियां हैं, जो समाज की बेतुकी परंपराओं और उनके नाम पर स्त्री के शोषण को नाजायज ठहराती हैं। इस उपन्यास का स्त्री-पक्ष कितना महत्वपूर्ण है- इसका पता इस बात से भी चलता है कि तानी के जीवन पर आधारित इस उपन्यास का अंत लेखिका तानी नहीं बल्कि जीत और जीत जैसी स्त्रियों के बारे में बात करती हुई करती हैं। उपन्यास का अंत करते हुए यालाम लिखती हैं- ‘वह (जीत) अब्दुत स्त्री थी। संसार को ऐसी ही स्त्रियों ने ही बदला है !...प्रेम की बातें ये नहीं करतीं- प्रेम को पूर्णतः जीती हैं ! झीलों की गहराई इन्हीं में बसती है !’”¹

अरुणाचल प्रदेश पर केंद्रित उपन्यास जैसे ‘जंगली फूल’, ‘मेरी आवाज सुनो’, ‘मिनाम’ और ‘उस रात की सुबह’ में जनजातीय जीवन में स्त्रियों की बदहाली पर विशेष चर्चा की गई है। जिसमें ‘नेप्प-न्यीदा’ अर्थात् पेट-विवाह जैसी कुरीतियों पर प्रकाश डाला गया है। नेप्प-न्यीदा एक ऐसी विवाह पद्धति होती है जिसमें गर्भावस्था के दौरान ही बच्चों की शादी तय कर दी जाती है। ‘मेरी आवाज सुनो’ उपन्यास की मुख्य पात्र आयि (यायि) आलुक नामक एक लड़के से प्रेम करती है। जब उसके परिवार वालों को इस बात का पता चलता है तो वे इसका कड़ा विरोध करते हैं। “मूर्खता की बातें मत बोलो यायि। सारा समाज जानता है कि तुम्हारा विवाह ताकार से होने वाला है। सच कहा जाए तो तुम्हारी शादी हो चुकी है, बीस वर्ष पहले ही। लेकिन मैं इस बात से अनजान हूँ। ऐसा कैसे हो सकता है? यह मेरी आजादी का हनन है बड़े भैया! कहकर आयि तेजी से उठी। उठकर अपने-आपको काम में लगाते हुए कहती रही “ताकार जीजा जी का विवाह मुझसे हुआ था या दीदी से, सारे समाज से यह प्रश्न पूछना। उसके बाद ही मेरा विवाह उससे करना।”²

दरअसल आयि की बड़ी बहन का विवाह ताकार से होता है और संतान होने से पहले ही वह मर जाती है, इसीलिए वंश बढ़ाने के उसी परिवार की छोटी लड़की से ताकार का विवाह तय कर दिया

¹ वर्मा, अमिष. (अक्टूबर 2021). आदिवासियत, स्त्री और प्रेम का त्रिकोण : जंगली फूल. (अक्षरा पत्रिका : संपादक. कैलाश चंद्र पंत). पृ. 51

² ‘नीनो’, जुमसी सिराम. (2021). मेरी आवाज सुनो. पृ. 14

जाता है। ऐसी परिस्थिति में लड़की के जन्म के पहले ही उसका विवाह तय कर जाता था और अगर इस बीच वधू के परिवार में कोई लड़की पैदा नहीं हुई तो वर को इंतजार करना पड़ता था। आयि और ताकार के उम्र के बीच 32 वर्षों का अंतर था। अतः इस कारण भी आयि अपने जीजा से विवाह नहीं करना चाहती थी। पंचायत में आयि के विरोध करने पर उसके चाचा का कथन “तुम उसे बूढ़ा कहती हो? उसके कई अविवाहित चचेरे भाई हैं। तुम उनमें से किसी भी एक को चुन सकती हो।”¹ इस व्यवस्था को दर्शाता है कि स्त्री की आवश्यकता केवल वंश-वृद्धि के निमित्त ही होती थी। अगर आयि का परिवार ऐसा नहीं करना चाहता तो उन्हें ताकार के परिवार को पहली शादी में वर द्वारा दिए गए कन्या-मूल्य (दहेज) को लौटाना पड़ता था, जो कि बहुत भारी रकम होती थी। अतः ऐसे में कन्या की मर्जी के खिलाफ ही उसका विवाह कर दिया जाता था।

‘नेप्प-न्यीदा’ जैसी कुप्रथा का वर्णन ‘उस रात की सुबह’ उपन्यास में भी मिलता है, जब यापि अपने गाँव जाती है और अपने गाँव की एक बुजुर्ग महिला से मिलती है तो वह कहती है “तुमने कभी नेप्प न्यीदा सुना? यापी बोली, वह क्या होता है आयो? आयो न्यिकाम ने अपने झुर्रियों भरे चेहरे पर मुस्कान लाकर कहा, ‘हमारे ज़माने में होता था नेप्प न्यीदा। मेरा भी नेप्प न्यीदा के द्वारा ही ब्याह हुआ था। मेरी माँ जब गर्भ से थी और मैं उनके गर्भ में पल रही थी, तभी मेरी न्यीदा हो गई थी। अर्थात् हमारे पैदा होने से पहले ही हमारी शादी तय कर दी गई थी। हमारे बड़े-बूढ़ों ने आपस में तय कर लिया था कि मेरी शादी मेरे पिताजी के अभिन्न मित्र के पत्नी के गर्भ में पल रहे शिशु से ही करेंगे। जब दोनों तरफ शिशु पैदा होंगे और वे बड़े हो जायेंगे तो बड़े धमूधाम से न्यीदा करेंगे। और इसे संयोग कहूँ या दुर्भाग्य कि उस वर्ष दोनों तरफ लड़कियाँ ही पैदा हुई। ‘वह जोर से हँसी।

यापी ने पूछा “फिर?”

आयो न्यिकाम : फिर क्या? अगले साल भी मेरे होने वाली सास को बेटी ही पैदा हुई। मतलब मेरा होने वाला पति अभी पैदा ही नहीं हुआ था। कहकर उसने जोर से खांसा। पोका/अपोंग के मग को

¹ ‘नीनो’, जुमसी सिराम. (2021). मेरी आवाज सुनो. पृ. 25

अपने मुँह से लगाकर एक घूँट भरपूर पीया। यापी और उसकी माँ अपनी समस्या भुलाकर आयो की दास्तान को बड़ी दिलचस्पी से सुनने लगी थी। उनकी जिज्ञासा अपनी चरम सीमा पर थी। आयो ने दुबारा आपोंग की एक घूँट भरी और आगे दास्तान सुनाने लगी।

यापी : फिर क्या हुआ आयो?

आयो बोली, “फिर क्या था? मुझे दो चार साल और इंतजार करना पड़ा और उसी तयशुदा घर में उस मेरी होने वाली सास को जब बेटा हुआ, तब जाकर मेरी उस लड़के से शादी हुई।”¹ नेप्प न्यीदा के कारण आयो न्यिकाम की शादी अपने से कई गुना छोटे लड़के से हो गई और वह लड़का अपने से बड़ी उम्र की महिला से क्या संबंध बनाता और उसने दूसरी शादी कर ली। इस प्रकार आयो न्यिकाम निःसंतान ही रह गई। यद्यपि आज के जमाने में ‘नेप्प न्यीदा’ जैसे कुप्रथाएँ लगभग नहीं के बराबर हैं। आधुनिकता और ईसाई धर्म के विस्तार के बाद पेट-विवाह जैसी चीजें एक नगण्य हो गई हैं। तथापि ये बातें अरुणाचल प्रदेश के जनजातीय समाज के अतीत और उसके महिलाओं के संघर्षों के इतिहास का प्रमाण है कि कैसे स्त्रियों ने लंबे समय तक चलने वाली इस कुप्रथा से खुद को आजाद किया।

‘मिनाम’ उपन्यास में अरुणाचल प्रदेश में ‘लेपा लिडनाम’ नामक प्रथा का वर्णन मिलता है- “प्राचीन काल में किसी लड़की की मर्जी के बगैर उसकी शादी तय कर दी जाती थी इंकार करने पर उसे जबरन उठवाकर कमरे में पुरुष के साथ हाथ-पैर बांधकर भूखे प्यासे बंद कर दिया जाता था। यह तब तक चलता जब तक भूखी-प्यासी लड़की आत्म-समर्पण न कर दे। कई हालात में उसे बलात्कार जैसे जघन्य अपराध का भी शिकार होना पड़ता था। अन्य समाज में इसे लाफिया, लेफा आदि के नाम से जाना जाता है। ये सिलसिला तब तक चलता जब तक लड़की गर्भवती न हो जाती। लेपा लिडनाम में लड़कियों के साथ किसी पशु से कम व्यवहार नहीं किया जाता था।”² यद्यपि अब यह प्रथा नहीं के बराबर हो गई है।

¹ ‘लिली’, तुम्बम रीमा जोमो. (2018). उस रात की सुबह. पृ. 67-68

² लोयी, मोर्जुम. (2020). मिनाम. पृ. 42

कृष्णचंद्र शर्मा 'भिक्षु' के उपन्यास 'मुक्तावती' में बंगाल से मणिपुर घूमने गया शैलेन के अंतर्मन-कथन में मणिपुर के स्त्री जीवन की उन्मुक्तता की झलक मिलती है- "मणिपुर की महिलाएँ भारत के अन्य की महिलाओं से सामाजिक रूप से उसे काफी आगे दीखीं। भारत के अन्य प्रांतों की तरह यहाँ की ऊँची जाति की महिलाएँ बलात् वैधव्य की क्रूरता की कड़ियों में जकड़ी नहीं जातीं! उन्हें तलाक तक देने का अधिकार है! पुनर्विवाह का भी! पर्दे की पाखंडमय मर्यादा भी नहीं! और जीविका के लिए नृत्य-संगीत का पेशा अपना कर भी वे समाज द्वारा अकुलीनता या वेश्यात्व के कलंक से लांछित नहीं की जातीं! और इन उन्मुक्तताओं के रहते भी उनके आचार में असंयम नहीं! अमर्यादा नहीं!"¹ उक्त कथन मणिपुर की महिलाओं की सामाजिक स्थिति को भारतीय समाज के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर विश्लेषित करता है और यह दर्शाता है कि यह समाज स्त्री-स्वतंत्रता के मामले में अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील रहा है। तलाक और पुनर्विवाह के अधिकार का उल्लेख मणिपुरी समाज की उदार सोच और स्त्री की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को रेखांकित करता है। पर्दा-प्रथा का अभाव नृत्य-संगीत जैसे पेशों को अपनाने वाली महिलाओं को सामाजिक तिरस्कार या अनैतिकता के आरोप से मुक्त रखना इस समाज की सांस्कृतिक परिपक्वता को दर्शाता है, साथ ही इतनी स्वतंत्रताओं के बावजूद मणिपुरी महिलाओं के आचरण में संयम और मर्यादा बनी रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि नैतिकता कठोर सामाजिक नियंत्रण से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक मूल्यों और आत्मसंयम से विकसित होती है।

मणिपुर की पृष्ठभूमि पर केंद्रित 'आहुति' उपन्यास में बिहार से रोजगार से लिए मणिपुर गए एक युवक की कथा है। मनोज जब मणिपुर के समाज को देखता है तो मन ही मन उसकी तुलना अपने ग्रामीण परिवेश से करता है- "सड़कों पर रंगीन परिधानों में हर उम्र की लड़कियों को सायकिल पर चलते हुए देखता है, तो उसे लगता है रंग-बिरंगी तितलियां उड़ रही हैं। यहां हर घर में सायकिल है, यह भी लेडी-सायकिल। चपरासी की लड़की हो या सरकारी कर्मचारी या किसी बड़े अधिकारी की लड़की,

¹ 'भिक्षु', कृष्णचंद्र शर्मा. (1958). रक्तयात्रा. पृ. 130-131

सब घर की लड़कियां सायकिल से ही स्कूल-कॉलेज, हाट-बाजार आती-जाती है। मनोज को यह दृश्य बड़ा ही मनोहारी लगता है। कुछ लोग इधर स्कूटर या इक्के-दुक्के कुछ लोग कार भी रखने लगे हैं। यह उसके लिए नया अनुभव है। उसने अपने गाँव नगर में किसी लड़की को कभी सायकिल चलाते नहीं देखा था। यहां स्त्रियों में पर्दा बिल्कुल नहीं है। बाजार में कई जगह स्त्रियों का एक छत्र साम्राज्य है।¹ मणिपुर आरंभ से ही विभिन्न संस्कृतियों का संगम स्थल रहा है। बर्मा से जुड़ी सीमाएँ और अंग्रेजों के प्रादुर्भाव के कारण यहां आधुनिकता का प्रसार बड़ी तेजी से हुआ। एक समय में मणिपुर साइकिल चलाने के मामले में पूरे भारत में सर्वोपरि था। न केवल साइकिल के संदर्भ में बल्कि श्रम और व्यापार के मामले में भी मणिपुर में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ बराबर साझेदार थीं। आज भी इंफाल का ईमा बाजार पूरी तरह महिलाओं द्वारा संचालित होने के लिए विश्व विख्यात है।

आहुति उपन्यास में व्यवसाय के क्षेत्र में महिलाओं की सहभागिता और सशक्तिकरण का चित्रण मिलता है- “यहां के बाजार, व्यापार और व्यवसाय में बाहर वालों का एकाधिपत्य है, विशेषकर मारवाड़ी और पंजाबी लोगों की ही अधिक दुकानें हैं। कपड़े से लेकर बिजली या मशीनरी की सभी दुकानें इन्हीं लोगों की हैं। पर बाजार में सबसे आकर्षक दृश्य है। स्त्रियों का बाजार, ‘इमा बाजार’ और ‘लक्ष्मी बाजार’। मुख्य सड़क के दोनों ओर पसरे इन दोनों बाजारों में स्त्रियों का एकछत्र साम्राज्य है। इमा बाजार यहां का मुख्य सब्जी बाजार है जिसमें सारी दुकानें महिलाओं की हैं, इसमें अधिकतर प्रौढ़ महिलाएं तरह-तरह की सब्जियों के साथ मछली बेचती हैं। सड़क के दूसरी ओर लक्ष्मी बाजार है। स्थानीय कपड़ों का यह मीना बाजार है। करघों से तरह-तरह के खूबसूरत शाल, चादर, साड़ियां बनाकर महिलाओं ने इस बाजार को सजा रखा है। हर उम्र की स्त्रियों ने इस बाजार में अपनी दुकानें लगा रखी हैं। एक बार इस बाजार में जाने के बाद कपड़ों के मनमोहक बुनाई-कढ़ाई के साथ स्त्रियों का मृदु व्यवहार और ग्राहकों को खुश करने के ढंग से मन बंध जाता है। शायद ही कोई व्यक्ति बिना कुछ खरीदे

¹ पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति. पृ. 14

इस बाजार से बाहर आ पाता है।”¹ ये उद्धरण मणिपुर में स्त्री स्वावलंबन की पराकाष्ठा को दर्शाते हैं, किंतु अगर इतिहास में देखें तो इसका एक दूसरा पहलू भी नजर आता है कि प्राचीन समय में जब पूर्वोत्तर की अधिकांश जनजातियां कबीलाई जीवन जीती थी, तो घर के मर्द दिन में भोजन व शिकार के लिए लंबे समय तक घर से बाहर चले जाते थे और ऐसे में स्त्रियों को ही घर संभालना होता था। जिस कारण महिलाओं में घर की चारदीवारी से बाहर श्रम करना समाज स्वीकृत होता गया। एक दूसरा तर्क भी सामने आता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के समय बहुत से मणिपुरी पुरुष सेना द्वारा विदेश ले जाए गए युद्ध के लिए, तब स्त्री पर ही घर का पूरा भार आ गया और वहां से यह प्रथा चल पड़ी।

‘आहुति’ उपन्यास में मणिपुर में प्रचलित ‘एलोपमेंट’ नामक विवाह व्यवस्था का वर्णन मिलता है। जिसमें लड़का-लड़की पहले एक-दूसरे को पसंद करते हैं और घर से भाग जाते हैं, फिर तीन दिन तक वे छिपे रहते हैं। तीन दिन तक जब उन्हें कोई खोज नहीं पाता तो वे अपने घर आ जाते हैं और उनकी शादी कर दी जाती है। आम तौर पर वर-वधू के घर वालों को उनके भागने के विषय में जानकारी होती है, पर वे उन्हें खोजने का छद्म उपक्रम करते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था मणिपुर में प्रेम की स्वच्छंदता का परिचायक है। किंतु, एक ओर जहां यह व्यवस्था स्त्री को अपना वर चुनने की स्वतंत्रता प्रदान करती है तो वहीं दूसरी ओर इसका नकारात्मक पक्ष भी है। मनोज के विश्वविद्यालय में ईबेचौबी नामक एक सुंदर लड़की अपनी पान की दुकान चलाती है। सभी लोग उसके रूप-सौंदर्य पर मोहित थे। एक दिन वह अचानक गायब हो गई। “धीरे-धीरे पता चला कि रात चौबी का अपहरण हो गया। विश्वविद्यालय परिसर की चहारदीवारी के निकट ही लकड़ियों की दुकान के पास चौबी अपनी बूढ़ी मां के साथ रहती थी। रात उसे उठा लिया गया। शीघ्र ही पता चल गया कि विश्वविद्यालय के बस चलाने वाले चंद्रदेव ने उसे जबरदस्ती उठा कर कहीं छिपा लिया है। उसका पता लगाने वाला कोई नहीं था। इस तरह दो दिनों बाद वह चंद्रदेव की पत्नी बन जाएगी। उसकी बूढ़ी माँ की इस शादी से मंजूरी

¹ पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति. पृ. 20

नहीं है, पर तथाकथित भागने और जोर जबरदस्ती से भगा ले जाने में कोई अंतर नहीं देखा जा रहा है।”¹ इस प्रकार एलोपमेंट की आड़ में किडनैपिंग का प्रचलन चल पड़ा है। क्योंकि अगर भागे हुए युवक-युवती की शादी किसी कारणवश नहीं हो पाती तो उस लड़की की शादी फिर कहीं नहीं हो पाती। अंततः लड़की को मजबूरन उस आदमी को अपना पति स्वीकारना पड़ता है। पुरुष चाहें तो कितनी भी शादी कर लें, किंतु स्त्री से उसकी स्वच्छंदता छिन जाती है। एक प्रकार से संस्कृति और परंपरा की नाम पर स्त्री का ही शोषण होता है और अपनी परंपरा निभाने के क्रम में स्त्री को अपने शोषण का पता भी नहीं चलता। अतः अंत में इन सभी कुप्रथाओं का दंश केवल स्त्री को ही भोगना पड़ता है।

मातृवंशीय व्यवस्था-

मेघालय के खासी समाज में स्त्री जीवन की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी मातृवंशीय व्यवस्था है। यह समाज इस विचार पर आधारित है कि परिवार की वंश-परंपरा स्त्री के माध्यम से चलती है और वंश की पहचान माता से निर्धारित होती है। उपन्यास ‘रूपतिल्ली की कथा’ में इसी मातृवंशीय समाज का चित्रण किया गया है। यहां सबसे छोटी बेटी पर पारिवारिक और धार्मिक दोनों प्रकार की जिम्मेदारियाँ होती हैं। उसे पूर्वजों के घर की संरक्षिका माना जाता है और परिवार की संपत्ति पर उसका विशेष अधिकार होता है। “छोटी बेटी को पूर्वजों से जो घर प्राप्त होता है- वह उसकी संरक्षक होती है, मालकिन नहीं। छोटी बेटी का यह कर्तव्य होता है कि वह अविवाहित भाईयों एवं बहनों का ध्यान रखे। वह परिवार के बेघर और अनाथ बच्चों की भी संरक्षिका होती है।”² इन अतिरिक्त उत्तरदायित्वों के बदले उसे संपत्ति में विशेषाधिकार प्राप्त होता है। किंतु यदि वह अपने कर्तव्यों से विमुख होती है या किसी अन्य समुदाय में विवाह करती है, तो यह अधिकार उससे छीन लिया जाता है। खासी समाज में सामान्यतः पुरुष को संपत्ति में अधिकार प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उत्तराधिकार मातृरेखा से चलता है। हालांकि कुछ क्षेत्रों में इसके अपवाद मिलते हैं। इस संदर्भ श्रीप्रकाश मिश्र कहते हैं- “ट्राइबल्स जीवन

¹ पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति. पृ.123-124

² मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 78

उन्मुक्त होने के बावजूद एक अपने तरह का बंधन लिए हुए है। खासी लोगों का समाज मातृवंशीय है, स्त्री को वरीयता प्राप्त है लेकिन आप पायेंगे की धीरे-धीरे पुरुष का वर्चस्व वहाँ पर भी हो गया। वहाँ की स्त्रियाँ राजनीति में हिस्सा नहीं लेती। बाँग तो मुर्गा ही देता है। राजनीति में हिस्सा लेना बाँग देना है। लेकिन एक जमाना था, स्त्रियाँ वहाँ की राजा होती थी। पूर्वोत्तर की अन्य जनजातियों में भी मातृसत्ता थी, लेकिन वो स्थितियाँ बदल गई है।... यह दिखाई देगा कि शोषण तो सर्वत्र है।”¹

खासी समाज में स्त्री की प्रधानता के बावजूद पुरुषों की भूमिका भी अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है। विवाह के पश्चात पति पत्नी के घर (ससुराल) में रहता है, और परिवार में “मामा” के रूप में उसका विशेष स्थान होता है। वह धार्मिक अनुष्ठानों, पारिवारिक निर्णयों और सामाजिक आयोजनों में मार्गदर्शक की भूमिका निभाता है। “जब तक परिवार छोटा होता होगा, पूरी जमीन परिवार की होती होगी। लेकिन जब परिवार बढ़कर गोत्र बना होगा, तब यह पूरी जमीन गोत्र की हो गई होगी। इस वृद्धि के अनुपात में और भी जंगल-जमीन दखल होते चले गए होंगे, जब तक कि दो गोत्रों की जमीन-जंगल की सीमा आपस में टकरा या मिल न गई होगी। अब इस गोत्र में समाहित परिवार जिस जमीन को बार-बार बोते-काटते होंगे, उस जमीन पर उस परिवार का मुश्तक हक बनता जाता होगा। यह जमीन उत्तराधिकार में भी हस्तांतरित होती जाती होगी- गोत्र-नानी से, परिवार-नानी को। और परिवार-नानी का पहले अपने सबसे छोटी बेटी को फिर इस छोटी बेटी की सबसे छोटी बेटी को। जब तक ये तीन पीढ़ियाँ- नानी, बेटी, नतिनी एक साथ रहती होंगी एक परिवार बना रहता होगा। लेकिन जब नतिनी को भी सबसे छोटी बेटी हो जाती होगी, तब परिवार टूटता होगा। जमीन बंटती होगी। इस जमीन का कर्त्ता संभालने वाला मामा बनता होगा। जैसे गोत्र की जमीन का कर्त्ता गोत्र-मामा। यह गोत्र-मामा, राजा से भिन्न होता था। राजा सबसे छोटी बेटी का बेटा होता था, जो राजा की, उसके संपत्ति की, कानून की, गोत्र की रक्षा-व्यवस्था करता था, लेकिन, गोत्र संपत्ति का कस्टोडियन नहीं होता था। वह अधिभार गोत्र मामा का होता था। उसका घर अक्सर गाँव के बाहरी हिस्से में होता था, जहाँ गोत्र देवियों के आसन

¹ श्रीप्रकाश मिश्र का साक्षात्कार. (परिशिष्ट से उद्धृत)

होते थे, जहां गोत्र संबंधी पूजा होती थी।”¹ अर्थात् मातृवंशीय समाज में स्त्री केंद्र में होते हुए भी पुरुष निर्णय और मार्गदर्शन के क्षेत्र में सहभागी रहता है। इस प्रकार यहां सत्ता नहीं, बल्कि जिम्मेदारी का विभाजन है।

खासी समाज में सामान्यतः पुरुषों को संपत्ति में अधिकार नहीं होता, किंतु कुछ क्षेत्रों में इसका अपवाद भी देखा जाता है- “खासियों का समाज यद्यपि कि मातृप्रधान था और हर जगह स्त्रियों का ही दबदबा स्वीकार किया जाता था, तो भी राजा की पत्नी और दूसरी महिलाएँ दरबार के काम-काज में हिस्सा नहीं लेती थीं और न ही दरबार में आती थीं। कहती थीं कि बाग तो मुर्गा ही देता है। मर्द लड़ता है, इसलिए राजा होता है, मालिक भले ही औरत हो। जयंती रिडम की बात दूसरी थी। पिछले मालकिन की बड़ी बेटी होने के कारण राज्य की मुख्य पुरोहित, पुजारिन थी। राज्य धरा पर देव का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था माना जाता था, इसलिए वह अपवादस्वरूप आयी थी।”² खासी समाज की यह व्यवस्था न केवल आर्थिक संरचना को संतुलित करती है, बल्कि परिवार में कर्तव्य, देखभाल और धार्मिक उत्तरदायित्व को एक नैतिक ढाँचा प्रदान करती है। ईसाई धर्म के प्रभाव के बावजूद खासी समाज ने अपनी पारंपरिक संस्कृति और मूल्यों को सुरक्षित रखा है। खासी समाज अपनी संस्कृति और परंपराओं को अक्षुण्ण बनाये हुए है।

पूर्वोत्तर भारत की सामाजिक संरचना में स्त्री केवल जैविक या पारिवारिक इकाई नहीं, बल्कि सांस्कृतिक केंद्र और परंपरा की वाहक है। चाहे खासी समाज की मातृवंशीय परंपरा हो, नागा और लुशाई समाज की नैतिक-सांस्कृतिक आचार संहिताएँ हों अथवा कार्बी एवं दिमासा जनजाति की सामाजिक प्रथाएँ। प्रत्येक व्यवस्था में स्त्री समाज के संतुलन, परंपरा और नैतिकता की प्रमुख धुरी रही है। इन सभी लोक-संरचनाओं का सार यही है कि पूर्वोत्तर भारत का समाज स्त्री की सृजनशीलता, जिम्मेदारी और मानवीय मूल्यबोध को अपनी संस्कृति के केंद्र में रखता है।

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 175-176

² वही, पृ. 38

4.3 लोक-पर्व, रीति-रिवाज एवं लोक कलाएं

किसी भी समाज के 'लोक' स्वरूप की जीवंतता और स्थायित्व उसके पर्व-त्यौहारों, रीति-रिवाजों और लोककलाओं में सन्निहित होते हैं। यह समाज की सांस्कृतिक आत्मा को न केवल परिभाषित करते हैं, बल्कि उसे समय के प्रवाह में सुरक्षित भी रखते हैं। पूर्वोत्तर भारत का समाज अपनी परंपराओं, आस्थाओं और उत्सवों के कारण विशेष रूप से जीवंत और बहुरंगी दिखाई देता है। यहां के पर्व-त्यौहार, अनुष्ठान और कलात्मक रूप आदिकाल से लेकर आज तक प्रचलित हैं, कुछ अपने प्राचीन स्वरूप में, तो कुछ समयानुसार परिवर्तित रूप में। लोकधर्मिता की यही विशेषता है कि वह सदा सहज और स्वाभाविक बनी रहती है। यही कारण है कि पूर्वोत्तर भारत के पर्व-त्यौहार अपने नैतिक मूल्यों, वेशभूषा, खान-पान, नृत्य-गीत और सामूहिक भावना के कारण अन्य भारतीय अंचलों से विशिष्ट पहचान रखते हैं।

उपन्यास की अंतर्वस्तु में लोक-पर्व के संदर्भ

लोक-पर्व प्रायः समाज के श्रमजीवी तबके से जुड़े होते हैं। इनमें जीवन के प्रति आभार, प्रकृति के प्रति सम्मान और सामुदायिकता की भावना निहित रहती है। इन त्यौहारों का स्वरूप शास्त्रीय अनुष्ठानों की तुलना में सरल होता है- अधिकांश पर्वों में किसी पुरोहित या पंडित की आवश्यकता नहीं होती। 'ब्रह्मपुत्र' उपन्यास में मीरी समाज के दबूर देवता और इंद्र को एक ही देवता के रूप में चित्रित किया गया है। आरती और जूनतारा के बीच इस संबंध में बातचीत होती है- "क्या यह ठीक है कि दबूर और इंद्र एक ही देवता के नाम हैं? मेरे बापू का तो यही कहना है कि दबूर और इंद्र एक ही हैं।"¹ मीरी समाज के लोग दबूर पूजा में सुख-शांति, उत्तम फसल और परस्पर प्रेम की प्रार्थना करते हैं। परंतु अतिवृष्टि, बाढ़ या प्राकृतिक आपदा के समय उनके भीतर देवताओं के प्रति असंतोष भी झलकता है। 'ब्रह्मपुत्र' में आरती इस असंतोष को इस प्रकार व्यक्त करती है- "जब कई-कई दिन तक वर्षा नहीं

¹ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 62

थमती, बिजली कड़कती है, बड़े-बड़े पेड़ तूफान में जड़ से उखड़ जाते हैं और नदी में भी बाढ़ आ जाती है, मैं पूछती हूँ, उस समय मीरी लोगों के दबूर और हमारे इंद्र देवता कहाँ होते हैं?”¹ मीरी समाज में दबूर पूजा केवल धार्मिक कर्मकांड नहीं, बल्कि सामूहिक उत्सव है। इसमें गाँव की लड़कियाँ मिलकर नृत्य करती हैं और इंद्र (दबूर देवता) की कृपा के लिए गीत गाती हैं- “देवता की कृपा बनी रहे। धरती धानवती हो। स्त्रियाँ पुत्रवती हो। गाँव में सुख-शांति रहे। धन-धान से मिले, आदमी आदमी से मिले। कोई किसी से शत्रुता न करे, कोई किसी से ईर्ष्या न करे। दबूर देवता का आशीर्वाद सब को एक समान प्राप्त हो।”² यह लोकविश्वास है कि इंद्र वर्षा का देवता है, उसे प्रसन्न करने पर ही अच्छी फसल होगी, क्योंकि इंद्र के वज्र से बिजली चमकेगी और बारिश होगी। इस तरह के लोक-पर्व भारत के अन्य हिस्सों में भी होते हैं। कहीं इंद्रदेव को प्रसन्न करने के लिए कुवाँरी स्त्रियाँ नग्न होकर खेत जोतती हैं तो कहीं लोग मेढक-मेढकी की शादी और हवन करते हैं।

अरुणाचल प्रदेश की जनजातियाँ सूर्य और चंद्रमा को क्रमशः देवी और देवता के रूप में पूजती हैं। यह आस्था उनके जीवन-दर्शन की केंद्रीय धुरी है। उपन्यास ‘सियांग के उस पार’ में इस धार्मिक विश्वास का उल्लेख इस प्रकार है- “इस जनजाति का धर्म ‘दोनी-पोलो’ अर्थात् सूर्य और चंद्र पर केंद्रित है, ये मानते हैं कि ‘दोनी-पोलो’ संसार की आँख है और वे हर भले और बुरे को देखती है।”³ इसी तरह ‘जंगली फूल’ में सूर्य को देवी मानकर पूजा करने की परंपरा का चित्रण है- “माता सूर्य को साक्षी मानकर दोलियाँ ने अपनी चार पुजारिन सखियों के साथ मंत्रोच्चारण किया।”⁴ अरुणाचली जनजातियों की धार्मिक अवधारणा में सूर्य और चंद्र को क्रमशः माता और पिता की उपमा दी गई है। यह मान्यता ‘मिनाम’ उपन्यास में भी मिलती है- “वे सूर्य व चंद्रमा के उपासक हैं। जिसे वे दोजी-पोलो कहते हैं। दोजी अर्थात् सूर्य तथा पोलो अर्थात् चंद्रमा। ‘दोजी आने’ अर्थात् माता, ‘पोलो आबो’

¹ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 63

² वही, पृ. 63

³ वर्मा, दयाराम. (2018). सियांग के उस पार. पृ. 108

⁴ यालम, जोराम. (2020). जंगली फूल. पृ. 32

अर्थात् पिता।”¹ इससे स्पष्ट होता है कि प्रकृति की शक्तियों के प्रति श्रद्धा और सम्मान पूर्वोत्तर के समाजों की धार्मिक चेतना का मूल है।

मणिपुरी समाज में सर्प को परम पूज्य देवता का स्थान प्राप्त है। ‘मुक्ति’ उपन्यास में इसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है- “साँप समूची मणिपुरी जाति का परम पूज्य देवता है।”² उपन्यास की पात्र कियांग्माइची बताती है कि मणिपुरी समाज में प्रवेश के बाद उसने साँप खाना भी छोड़ दिया- “वैसे उन्होंने तो मुझे साँपों को भी मारना और उनके विषैले फणों को काट फेंकने तथा उनकी चमड़ी उधेड़कर उन्हें भी खाना सिखाया था, मगर जब से सर्प पूजक मइतई (मणिपुरी) लोगों के साथ रहने लगी हूँ तब से सर्प खाना तो छोड़ ही दिया।”³ यह परंपरा इस बात का संकेत है कि मणिपुरी समाज प्रकृति और पशु-जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से देखता है और मनुष्य तथा सर्प के बीच का संबंध केवल भय नहीं, बल्कि श्रद्धा और सहअस्तित्व पर आधारित है।

असम का बिहू उत्सव इस क्षेत्र की लोक संस्कृति का सबसे जीवंत प्रतीक है। बिहू वर्ष में तीन बार मनाया जाता है- बोहाग बिहू (रंगाली बिहू), वैशाख महीने में, काति बिहू (कंगाली बिहू), कार्तिक महीने में और माघ बिहू (भोगाली बिहू)। माघ महीने में, इन तीनों में सबसे अधिक उल्लास बोहाग बिहू में देखा जाता है। बोहाग बिहू के उल्लास का वर्णन करते हुए देवेन्द्र सत्यार्थी लिखते हैं- “बोहाग बिहू के सात दिन माने गए थे, पर बिहू नाच पूरे वैशाख-भर चलता था।”⁴ इस पर्व में नृत्य, गान, वाद्य और रंगों की छटा ग्रामीण जीवन को आनंद और सामूहिकता से भर देती है।

बोहाग बिहू असमीया जनमानस के जीवन में विशेष महत्त्व रखता है उपन्यासकार ने इसका दृष्टात्मक वर्णन इस प्रकार किया है- “चैत के आरंभ से ही घरों और खेतों में बिहू पक्षी का स्वर गूंजने लगता था। कुछ लोगों का विचार था कि बिहू पक्षी कोई अलग पक्षी नहीं है, बल्कि केतकी को ही बिहू

¹ लोयी, मोर्जुम. (2020). मिनाम. पृ. 33

² दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ.153

³ वही, पृ. 153

⁴ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 104

पक्षी का नाम दिया गया है। चैत की अंतिम तिथि से वैशाख की षष्ठी तक बोहाग बिहू का त्यौहार मनाया जाता था। न जाने बिहू पक्षी को पहले ही कैसे पता चल जाता था कि बिहू आ रहा है। चैत का अंतिम दिन दिसांगमुख में ‘गोरू बिहू’ के नाम से प्रसिद्ध था, क्योंकि इस दिन पशुओं को ब्रह्मपुत्र में मल-मलकर नहलाया जाता था। बिहू का आरंभ इसी प्रकार होता आया था। भोर से पहले ही उठकर घर की स्त्रियाँ हल्दी और दाल की पीठी रगड़कर तैयार करती थीं। फिर सरसों का तेल और पीठी मल-मलकर पशुओं को ब्रह्मपुत्र में स्नान कराने के लिए निकाला जाता था। जब पशुओं का स्नान समाप्त हो जाता, तो उस पर बाँस की पोरी में भरे हुए लौकी और बैंगन के छोटे-छोटे टुकड़े फेंककर उनकी पूजा की जाती थी और पुराने गीत के शब्दों में कहा जाता था, यह ले लौकी, यह ले बैंगन, प्रतिवर्ष फलो-फूलो। तुम्हारी माँ कद में छोटी है, और पिता भी, भगवान करे तुम्हारा डील-डौल बड़ा निकले! गोहाली की सफाई की जाती थी। धूप जलाकर गोहाली की सुगंधित किया जाता था। पशुओं को नई-नई रस्सियों से बाँधा जाता था। घर में त्यौहार के उपलक्ष्य में विशेष रूप से बनाई गई मिठाई का एक भाग पशुओं को भी मिलता था।”¹ इस तरह बिहू केवल एक कृषि-आधारित त्यौहार नहीं, बल्कि जीवन के नवोन्मेष और सामाजिक एकता का उत्सव है।

बोहाग बिहू के आनंद और उल्लास के बारे में ‘ब्रह्मपुत्र’ के उपन्यासकार लिखते हैं- “बिहू आए और ‘लाओ पानी’ अर्थात् चावल के मादक पेय का बाँध न टूटे, यह कैसे संभव था। बोहाग बिहू के कई नाम थे। कोई इसे ‘सात बिहू’ कहता था, क्योंकि यह सात दिन तक कम से कम चलता ही था, इसे ‘रांगाली बिहू’ भी कहते थे, क्योंकि नृत्य और संगीत के इस तर्क पर रस-रंग की मदिरा छलक उठती थी।”² बिहू के प्रति असमवासियों में कितना उन्माद है कि पूरे साल भर बेसब्री से इसकी प्रतीक्षा करते हैं और इसे केवल एक दिन तक सीमित नहीं रखते हुए पूरे साप्ताहिक तौर पर इसका जश्न मनाते हैं। यह आनंद केवल मौज-मस्ती के लिए ही नहीं होता, बल्कि इसमें श्रमशक्ति और कृषि-कार्य का

¹ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 104

² वही, पृ. 105

आह्वान भी होता है। “नया धान घर आए डेढ़-दो मास ही हुए होंगे, अब नया धान रोपने में थोड़े दिन शेष थे। बोहाग बिहू तो वस्तुतः नए धान का त्यौहार था। प्रत्येक घर का भराल नए धान से भरपूर था, प्रत्येक प्राणी नूतन उल्लास का प्रतीक था।”¹ उक्त वाक्य दर्शाता है कि असम की उर्वर धरती में धान की पैदावार कितनी अधिक होती है और किसान वर्ग फसल की कटाई और बुआई के बीच के क्षणों को कितने आनंद से जीता है।

‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास में काति बिहू के संबंध में उपन्यासकार लिखते हैं- “आश्विन की अंतिम तिथि से आरंभ होता है काती बिहू, जब लोग घरों और खेतों में दीप जलाते हैं। कार्तिक की प्रतिपदा को विशेष रूप से भराली और गोहाली में दीये जलाते हैं।”² ‘ब्रह्मपुत्र’ में एक जगह माघ बिहू का दृश्य वर्णन आता है- “प्रतिवर्ष के समान इस बार भी पूस की अंतिम तिथि को बाँस के पाँच डण्डे गाड़कर और उनके बीच लकड़ी का ढेर लगाकर माघ बिहू के उल्लास में लड़के-लड़कियों ने वहीं रात गुजार दी थी।”³ काति बिहू का यह दीपोत्सव धरती और अन्न के प्रति श्रद्धा का प्रतीक है। खेतों में जलाए गए ये दीप न केवल सौंदर्य का सृजन करते हैं, बल्कि किसान की आशा और प्रतीक्षा का प्रतीक बन जाते हैं। माघ बिहू या भोगाली बिहू फसल कटाई के बाद आनंद, भोज और सामूहिक उत्सव का प्रतीक है। इस रात सामूहिक रात्रि-भोज, गीत-संगीत और बाँस के ढाँचों में जलते अग्नि-स्तंभ असमीया संस्कृति की जीवंतता को प्रकट करते हैं।

‘देश भीतर देश’ उपन्यास में असमी समाज की उत्सवप्रियता का उल्लेख करते हुए लेखक लिखते हैं- “वैसे भी असमीया लोग बहुत उत्सवधर्मी होते हैं। किसी भी मौके को वे उत्सव में तब्दील करने में माहिर हैं। वसंत के समय बिहू त्यौहार के वक्त पूरा असम उत्सवमय हो जाता है। पूरी तरह छुट्टी। चारों तरफ बिहू (असमीया पारंपरिक नृत्य) ही बिहू। युवा अपने-अपने मोहल्लों में त्यौहार शुरू होने से

¹ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 105

² वही, पृ. 213

³ वही, पृ. 213-214

पहले इसका अभ्यास करते हैं, पारंपरिक वेश-भूषा में।”¹ यह उद्धरण स्पष्ट करता है कि बिहू केवल एक धार्मिक पर्व नहीं, बल्कि असमीया जीवन की सामूहिक ऊर्जा और सांस्कृतिक पहचान का प्रतीक है।

मणिपुर का समाज भी विविध लोकपर्वों और उत्सवों के माध्यम से अपनी सांस्कृतिक जीवंतता को अभिव्यक्त करता है। यहां का याउकछड उत्सव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ‘मुक्तावती’ उपन्यास में इस अनुष्ठान का वर्णन मिलता है- “और ठीक उसी समय एक बालक ने सूखी घास के एक मुड़े में आग लगा उसे झोपड़ी पर यों फेंक दिया ।... कुछ मिनटों में ही झोपड़ी जलकर राख बन गई। उपस्थित लोगों ने बड़ी श्रद्धा से राख कपाल से लगा-लगा अपने घरों को प्रस्थान किया।”² यह उत्सव न केवल धार्मिक प्रतीक है बल्कि असुरक्षा, भय और अंधकार पर विजय का संकेत भी देता है। मणिपुर में होली का पर्व भी अत्यंत उल्लासपूर्वक मनाया जाता है। ‘मुक्तावती’ में मणिपुरी लड़कियों द्वारा चंदा वसूलने की परंपरा का वर्णन है- “मणिपुर की होली इतनी सस्ती नहीं कि बिना दान-दक्षिणा के ही आँखें सेंकी जाय। इस प्रकार वसूल किए गए पैसों से लड़कियाँ भोज भात खाती है।”³ चंद्रावत और शैलेंद्र के संवाद में यह परंपरा और स्पष्ट होती है- “गिरोह बना कर इस प्रकार आठ-नौ दिनों में संचित पैसों से वे मिल कर भोज-भात करेंगी। खुद खायेंगी, कुछ दूसरों को भी खिला देंगी। एक प्रकार का ‘पिकनिक’ समझ लो।”⁴

मणिपुर का एक और महत्वपूर्ण उत्सव है ‘हलंकार’, जो राजा के गृहदेवता श्रीगोविंदजी के बड़े भाई श्री विजयगोविंद जी से संबंधित है। ‘मुक्तावती’ उपन्यास में इसका विस्तृत वर्णन है- “आज ‘हलंकार’ है शैलेन। श्री गोविंदजी के बड़े भैया श्री विजयगोविंद जी की होली है आज। आज सारा नगर इकट्ठा होगा वहाँ। बड़े मजेदार दृश्य देखने को मिलेंगे। आज देवर-भाभियों का वो युद्ध होगा कि देख कर

¹ सौरभ, प्रदीप. (2013). देश भीतर देश. पृ. 25

² ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ.10

³ वही, पृ. 11

⁴ वही, पृ. 11

दंग रह जाओगे तुम।”¹ यह उत्सव मणिपुरी समाज के हास्य, प्रेम और पारिवारिक बंधनों की अभिव्यक्ति है। इसके अतिरिक्त, उपन्यास में ‘वारुणी’ पर्व का भी उल्लेख मिलता है, ‘हलंकार’ के सातवें दिन मणिपुर के सामाजिक धार्मिक जीवन में पुनः एक वार्षिक पुण्य पर्व उपस्थित हुआ। ‘वारुणी’ का पुण्य पर्व चैत्र कृष्ण त्रयोदशी के दिन। इस प्रकार मणिपुरी समाज के पर्वों में भक्ति, आनंद और सामाजिक सहभागिता के तीनों रूपों का सुंदर संयोजन मिलता है।

असम के कामाख्या मंदिर में मनाया जाने वाला ‘अंबुवाशी’ पर्व भूमि और नारी के उर्वरत्व से जुड़ा हुआ है। ‘लोहित’ उपन्यास में इसका वर्णन अत्यंत भावनात्मक रूप से किया गया है- “पहले जोय को सिर्फ यही पता था कि कामाख्या देवी के मंदिर में मनाया जाने वाला अंबुवाशी का पर्व, धरती की उपजाऊ शक्ति से जुड़ा हुआ है। सूर्य की सख्त गर्मी से धरती की सारी नमी समाप्त हो जाती है। तब बादलों का पानी यानी कि वर्षा ऋतु ही धरती को राहत पहुँचाती है। उसी से जुड़ा है यह पर्व। देवी प्रसाद देती है और उस प्रसाद का खेतों में प्रयोग किया जाता है।”² यह पर्व प्रकृति में स्त्री-शक्ति के सृजनात्मक रूप को प्रतीकात्मक रूप से दर्शाता है।

पूर्वोत्तर की सांस्कृतिक समरसता का एक सुंदर उदाहरण ‘आहुति’ उपन्यास में मिलता है, जिसमें मणिपुरी और हिंदी भाषी समुदायों के परस्पर सांस्कृतिक संबंधों का चित्रण है- “मणिपुरी बस्ती के धार्मिक-सांस्कृतिक समारोहों में बिहारियों को भी आमंत्रण रहता है। वे उनमें दर्शक के रूप में भाग लेते हैं। बिहारियों के त्यौहारों में मणिपुरी लोग बुलाए जाते हैं, वे भी इनके त्यौहारों में सम्मिलित होते हैं। पर होली एक ऐसा त्यौहार है, जिसमें दोनों ओर के बासिंदे खुलकर साथ में होली खेलते हैं।”³ ‘आहुति’ उपन्यास में भी होली के अवसर पर मणिपुर की लड़कियों द्वारा राहगीरों से चंदा वसूल करने का चित्रण है- “इन लड़कियों को पैसे दे दीजिए, यह मणिपुर का रिवाज है। लड़कियाँ उस तरह पैसा

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 48

² सभरवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 56-57

³ पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति. पृ.10

वसूल कर जमा करती हैं, इसी से वे होली का उत्सव मनाती हैं।”¹ यह उद्धरण स्पष्ट करता है कि पूर्वोत्तर भारत की सामाजिक संरचना में धर्म, भाषा और संस्कृति के बीच कोई विभाजन नहीं, बल्कि परस्पर संवाद, सहभागिता और अपनत्व का रिश्ता है।

पूर्वोत्तर भारत के लोकपर्व चाहे वह असम का बिहू हो, मणिपुर का याउकछड, होली, हलंकार, वारुणी या असम का अंबुवाशी सभी प्रकृति, जीवन और सृजन की अखंड परंपरा के वाहक हैं। ये पर्व न केवल स्थानीय समुदायों की पहचान हैं, बल्कि भारतीय संस्कृति की बहुलता और समरसता के जीवंत प्रतीक भी हैं।

उपन्यासों में प्रतिबिंबित ‘रीति-रिवाज’-

लोक-समाज, विशेषकर जनजातीय समाज अपने पुरखों द्वारा निर्मित परंपरागत नियमों और सामाजिक मान्यताओं के प्रति गहरी निष्ठा रखता है। इन नियमों में परिवार, पारिवारिक सत्ता और मानवीय संबंधों का प्रगाढ़ निर्वाह निहित रहता है। परिवार समाज की सबसे छोटी किंतु सबसे महत्वपूर्ण इकाई है। अनेक परिवार मिलकर एक गाँव का निर्माण करते हैं और कई गाँव मिलकर व्यापक समाज की संरचना करते हैं। समाज प्रत्येक परिवार और उसके सदस्यों के लिए कुछ निश्चित नैतिक और व्यावहारिक मूल्य निर्धारित करता है, जिनका पालन अनिवार्य माना जाता है। जनजातीय समुदायों में इन सामाजिक मूल्यों का अत्यधिक महत्व होता है, क्योंकि वहाँ सामूहिक जीवन-शैली का बोल-बाला है। इन समाजों में यदि कोई व्यक्ति समाज-निर्धारित नियमों का उल्लंघन करता है तो उसके लिए सामाजिक दंड का भी प्रावधान होता है।

‘प्रेमवल्लरी’ उपन्यास में जब दीपेश एक अरुणाचली मित्र के घर जाता है तो वह उसका स्वागत अपने पारंपरिक रीति-रिवाज से करता है- “ये हमारा पत्नी ओकेन ने अपनी पत्नी से मिलवाया। चलो ब्रदर का वेलकम ड्रिंक ले आओ थोड़ी देर से आया पर कोई बात नहीं रात तो अपना है। ओकेन ने दीपेश की ओर देखकर ठहाका लगाया। ओकेन की पत्नी तीन गिलास और बोतल रख गई, जिसमें

¹ पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति. पृ. 11

दूधिया तरल था। फिर भुनी हुई मछली की प्लेट रख गई। ओकेन ने तीनों गिलास भर दिए। ओई तुरंत दीपेश से बोली ‘अपोंग’ यह चावल से बनाई जाती है। हल्का नशा देती है। पर यह हमारी परंपरा है। घर आए मेहमान का इसी से स्वागत किया जाता है। परंतु एक समस्या भी है कि यदि मेहमान इसे स्वीकार नहीं करता तो यह परिवार के पुरखों का अपमान माना जाता है। आप मना मत करना। मेरा यकीन करो, यह किसी प्रकार का नुकसान नहीं करती। यह हमारी परंपरा है, प्लीज मेरी बात रखना यहाँ स्त्रियाँ क्या लड़के-लड़कियाँ भी पीते हैं। वैसे भी हर त्यौहार पर आदिवासियों में शराब बहुत जरूरी होती है। देवताओं को भी चढ़ाई जाती है। ओई जल्दी-जल्दी बोलती जा रही थी, उसे डर था कि कहीं शहरी दीपेश अपोंग पीने से मना न कर दे। ओई ने ही पहले अपना गिलास उठाया फिर ओकेन ने, उसके बाद दीपेश ने झिझकते हुए गिलास उठाया। ओकेन दीपेश की झिझक पहचान चुका था, फौरन बोल पड़ा पीयो ब्रदर एकदम ताजा है। हम लोग घर में ही बनाता है। नाराज नई होना, चिंता नई करना।” (प्रेमवल्लरी उपन्यास से उद्धृत) यह रीति-रिवाज आदिवासी समाज में मदिरा-पान की संस्कृति को दिखलाता है, जबकि दीपेश जो उत्तर भारत का एक शहरी व्यक्ति है, उसके लिए यह बिल्कुल ही नई बात है, क्योंकि उत्तर भारत के लोग मेहमान का स्वागत चाय/शर्बत से करते हैं, वहां खुलेआम शराब का सेवन वर्जित है। ऐसे में यह रीति-रिवाज प्रदेश की भौगोलिक व रहन-सहन की विविधता को दर्शाते हैं, क्योंकि जनजातीय समुदाय में लोग धान का उत्पादन अधिक करते हैं और दिन भर अथक परिश्रम करते हैं, इसीलिए वे लोग ऐसे पेय पदार्थों का सेवन करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें तो इसमें प्रोटीन, फाइबर, मैगनेशियम, जिंक और कैल्सीयम जैसे तत्व होते हैं, जिस कारण भी आदिवासी समाज में ऐसे पेय सिर्फ बड़े ही नहीं अपितु औरतें और बच्चे भी पीते हैं।

‘लोहित’ उपन्यास में मेहमाननवाजी के विषय में असम में प्रचलित रोचक रीति-रिवाजों की जानकारी मिलती है, जोय की दादी उसे समझाती हैं “तामुलपान का अर्थ केवल पान खाना या चबाना ही नहीं है। इसके बिना मेहमाननवाजी, कोई भी उत्सव या विवाह आदि अधूरे हैं। भगवान को भी अर्पित किया जाता है और यह आदरसूचक है। बहुत ही शिष्टता और शालीनता से हर घर में

मेहमानों को और अपने से बड़ों को पेश किया जाता है। सो यह आदर का प्रतीक हुआ। ‘जोराई’ धातु का बना ऐसा बर्तन है, जिसका प्रयोग नामघर में भी होता है और साधारण और विशिष्ट घरों में भी समान रूप से होता है। पूजा आदि में भी इसका प्रयोग होता है। इसमें अतिथि को तामुलपान दिया जाता है, उनके स्वागत के समय भी और उन्हें धन्यवाद कहने के लिए भी। किसी भी रीति-रिवाज को मनाते समय इसे अवश्य रखा जाता है। लेकिन राजेश्वरी माँ, यह गमछा तो हर कोई यूँज करता है। मुझे तो इसमें कोई सिंबल नहीं दिखाई देता। जोय बिटिया, यह गमछा हमारी संस्कृति का जीवन है। इसे नामघर में भी इस्तेमाल करते हैं तो अपने घर में भी। किसी खास मेहमान को उसके स्वागत के रूप में दिया जाता है। उसके सम्मान को दर्शाता है। जिसे भी यह दिया जाता है वह बड़े यत्न से इसे संभालकर रखता है और गरीब किसान भी इसे नहाने के बाद इस्तेमाल करता है। बिहू में, किसी पूजा में सिर पर बाँधते हैं तो मजदूर पसीना भी पोंछता है। कोई पवित्र वस्तु ज़मीन पर रखने के बजाय इसके ऊपर रखी जाती है। यह प्रतीक शायद सबको समान रूप से देखने का है। हमारी संस्कृति का हिस्सा नहीं, जीवन है।”¹ उक्त उद्धरण में असमीया संस्कृति के तीन मुख्य प्रतीकों तामुलपान, जोराई और गमछा की चर्चा की गई है, ये तीनों असमीया समाज का विशेष प्रतिनिधित्व करती हैं। तामुलपान में तामुल का अर्थ है- सुपारी और पान अर्थात् पान का पत्ता। यह असम में बेहद लोकप्रिय है, कहा जाता है कि तामुल पान से आप दुश्मन को भी दोस्त बना सकते हैं। जोराई धातु से बना ढक्कनदार पात्र होता है, यह सामान्यतः पीतल या कांसे के होते हैं, इसे पूजनीय समझा जाता है और गमछा तो असमीया समाज का सर्वप्रिय अलंकार है, इसकी बहुउपयोगिता एवं सर्वग्राह्यता इसे सभी असमवासियों से जोड़ती हैं।

समय के साथ मूल्यों और रीति-रिवाजों में परिवर्तन स्वाभाविक है। आधुनिकता, शिक्षा, मिशनरी गतिविधियों और बाह्य समाज से संपर्क के कारण जनजातीय जीवन-मूल्यों में भी व्यापक परिवर्तन आए हैं। जो नियम कभी पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों के दैनिक जीवन का अभिन्न अंग थे, वे आज केवल स्मृति और परंपरा के रूप में शेष हैं। समाज की आवश्यकताओं के अनुसार कुछ नये

¹ सभरवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 206-207

मूल्य निर्मित हो जाते हैं, जबकि कुछ पुराने अप्रासंगिक हो जाने पर त्याग दिए जाते हैं। जनजातीय समाज के मूल्य सामूहिक रूप से तय होते हैं, इसलिए वे बाह्य रूप से “सामाजिक मूल्य” प्रतीत होते हैं, परंतु सूक्ष्मता से देखने पर उनके भीतर पारिवारिक मूल्य भी निहित होते हैं। जनजातीय समाजों की मूल्य प्रणाली अन्य समाजों से भिन्न है। इसी भिन्नता के कारण तथाकथित सभ्य समाज प्रायः इन्हें असभ्य या आदिम कहकर उपहास करते हैं, जबकि यह अंतर केवल सांस्कृतिक दृष्टिकोण और पारस्परिक समझ की कमी का परिणाम है।

जनजातीय लोक-समाजों में परंपरा और रीति-रिवाजों के प्रति आदरग्रहण गहरा रहता है। ये नियम केवल औपचारिक आदेश नहीं, बल्कि पारिवारिक सत्ता, सामाजिक दायित्व और मानवीय संबंधों के प्रगाढ़ निर्वाह के साधन होते हैं। जनजातीय सामाजिक जीवन के सामूहिक स्वरूप के कारण ये नियम विशेष प्रामाणिकता और कठोरता के साथ लागू होते रहे हैं, उल्लंघन की स्थिति में समाजिक दण्ड व्यवस्था सक्रिय रहती थी। मसलन ‘मेरी आवाज सुनो’ उपन्यास में लेखक जुमसी सिराम ‘नीनो’ ने गालो समाज में व्यभिचार हेतु दंड-विधान की प्रथा को दर्शाते हुए लिखा है- “परस्त्रीगमन या व्यभिचार को गालो समाज में बहुत ही घिनौना और निंदनीय समझा जाता है। किसी भी स्त्री-पुरुष को चाहे वे पति-पत्नी ही क्यों न हों, जंगल में सम्भोग करना वर्जित है। मान्यता यह है कि ‘न्यीपो-यापोम’ (वन की दुष्टात्मा) उनके तन-बदन में समाकर निवास करेंगी। फलस्वरूप स्त्री निःसन्तान मरेगी अथवा जीवन-भर रोगग्रस्त रहेगी। इसीलिए आलुक को आर्थिक दंड के साथ-साथ अन्य जुर्माने भी देने पड़े। आलुक के जाति-कुटुम्बियों ने विचार-विमर्श कर लेने के बाद एक हड्डा-कड्डा बहुत ही विशाल आकार का मिथुन, ‘बारको’ नामक कीमती थाली, ‘योपोत’ (परस्त्रीगामी के लिए सख्त जुर्माना) के तौर पर दिए। उन्होंने आलुक के हिस्से की खेती-बाड़ी, पैतृक सम्पत्ति इत्यादि को बेचकर अथवा गिरवी रखकर जुर्माना भर दिया। इसके साथ ही ताकार, मोकीतो तथा आलुक के परिजनों ने भी आलुक को कड़ी चेतावनी के साथ सावधान किया। आलुक को बहुत शर्मिंदा भी होना पड़ा।”¹ अरुणाचल प्रदेश के

¹ ‘नीनो’, जुमसी सिराम. (2021). मेरी आवाज सुनो. पृ. 48

जनजातीय जीवन में बहुविवाह की प्रथा है लेकिन परस्त्रीगमन को बहुत ही निकृष्ट समझा जाता है, अगर किसी व्यक्ति पर ऐसे आरोप लगे तो उसके लिए समाज में अलग दंड-विधान है, ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि समाज में अपराध के प्रति लोगों में भी बना रहे तथा इसके समर्थन में एक लोकविश्वास भी गढ़ लिया गया कि रात में वन में मनुष्यों के शारीरिक संबंध बनाने से वनदेवी नाराज हो जाएंगी। लोक समाज में किसी प्रकार की कानून व्यवस्था नहीं होती ऐसे लोकनियमों से ही समाज में सुव्यवस्था बनी रहती है।

रीति-रिवाज किसी भी समुदाय की संस्कृति की रीढ़ होते हैं, वे पहचान, सहअस्तित्व और पारिवारिक-सामाजिक संतुलन के तंत्र को स्थिर रखते हैं। पूर्वोत्तर के जनजातीय समाजों में विवाह-संबंधी परंपराएँ विविध रूपों में प्रचलित रहीं वधू-मूल्य, बहुपत्नी प्रथा, स्वप्न-शकुन की संस्कृति, तथा सामूहिक भोज और बलि-विधियाँ सभी ने समुदाय के जीवन को एक विशिष्ट दिशा दी। धर्मांतरण, शहरीकरण और आधुनिक शिक्षा के आगमन ने इन रीति-रिवाजों को परिवर्तित किया है, परंतु उनकी मूल दृष्टि सामाजिक समरसता, परस्पर दायित्व और सामूहिक उत्तराधिकार- आज भी पूर्वोत्तर के जन-जीवन में व्याप्त है।

लोक कलाओं की प्रतिध्वनि-

लोक कला किसी समाज की सामूहिक चेतना, अनुभव और जीवन-दृष्टि की सजीव अभिव्यक्ति है। यह कला किसी एक व्यक्ति की निजी कल्पना नहीं होती, बल्कि पीढ़ियों से संचित लोकानुभवों का कलात्मक रूपांतरण होती है। लोक जीवन में रचे-बसे सुख-दुःख, श्रम, आस्था, प्रकृति और सामाजिक संबंध लोक कला के मूल आधार हैं, इसलिए इसमें सहजता, स्वाभाविकता और आत्मीयता प्रमुख गुण के रूप में दिखाई देती है। लोक कला में प्रयुक्त प्रतीक, बिंब और कथ्य सीधे जनजीवन से ग्रहण किए जाते हैं, जिससे यह कला जनसामान्य के लिए सहज बोधगम्य बनती है। इसमें शास्त्रीय अनुशासन या तकनीकी जटिलता की अपेक्षा जीवन की सच्चाई और भावनात्मक सघनता का अधिक महत्त्व होता है। लोक कला का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उसका सांस्कृतिक संरक्षणकारी स्वरूप

है। यह परंपराओं, रीति-रिवाजों और सामाजिक मूल्यों को पीढ़ी दर पीढ़ी संप्रेषित करती है, साथ ही यह समाज की सामूहिक स्मृति को जीवित रखने का कार्य करती है।

मेघालय के जनजीवन पर आधारित उपन्यास 'रूपतिल्ली की कथा' में एक तीरंदाजी के खेल का वर्णन मिलता है, जिसमें दो गांव खिरिम और मिल्लियम के बीच तीरंदाजी का खेल होता है। उसमें दोनों गांवों के हर आयु-वर्ग के बच्चे-बूढ़े-स्त्री-पुरुष बड़ी संख्या में एकजुट होते हैं। खासी लोगों को तीरंदाजी से बहुत लगाव है, इसका पता उपन्यास के एक अंश से चलता है- "दूर मिल्लिम गाँव में रिजा की बेटी तीर-धनुष से खेल रही थी। उसका छोटा भाई बसंता का बेटा उससे छीन रहा था। दोनों की माँ अल्खा आवरी उनका झगड़ा छुड़ाती हुई कह रही थी, "मैं तुम्हारे लिए भी बना दूँगी। थोड़ा बड़ा तो हो जा। अभी डंडे से खेला।"¹ खासी लोगों के बीच जब तीरंदाजी का खेल आरंभ होता है तो दोनों गांवों के पुजारी अपने-अपने दलों के लिए पूजा-अर्चना कर रहे थे। "बीच मैदान में लक्ष्य भेद के लिए दो तरह के खूँटे एक पंक्ति में एक के बाद दूसरे के क्रम में गड़े थे। एक तरह के खूँटे तीन फुट ऊँचे बाँस के टुकड़ों पर एक फुट लंबी और चार इंच की गोलाई में उ स्कुम घास को बाँधकर बनाये गए थे। दूसरे तरह के खूँटे उसी ऊँचाई और गोलाई के का सुह पडुड की जड़ों से बनाए गए थे। उनसे कोई पचास फुट की दूरी पर दोनों टीमों अपनी पंक्ति से अंग्रेजी का अक्षर 'एल' (L) बनाती हुई आ बैठी थीं। दोनों दलों के नोड खान खलाम (निर्णायक) का काम एक बार फिर बढ़ गया था। उन्होंने अपने-अपने गोल को बताना शुरू कर दिया था कि घास वाला खूँटा मिल्लियम वालों के लिए हैं तो जड़ वाला खूँटा खिरिम वालों के लिए। कि मिल्लियम वालों के तीर में धनेस और गिद्ध के पंखों को खोंसा गया है संतुलन बनाने के लिए और बत्तख तथा सारस के पंखों वाले तीर खिरिम वालों के हैं। कि साप (सीधी नोक वाले) तीरों का ही प्रयोग इस खेल में होता है, की प्लियाड का नहीं, वे शिकार के लिए हैं। कि उ स्पिट' के धनुष ही प्रयोग में लाए जायेंगे। कि एक-एक आदमी को दस-दस तीर मारने हैं घुटनों के बल बैठकर और दस ही तीर खड़े होकर। कि गाँव की इज्जत का सवाल है। कि जीतने वालों को दूसरे गाँव की लड़कियाँ पसंद

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 344

करेंगी। कि हारने वाली टीम जीतने वालों को दारू-गोश्त की दावत देगी। कि उनके जीतने का मौका कैसे दूसरों से बेहतर है। कि दूसरे की तैयारी में क्या-क्या कमियाँ हैं। इस बीच औरतें और लड़कियाँ अपने चहेते धनुर्धरों को कभी पानी पिला रही थीं, तो कभी ताड़ी पिला रहीं थीं, तो कभी किसी के मुँह के क्वाय' ठूस रही थीं, तो किसी के साथ धौल-धुप्प कर रही थीं, तो किसी से ठिठोली कर रही थीं। इसमें बँटवारा गाँव के अनुसार नहीं, चहेते खिलाड़ी के अनुसार था।”¹ उक्त प्रसंग में तीरंदाजी के खेल को एक उत्सव की तरह मनाया जाता है, ऐसे आयोजन लोक कला और पारस्परिक साहचर्य के प्रतीक हैं। एक गांव के लोग दूसरे गांव के खिलाड़ी का भी समर्थन कर सकते हैं, ऐसी उदारता सच्ची खेल-भावना का परिचायक है। खेल के अलावा नाडक्रेम नृत्य का आयोजन किया गया था, जो एक प्रकार से लोगों का मनोरंजन और खिलाड़ियों का उत्साहवर्धन कर रहा था। खेल के माध्यम से वैवाहिक संबंध की प्रक्रिया, सामूहिक भोज, जीत-हार के की शर्तों में सरलता जैसी चीजें इस प्रकार के आयोजन को लोक संस्कृति की मूल अर्थवत्ता से जोड़ती हैं।

4.4 संस्कार, अनुष्ठान और लोक प्रथाएँ

संस्कार, अनुष्ठान और लोक प्रथाएँ किसी भी समाज की सांस्कृतिक चेतना के मूल आधार होते हैं। संस्कार व्यक्ति के जीवन को जन्म से मृत्यु तक मर्यादित, अनुशासित और मूल्यबोध से युक्त करते हैं। जन्म, नामकरण, विवाह और अंतिम संस्कार जैसे संस्कार सामाजिक निरंतरता और परंपरा के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अनुष्ठान धार्मिक-आध्यात्मिक आस्थाओं से जुड़े वे कर्मकांड हैं, जिनके माध्यम से मनुष्य प्रकृति, देवत्व और समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। इनमें सामूहिक सहभागिता सामाजिक एकता को सुदृढ़ करती है।

लोक प्रथाएँ समाज के दैनिक जीवन से जुड़ी सहज और स्वाभाविक आचार-व्यवहार की अभिव्यक्ति हैं। ये पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परंपरा द्वारा संचरित होती हैं और स्थानीय अनुभव, विश्वास

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 45-46

तथा पर्यावरणीय परिस्थितियों से आकार ग्रहण करती हैं। लोक प्रथाओं में सामाजिक नैतिकता, श्रम संस्कृति और सामुदायिक सहयोग की भावना निहित रहती है। वस्तुतः संस्कार, अनुष्ठान और लोक प्रथाएँ मिलकर समाज की सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक संरचना और सामूहिक स्मृति को सुरक्षित रखने का कार्य करती हैं।

विवाह-पद्धति-

पूर्वोत्तर भारत के राज्यों में जहां अलग-अलग जनजातीय समाज हैं और हर समाज के अपने रीति-नियम हैं, वहां के जनजीवन में विवाह प्रणाली में भी पर्याप्त अंतर देखने को मिलता है। मणिपुर पर केंद्रित उपन्यास 'आहुति' में मणिपुरी समाज की विवाह पद्धति का वर्णन है, जिसमें लड़का-लड़की में प्रेम होने के बाद शादी करने की पद्धति का उल्लेख है- "यह परिचय उनकी जान-पहचान में बदलती है जो मित्रता का रूप धारण करता है, यह मित्रता प्रेम में बदल जाती है। कुछ महीनों के बाद लड़की अपने प्रेमी के साथ घर छोड़ भाग जाती है। वे अपने किसी मित्र या शुभचिंतक के घर छिपकर तीन दिन रहते हैं। अगर तीन दिन वे किसी से पकड़े नहीं जाते हैं, तब लड़के का पिता लड़की के पिता के पास शादी का प्रस्ताव लेकर जाता है। लड़की का पिता कोई भी शर्त रख सकता है, पैसा माँग सकता है या कुछ भी जिसे लड़के के पिता को पूरा करना पड़ता है। शादी तय हो जाती है, तब लड़के का पिता बारात लेकर लड़की के घर आता है। शादी एक दिन में संपन्न हो जाती है। उसी रात लड़की को लेकर लड़के वाले अपने घर आ जाते हैं, चार दिनों के बाद लड़का-लड़की दोनों को लेकर वे फिर लड़की के पिता के घर आते हैं। इस बार सामूहिक भोज होता है, जिसमें अतिथियों को भी सम्मिलित किया जाता है।"¹

लोक-कथाओं और उपन्यासों में मणिपुरी विवाह-परंपराओं के कई विशिष्ट पक्ष मिलते हैं। 'मुक्तावली' में नववधू के गृह-प्रवेश के समय 'बहू-भात' का अनुष्ठान आता है- यह सामुदायिक भोज के माध्यम से नव-दुल्हन के स्वागत का प्रतीक है। तोंबी सना और मोहल्ले की युवतियाँ मुक्तावती के चंद्रावत के घर आ जाने पर चंद्रावत की माँ से बहू-भात की माँग करती है- "चाची। नववधू का गृह-

¹ पाण्डेय, श्रीधर.(2008). आहुति. पृ. 12

प्रवेश यों मुफ्त में नहीं होने का। आज बहू-भात का भोज हम खा कर जायेंगी यहां से।”¹ मणिपुरी समाज में बचपन में तय किए गए विवाह (‘कनजवा’) और वयस्कता में परिवारजनों द्वारा पक्की की गई शादियाँ (‘हायजबा’) जैसी प्रथाएँ प्रचलित रहीं। विवाह-समारोहों में ‘वर-बारतन’ जैसे निमंत्रण तथा ‘लुहोगफाला’ (काष्ठासन), ‘मोरा’ आदि बैठने-व्यवस्था और ‘सेवारी’ (विवाह कर्म में सहायक) की नियुक्ति जैसी अनुष्ठानिक व्यवस्थाएँ दर्शनीय होती हैं, ये रीति-रिवाज सामूहिक साझेदारी और आयोजन-क्षमता को प्रतिबिंबित करते हैं। इस विवाह के अवसर पर ‘वर-बारतन’ की रस्म का भी उल्लेख आता है। बारात में शामिल होने के लिए जो निमंत्रण दिया जाता है उसे ‘वर-बारतन’ कहते हैं। ‘मुक्तावती’ में विवाह के रिवाज रस्में भी एक जगह सुंदर ढंग से वर्णित हैं- “कुल मिलाकर वर-वधुओं की सात जोड़ियों थीं। वरों के लिए ‘लुहोगफाला’ (काष्ठासन) का प्रबंध हो गया, और वधुओं के बैठने के लिए ‘मोरा’ का भी। मृदंग और करताल पर कीर्तनियों के हाथ मुखर हो उठे और उनके कीर्तन के स्वर आकाश में। वर-वधुओं की हर जोड़ी के लिए एक-एक ‘सेवारी’ (विवाह कर्म में वर-वधू का सहायक) नियुक्त किया गया और कीर्तन के स्वर ध्वनित होते ही सेवारियों ने अपनी-अपनी जोड़ी के वरों को बड़े प्रेम से ले जाकर ‘लुहोगफालो’ पर बैठा दिया और वधुओं को मोराओं पर।”² उपरोक्त अंश मणिपुरी समाज की विवाह-परंपराओं को साहित्यिक माध्यम से समझने का महत्वपूर्ण सांस्कृतिक दस्तावेज प्रस्तुत करता है। इसमें विवाह को केवल एक व्यक्तिगत या पारिवारिक संस्कार न मानकर सामुदायिक सहभागिता से जुड़ी सामाजिक संस्था के रूप में रेखांकित किया गया है। ‘बहू-भात’ की परंपरा नववधू के गृह-प्रवेश को सामूहिक स्वीकृति प्रदान करने का प्रतीक है, जिसमें भोजन के माध्यम से सामाजिक रिश्तों को औपचारिक मान्यता दी जाती है। यह प्रथा दर्शाती है कि मणिपुरी समाज में विवाह के बाद स्त्री का नया घर केवल पति का परिवार नहीं, बल्कि पूरा समुदाय होता है।

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 266

² वही, पृ. 511

‘देश भीतर देश’ उपन्यास में विनय-मिल्की के माध्यम से असमीया संस्कृति की विवाह पद्धति की झलक मिलती है- “असमिया रीति-रिवाज के अनुसार शादी से पहले लड़की लड़के के घर जाती है। और लड़के की माँ लड़की की माँग सिन्दूर से भरती है।”¹ इस रस्म को ‘घोर गोसोका’ गृह प्रवेश का हिस्सा माना जाता है जिसमें घर की स्वामिनी माँ अपनी बहू का वरण करती है।

‘जंगली फूल’ उपन्यास में कन्या मूल्य देने की प्रथा का चित्रण मिलता है, जो तत्कालीन समाज स्वीकृत प्रथा थी- “गरीब लड़कियाँ महज एक मिथुन अथवा दो मिथुन में ही बिक जाया करती थीं। धनी पुरुषों की कई-कई पत्नियाँ होतीं। ये उनके ऐश्वर्य और वीरता की पहचान हुआ करतीं। यही परम्परा है। बिक चुकी लड़कियाँ किसी की सम्पत्ति हो जाती हैं। जिन घरों में जितनी लड़कियाँ पैदा होतीं, उतने ही उनके माता-पिता धनी हो जाते। क्योंकि लड़कियाँ सम्पत्ति लातीं और ले जाती थीं, इसलिए उनके नखरे भी स्वीकार्य थे। जो बिकी या खरीदी नहीं जाती थी, उनकी कीमत ही नहीं होती थी। उनको कई तरह के ताने सुनने पड़ते थे।”² ऐसी अवस्था में तत्कालीन समाज में अधिकांश माता-पिता बेटी पैदा होने की कामना करते थे, ताकि वे अधिक धनी बन सके। किंतु, इस व्यवस्था के कारण निर्धन लड़के कभी-कभी अविवाहित भी रह जाते। वस्तुतः यह परंपरा न केवल स्त्रियों के लिए कष्टप्रद था, बल्कि पुरुषों के लिए भी इसमें काफी मुश्किलें थीं।

नामकरण संबंधी धारणा-

अरुणाचल प्रदेश की गालों जनजाति में बच्चों के नामकरण की बड़ी रोचक पद्धति है। ‘मिनाम’ उपन्यास में इसकी चर्चा करते हुए मोर्जुम लोयी लिखती हैं- “गालो जनजाति में बच्चों के नामकरण में विशेष प्रक्रिया का पालन होता है, जहाँ पिता के नाम के पिछला भाग बच्चों के नाम के आगे जुड़ जाता है, यथा- तानी (परदादा), नीतो (दादा), तोपो (पिता), पोजोम (पुत्र), जोम्ली (पोता), लीगे (पौत्र) उसके बाद गेली, लिदुक, दुकगे आदि। इस नामकरण के चलते अन्य गाँव के लोग भी जान

¹ सौरभ, प्रदीप. (2012). देश भीतर देश. पृ. 12

² नाबाम, जोराम यालाम. (2019). पृ. 58

जाते हैं कि कौन किसके पुत्र हैं और उनके क्या रिश्ते हैं। वे दुख-सुख में परिवार की तरह शामिल हो जाते हैं। इसके कई फायदे हैं। गालो समाज में कोई बच्चा अनाथ नहीं कहा जाता। क्योंकि उनके कोई न कोई रिश्तेदार निकल आते हैं, जो ऐसे वक्त में उसका हाथ थाम लेते हैं। पढ़ाई-लिखाई के मामले में भी ये लोग पढ़ाई का खर्च उठाने से पीछे नहीं हटते। बच्चों का नामकरण सिर्फ बाप के नाम पर नहीं बल्कि कभी-कभी चाचा, ताऊ, बुआ आदि के नाम पर भी किया जाता है, क्योंकि इन सभी को बाप का दर्जा दिया जाता है। यामी के पिता का नाम कोरी है, इसलिए सभी बच्चों के नाम का आरंभ 'री' से है। जैसे रीमी (यामी) 'या' इसलिए क्योंकि बुलाने के लिए लड़कियों के नाम 'या' और लड़कों का 'ता' से आरंभ करते हैं। पहला बेटा 'ताली' और पहली बेटी 'याबी' कहलाते हैं पर यामी की एक बड़े भाई और बड़ी बहन जन्म के कुछ दिन बाद ही चल बचे 'रीली' और 'रीबी'। उसके बाद रीमी, रीगे, रीयोम, रीबा, रीयुम, रीयी और रीजा।”¹ इस प्रकार एक गांव अथवा एक परिवार के बच्चे से उसके पूरे वंश की जानकारी आसानी से हो जाती है। यह परंपरा ‘मेरी आवाज सुनो’ उपन्यास में भी देखने को मिलती है- “समाज के नियमानुसार ताकार और आयि ही पति-पत्नी हैं, आलुक और आयि नहीं। अतः आयि से उत्पन्न हुआ बच्चा ताकार का ही कहलाएगा। गालो समाज में पुत्र का नाम पिता की पहचान से जुड़ा होता है अर्थात् पिता के नाम के अन्तिम शब्दांश से पुत्र का नाम रखने का रिवाज है। इसलिए बच्चे का नाम 'कारकेन' रखा गया। कारकेन नाम, ताकार शब्द के अन्तिम शब्दांश 'कार' के आधार पर रखा गया।”²

‘मुक्ति’ उपन्यास में प्रोफेसर भट्टाचार्य नागालैंड की जनजातियों का वर्णन करते हुए बताते हैं- “इसके दक्षिण पूर्वी किनारे पर निवास करने वाली कूकी जाति में तो एक विचित्र प्रथा है कि जैसे ही किसी जोड़े को कोई संतान पैदा हो जाती है, वैसे ही वे माता-पिता बने युगल अपना नाम गँवा बैठते हैं और संतान का जो नाम पड़ता है, उसी के नाम से कि ‘अमुक का पिता’ या ‘अमुक की माता’ कहलाए

¹ लोयी, मोर्जुम. (2020). मिनाम. पृ. 29

² नीनो, जुमसी सिराम. (2021). मेरी आवाज सुनो. पृ. 69-70

जाने लगते हैं।”¹ वर्णित नाम-परिवर्तन की प्रथा केवल एक अनोखी परंपरा नहीं, बल्कि समाज की सामूहिक चेतना का द्योतक है। संतान के जन्म के साथ ही माता-पिता का व्यक्तिगत नाम लुप्त हो जाना, यह संकेत करता है कि कूकी समाज में व्यक्ति की पहचान से अधिक महत्त्व पारिवारिक दायित्व और वंशानुक्रम को दिया जाता है। इस व्यवस्था में माता-पिता की सामाजिक स्थिति संतान के माध्यम से पुनः परिभाषित होती है। ‘अमुक का पिता’ या ‘अमुक की माता’ कहलाना इस बात का प्रतीक है कि व्यक्ति का अस्तित्व अब निजी न रहकर सामाजिक उत्तरदायित्व से जुड़ गया है। यह प्रथा पारिवारिक जीवन को समाज की मूल इकाई के रूप में स्थापित करती है और माता-पिता को अपनी संतान के प्रति नैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक दायित्व निभाने के लिए प्रेरित करती है।

उपन्यासों में चित्रित लोक प्रथाएँ-

नागा जनजातियों में सामाजिक अनुशासन और धार्मिक नैतिकता का अत्यधिक महत्त्व है। शिरश्छेदन (हेड-हंटिंग) जैसी ऐतिहासिक परंपरा के पीछे भी नैतिक अनुशासन का भाव जुड़ा हुआ था। “जब कोई नागा इस उद्देश्य से लिए बाहर जाता था तो उसकी पत्नी को पत्नी-धर्म का पालन करना आवश्यक होता था। यदि वह इस मूल्य का निर्वाह नहीं करती थी तो ऐसा माना जाता था कि उसका पति शत्रु के द्वारा मारा जाएगा।”² यह विश्वास दर्शाता है कि स्त्री का नैतिक आचरण पति के जीवन से जुड़ा हुआ माना जाता था। इसी प्रकार लोथा जनजाति में बुनाई का निषेध धार्मिक अनुशासन का प्रतीक था- “यदि वह स्त्री इस नियम को तोड़ेगी तो अभियान पर गए उसके पति के पाँव लताओं में फँस जाएँगे और दुश्मन उसे घेर कर मार डालेंगे।”³ इन आस्थाओं से यह स्पष्ट होता है कि नागा समाज में परिवार, धर्म और सामाजिक अनुशासन आपस में अभिन्न रूप से जुड़े हुए थे।

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 217

² भिक्खु, कृष्णचन्द्र शर्मा. (1976). रक्तयात्रा. पृ. 81

³ वही, 96

पूर्वोत्तर भारत के लुशाई और लखेर समाजों में बावी और सेई जैसी परंपराएँ प्रचलित थीं, जो सामंतवाद या दासता से भिन्न एक सामाजिक सुरक्षा प्रणाली के रूप में कार्य करती थीं। “लुशाई लोगों में बावी प्रथा प्रचलित थी। इसे आंशिक गुलामी या आंशिक सामाजिक सुरक्षा के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रथा के अंतर्गत मुखिया के पास कई आश्रित रहते थे। बावी या आश्रित मुखिया के सारे कार्य करते थे। इसके बदले बावी को सामाजिक सुरक्षा के रूप में मुखिया घर और भोजन प्रदान करता था। बावी मुखिया के प्रति समर्पित रहते थे। इस समर्पण या गुलामी से मुक्ति भी संभव थी। कुछ धनराशि या मिथुन देकर बावी मुखिया से मुक्त हो सकता था।”¹ बावी पूर्ण रूप से ‘गुलाम’ नहीं होते थे, बल्कि परिवार के सदस्य की तरह माने जाते थे। उनकी मुक्ति भी संभव थी। कुछ धनराशि या मिथुन देकर बावी मुखिया से मुक्त हो सकता था। इसी प्रकार लखेर जनजाति में ‘सेई’ प्रथा का प्रचलन था- “सेई को अपनी गृहस्थी बसाने की अनुमति कभी-कभी दे दी जाती थी। लेकिन कर्तव्य का निर्वाह वंशानुगत रूप से करना पड़ता था।”² सेई अपनी संपत्ति बना सकता था, किंतु उसके स्वामी को उसकी उपज और मवेशियों में से एक हिस्सा लेने का अधिकार होता था।

4.5 लोक-जीवन और सांस्कृतिक समन्वय

लोक-जीवन किसी भी समाज की नींव होती है, जिसमें उसकी दैनिक गतिविधियाँ, विश्वास, परंपराएँ, लोकाचार और सामूहिक स्मृतियाँ समाहित रहती हैं। यही लोक-जीवन समय के साथ विभिन्न संस्कृतियों के संपर्क में आकर सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया को जन्म देता है। सांस्कृतिक समन्वय का अर्थ है- भिन्न सांस्कृतिक तत्वों का पारस्परिक संवाद, ग्रहण और पुनर्संरचना, जिससे समाज में एक संतुलित और बहुआयामी सांस्कृतिक स्वरूप विकसित होता है। लोक-जीवन में यह समन्वय लोकगीतों, लोकनृत्यों, पर्व-त्यौहारों, विवाह-संस्कारों और खान-पान की परंपराओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। विभिन्न जातीय, भाषायी और धार्मिक समूहों के बीच सतत संपर्क से परंपराएँ न केवल

¹ भिक्षु, कृष्णचन्द्र शर्मा. (1976). रक्तयात्रा. पृ. 85

² वही, पृ. 89

संरक्षित रहती हैं, बल्कि नवीन अर्थ और रूप भी ग्रहण करती हैं। इस प्रक्रिया में न तो लोक-संस्कृति अपनी मौलिकता खोती है और न ही बाहरी प्रभाव पूरी तरह हावी होते हैं, बल्कि दोनों के बीच एक रचनात्मक संतुलन स्थापित होता है।

कृषि-

लोक संस्कृति में कृषि जीवन का आधार है, जो जीवन की आर्थिक संरचना के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों को भी आकार देती है। कृषि से जुड़े पर्व, लोकगीत और अनुष्ठान सामूहिक श्रम, प्रकृति-सम्मान तथा सहअस्तित्व की लोकदृष्टि को सुदृढ़ करते हैं। 'ब्रह्मपुत्र' उपन्यास में ग्रामीण जीवन में कृषि कार्य की महत्ता को राखाल काका के माध्यम से दर्शाया गया है- “काका जानते थे कि आहू और बाऊ धान में यह अंतर है कि जहां आहू ज्येष्ठ-आषाढ़ में कटता है वहाँ बाऊ बहुत देर से पकता है। आहू के लिए केवल चार-पाँच महीने चाहिए- माघ में बोया और ज्येष्ठ-आषाढ़ में काट लिया, पर बाऊ तो बहुत ढीलम-ढालम था, माघ में बोते थे आहू के साथ-साथ और अगहन-पूस में काटते थे- पूरे आठ-नौ महीने बाद। अगहन पूस ही में तो शाली की फसल कटती थी। शाली तो वैसे वैशाख से ही शुरू हो जाती थी, जब इसकी पनीरी लगाई जाती थी। सावन में शाली की पनीरी खेतों में रोपी जाती थी और अगहन में शाली काट ली जाती थी। यदि पनीरी लगाने के तीन महीनों की गिनती न की जाए तो रोपने और काटने के बीच तो वही चार-पाँच महीने लगते थे। काका यह भी जानते थे कि आहू और शाली में इतना ही अंतर है कि आहू रंग में लाल होता है। बाऊ धान भी रंग में कुछ-कुछ लालिमा लिए रहता है। जिस खेत में एक वर्ष शाली लगाएँगे उसमें प्रतिवर्ष शाली ही लगाएँगे, दिसाँगमुख में ऐसा ही होता था। कभी-कभी आहू और बाऊ को उनकी अपनी-अपनी जमीन में न बोकर किसी शालीवाली जमीन में बोकर देखते थे, पर आहू और बाऊवाली जमीन में लाख यत्न करने पर भी शाली उतनी अच्छी नहीं होती थी जितनी उस जमीन पर जहाँ वह हमेशा से रोपी जाती थी। जहाँ तक धान की फसलों का संबंध है, राखाल बोला, ये तीन ही फसलें हैं-आहू, बाऊ और शाली। इनमें भी आहू और बाऊ भले ही एक साथ इसी माघ महीने में ही बोते हैं, पर जब आहू को जेठ-

आषाढ़ में काटते हैं तो बाऊ की बालियाँ पकनी तो दूर रहीं अभी लगनी भी आरंभ नहीं होती।”¹ प्रस्तुत अंश में लोक संस्कृति के कृषि-आधारित जीवनबोध को अत्यंत यथार्थपरक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि राखाल काका लंबे समय तक महावत का काम करचूक थे पर उनका कृषि संबंधित ज्ञान-कौशल अद्भुत है। धान की फसल के प्रकार, उसके बोने, पकने और काटने का समय जैसी गूढ़ जानकारी लोक संस्कृति में कृषि कार्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते हैं। जो ज्ञान कृषि विज्ञान का क्षेत्र है उसे अनुभव द्वारा लोकविद्या के रूप में आर्जित किया जाता है। फसल और ऋतु के पारस्परिक संबंध की समझ लोकमानस की प्रकृतिसम्यक दृष्टि को उजागर करती है।

वेश-भूषा-

वेश-भूषा किसी भी प्रदेश या समुदाय की सांस्कृतिक पहचान का प्रतिबिंब होती है। प्रादेशिक जलवायु, आर्थिक परंपरा, औपचारिकता तथा धार्मिक-रीतियों के अनुरूप वेश-भूषा का आधार निर्मित होता है। पूर्वोत्तर के विविध जनजातीय समाजों में पारंपरिक वस्त्र, ज्वेलरी और आयतनगत परिधान सामाजिक स्थिति, आयु तथा अवसर के अनुसार बदलते दिखते हैं और यही प्राचीनता से आज तक सांस्कृतिक निरंतरता का स्रोत बने हुए हैं। मणिपुर की पारंपरिक महिलाओं की वेश-भूषा का उपन्यासों में बार-बार सुंदर और सजीव चित्र मिलता है। मुक्तावती में मणिपुरी युवतियों के पहनावे का वर्णन उद्धृत है- “चोलियों के भीतर उभरी हुई छातियों के ठीक ऊपर से टखनों या घुटनों तक बँके हुए किनारीदार डाईगज्जा ‘फनिक’ (लुंगी) और तिस पर गले से कमर तक लहराती भड़कीली सूती अथवा रेशमी ‘इनफी’ (ओढ़नी) में यह विशेषता खूब मूर्तिमान हो उठी थी।”²

‘मुक्तावती’ उपन्यास पुरुषों की पारंपरिक पोशाक का भी यथार्थ चित्र देता है। स्वतंत्रता से पूर्व मणिपुर में पुरुष सामान्यतः धोती, कुर्ता, चादर और पगड़ी पहनते थे; होली के अवसर पर उनकी वेश-भूषा का रूप विशेष रूप से प्रस्फुटित होता था- “पुरुषों की पोशाक थी स्वच्छ-सफेद धोती, कुर्ता,

¹ सत्यार्थी, देवेंद्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 155-156

² ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 5

चादर और पगड़ी।”¹ ‘मुक्तावती’ में होली के अवसर पर विभिन्न आयु-समूहों के परिधानों में भी सूक्ष्म भेद दर्शित हैं- “बालिकाओं युवतियों की पोशाक अपने स्तर के अनुसार भड़कीली फनिक फुरित् (चोली) और पीली इनफी (ओड़नी) थी, तथा प्रौढ़ाएँ व वृद्धाएँ अधिकतर भगवे रंग की फनिक व सफेद ‘इनफी’ में थी।”² इसके अतिरिक्त मणिपुरी वस्त्रों व आभूषणों के नामों का उल्लेख भी मिलता है, उदाहरणतः ‘पोलोइ’ (घाघरानुमा वस्त्र) तथा ‘तर्जेगलइ’ (झालर लगा मुकुट)। ये नाम और वे वस्त्र सामूहिक पहचान को प्रखर बनाते हैं। लोक वेश-भूषा का वर्णन केवल मणिपुर तक सीमित नहीं है; अनेक अन्य जनजातीय समूहों के परिधानों का भी साहित्य में सजीव चित्रण मिलता है। ‘मुक्तावती’ उपन्यास में आदिवासी पहनावे का एक दृश्यात्मक विवरण मिलता है- “कलंगी सी लगाए, हाथ में दाव लिए चले आ रहे थे। कुछ ऐसे आदिवासी थे जो जंगली जानवरों की खाल लपेटे थे, तो कुछ थे जो केले के खंभे के छिलकों की ही लँगोटी बाँधे थे।”³

‘जहाँ बांस फूलते हैं’ उपन्यास में मिजो महिलाओं के पहनावे का भी यथार्थात्मक वर्णन मिलता है; साथ ही आधुनिकता के प्रभाव से पारंपरिक और विदेशी परिधानों के सम्मिश्रण का भी संकेत उपन्यास में मिलता है- “गाँव के चारों तरफ फैले सारे निर्वृक्ष टीलों पर बयप्राप्त युवतियों का दल कसे नितंब पर हस्त-निर्मित रंगीन मोटे पुआन डाटे, आकार के अनुसार रूप ग्रहण करने वाली विदेशी चोलियों के ऊपर चुस्त ब्लाउज धारे, धोकर कंधी किए स्वस्थ लंबे वालों में विभिन्न किस्म के फूलों व तितलियों सदृश्य तमाम लघु प्राणियों की अनुकृति वाले क्लिप लगाए तथा स्वस्थ स्वाभाविक रंगीन चेहरों को बदरंग करते विदेशी क्रीम पाउडर, लाली, लिपिस्टिक की सुगंधि पोते...”⁴

खासी समाज में भी पुरुष तथा स्त्री दोनों की पारंपरिक वेश-भूषा विस्तृत और प्रतीकात्मक है। ‘रूपतिल्ली की कथा’ में पामसतुंग के राज्याभिषेक के अवसर पर पुरुषों-स्त्रियों की औपचारिक वेश-

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 34

² वही, पृ. 34

³ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 105

⁴ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2011). जहाँ बांस फूलते हैं. पृ. 13

भूषा का सूक्ष्म वर्णन मिलता है। पुरुषों के परिधानों के संबंध में कहा गया है- “पुरुषों ने लाल, नीली और सफेद पट्टियों वाला फोडमोरोड़ पहना और बिना बाँह का खाकी रंग का कोर फोडमारोड़। सिर के बाल पीछे की तरफ गाह कर छोटे से दाव की धार पर रख गोल डंडे से झटके से पीटकर नीचे की तरफ बराबर कर दिए गए। फिर चारों तरफ से उठाकर ललाट के ऊपर जूड़े की शक्ल में बाँध दिया गया उसमें एक लकड़ी की कंधी खोंस दी गई और एक दोनों तरफ छेदवाला सुआ। सुआ के छेदों में पक्षियों के रंगीन पर खोंस दिये गए।”¹ इसी अवसर पर स्त्रियों की वेश-भूषा का भी सूक्ष्म-चित्र प्रस्तुत है- “लड़कियों ने अपने लंबे बालों को एक चोटी में गूँथ ऊनी फूलेना वाले लटकनों से बाँध लिया और सिर से पीठ की ओर लटकने वाले सफेद कपड़े में सलीके से लपेट लिया। औरतों की ही तरह कटि वस्त्र पहना और एक कपड़ा काँखासोती की तरह कंधे पर गाँठ दे, दूसरी तरफ की काँख से नीचे लटका लिया।”² खासी समाज में महिलाओं द्वारा पहने जाने वाले ये वस्त्र उनके दैनिक कार्यों की सुगमता को दर्शाते हैं, जिसे वे घर, बाजार व खेती जैसी कामों को आसानी से कर सके।

‘कामरूपा’ उपन्यास में असमीया साड़ी ‘मेखला’ की चर्चा मिलती है। उपन्यास में एक जगह अमित रानू से जिज्ञासावश पूछता है- “एक बात बताएँगी ? मेखला क्या होती है? कोई अलंकार या वस्त्र ?

क्यों देखा नहीं आपने? उस दिन मैं पहने था-थी।

वह साड़ी ?

नहीं मेखला। दो टुकड़ा होता है, एक पेटीकोट की तरह पहनता और दूसरा सादर होता, जिसे कमर से ऊपर पहनता।

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश.(2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 75

² वही, पृ. 76

मेखला-चादर धारिणी असम-पुत्रियों को सादर नमन।”¹ मेघला असम की एक लोकप्रिय साड़ी है, जिसे असमीया भाषा में ‘मेखला सादर’ कहा जाता है, यह महिलाओं में बहुत ही विशिष्ट माना जाता है। इसके पहनने-ओढ़ने के अपने नियम होते हैं। ‘कामरूपा’ उपने में आग इसका वर्णन मिलता है- “किसी महिला की मेखला का स्पर्श परपुरुष नहीं करता। शाइकीया का कथन सुनते ही अमित को मानो बिजली का करंट लगा। उसके हाथ से वे रेशमी वस्त्र छूट पड़े। शाइकीया ने स्थिति संभालते हुए कहा, “किंतु ये सब पुरानी मान्यताएँ हैं।”²

इस प्रकार वेश-भूषा केवल सजावट या उपयोग का प्रश्न नहीं है; यह सामाजिक भूमिका, वर्ग-प्रतिष्ठा, आयु तथा धार्मिक परंपरा के संकेतक भी है। परिधान, श्रृंगार और वस्त्र-विन्यास समुदाय की आत्म-परिचय-व्यवस्था को संचारित करते हैं और अवसर विशेष पर इसकी अभिव्यक्ति सजीव रूप लेती है। वेश-भूषा पूर्वोत्तर की लोक-संस्कृति का एक ऐसा पहलू है जो दृश्यता के साथ-साथ रीतियों, मान्यताओं और सामुदायिक संबंधों का भी संकेत देती है। पारंपरिक परिधान और उनका आज के परिवर्तित रूप-दोनों ही सामाजिक समन्वय और सांस्कृतिक स्थायित्व के द्योतक हैं।

नृत्य-गीत-

नृत्य और गीत किसी भी संस्कृति के प्राणतत्त्व होते हैं। वे न केवल मनोरंजन के साधन हैं, बल्कि समाज की सामूहिक स्मृतियों, भावनाओं और परंपराओं के संवाहक भी हैं। पूर्वोत्तर भारत का लोक जीवन इन नृत्य-गीतों में निहित आत्मीयता, सौंदर्य और सामूहिकता के कारण विशिष्ट है। यहां के पर्वों, उत्सवों और अनुष्ठानों में नृत्य-गीत लोक-संस्कृति के जीवंत प्रतीक हैं, जिनसे व्यक्ति-मन, प्रकृति और समाज के बीच एक आत्मीय संवाद निर्मित होता है।

मणिपुर का सांस्कृतिक परिदृश्य अपने विशिष्ट नृत्यों और संगीत परंपराओं के लिए प्रसिद्ध है। ‘मुक्तावती’ उपन्यास में थोबल चोडबा नृत्य का सजीव वर्णन मिलता है- ‘मुक्तावती’ में मणिपुर में होने

¹ त्रिपाठी, रमानाथ. (2013). कामरूपा. पृ. 50

² वही, पृ. 105

वाले ‘थौबल चोडबा’ नृत्य का उल्लेख आता है। इसमें अविवाहित युवक-युवतियाँ सम्मिलित होकर वृत्ताकार नृत्य करते हैं- राजमहल का विशाल आँगन ‘थौबल चोडबा’ के उल्लसित चाँचल्य में थिरक उठा था।... राजवंश के तरुण-तरुणियों का समूह, वृत्तबद्ध हो, नृत्य में संलग्न हो चुका था। ‘मुक्तावती’ में उल्लेख है कि राजघराने के ‘थौबल चोडबा’ में राजवंश के अविवाहित युवा-युवती ही शामिल हो सकते हैं- “यह तो सबको मालूम था कि राजबाड़ी के ‘थौबल चोडबा’ में वे ही अविवाहित युवा-युवती शामिल हो सकते हैं, जिनकी नसों में राजवंश का उच्च रक्त बह रहा हो। ‘मुक्तावती’ में मणिपुर की ‘लाइहराउबा’ नृत्य का भी उल्लेख आता है। यह नृत्य चैत, वैशाख, जेठ इन तीनों महीनों में होता है- चैत, वैशाख, जेठ, इन तीन महीनों में सारे गाँव की नर-शक्ति और नारी-शक्ति एक साथ मिलकर ‘लाइहराउबा’ नामक नृत्य में इस सृष्टि की पवित्र गाथा ही तो गाया करती हैं।”¹ यह नृत्य प्रकृति, स्त्री-पुरुष ऊर्जा और सृष्टि की एकता का प्रतीक माना जाता है।

‘मुक्तावती’ में चंद्रावत द्वारा शैलेंद्र को ‘थौबल चोडबा’ शब्द का अर्थ समझाते हुए बताया गया है- “‘थौबल’ माने चाँदनी और ‘चोडबा’ माने उछलना अर्थात् युवा-युवतियों द्वारा सम्मिलित रूप से चाँदनी में उछलने की क्रिया अर्थात् नृत्य।”² यह नाम ही मणिपुरी लोककला की उस सौंदर्य-दृष्टि को व्यक्त करता है जिसमें प्रकृति और मनुष्य का मिलन सृजनात्मक उल्लास के रूप में सामने आता है। मणिपुरी नृत्य भारतीय शास्त्रीय नृत्य-परंपराओं से भिन्न अपनी कोमलता और आंगिक सौंदर्य के लिए जाना जाता है। ‘मुक्तावती’ में चंद्रावत इसका विशेष लक्षण बताते हुए कहता है- “भारत-नाट्यम के ‘कथक नृत्य’ में लय की प्रधानता होती है, ‘कथकली’ में मुद्रा व मुखाभिव्यक्ति की, पर मणिपुरी नृत्यों में प्रत्येक अंग के संचालन का अधिक महत्त्व है। आंगिक अभिनय हमारे नृत्यों की मूल विशेषता है शैलेना।”³ यहां आंगिक अभिनय न केवल सौंदर्य का अंग है, बल्कि भावाभिव्यक्ति का माध्यम भी है- जिससे मणिपुरी नृत्य अपनी कोमलता और लयात्मक गहराई के कारण विशिष्ट पहचान रखता है।

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 61-62

² वही, पृ. 41

³ वही, पृ. 130

उपन्यास में यह भी उल्लेख है कि मणिपुर में अलग-अलग ऋतुओं या महीनों में विशिष्ट नृत्य किए जाते हैं- “मणिपुर में कार्तिक महीने में ‘महारास’ नृत्य, माघ महीने में ‘कुंज-रास’ नृत्य, फाल्गुन महीने में ‘वसंत-रास’ नृत्य, श्रावण में ‘झूलन-यात्रा’ नृत्य, वर्ष के किसी भी महीने में नर्तक-रास, बालकों का उत्कल-रास, फाल्गुन में ‘जगोइ-साबा’ का आयोजित नृत्य, ‘भारत-युद्ध’ का भयानक नृत्य होता है।”¹ इन नृत्यों से स्पष्ट है कि मणिपुर की नृत्य-संस्कृति केवल कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि धार्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक और सामुदायिक जीवन का भी अंग है।

असम का लोक जीवन बिहू से अनुप्राणित है। यह केवल एक पर्व नहीं बल्कि असमीया जीवन की आत्मा है। ‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास में बिहू गीतों का उल्लेख हुआ है- “बिहू मारि थाकिवर, मने ओई लगरी बिहू मारि थाकिवर मन बिहू मारि थाकोते, पुलुबाई निनिवा भरिवो लागिबो धन”² इस गीत का भावार्थ है- बिहू नृत्य करते रहने का मन करता है, नृत्य करते समय प्रियतम मुझे भगाकर मत ले जाना, नहीं तो जुर्माना भरना पड़ेगा। इस गीत में न केवल प्रेम का चंचल भाव है, बल्कि लोक-हास्य और सामाजिक अनुशासन का संकेत भी मिलता है। बिहू नृत्य और गीत असमीया समाज की उल्लास, कृषि, प्रेम और श्रम की संस्कृति को जीवंत करते हैं।

‘आहुति’ उपन्यास में हिंदी भाषी श्रमिक समाज का चित्रण मिलता है जो मणिपुरी संस्कृति के संपर्क में आकर अपने जीवन में भी गीत-संगीत की परंपरा बनाए रखता है। दिन भर के श्रम के बाद वे ढोल और मजीरे के साथ मिलकर चैती या होली गाते हैं। यह सामूहिक श्रम-संस्कृति की सहज कलात्मक अभिव्यक्ति है। ‘आहुति’ उपन्यास में मुख्य पात्र मनोज द्वारा ‘थौबल चंबा’ नृत्य का वर्णन इस प्रकार मिलता है- “इसी अवसर पर उसे ‘थौबल-चम्बा’ नृत्य देखने का अवसर भी मिला। उसे लोगों ने बताया इसका अर्थ होता है, चाँद के साथ नाचना। बस्ती के बीच बड़े से मैदान में नृत्य का वृत्ताकार आंगन बनाया जाता है, चारों ओर से बत्तियाँ जलाई जाती हैं। कई तरह के वाद्य यंत्रों से संगीत के स्वर

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 131

² सत्यार्थी देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 137

का आयोजन होता है। जिस बस्ती मुहल्ले या गाँव में यह आयोजन होता है, वहाँ की सभी अविवाहित लड़कियाँ नृत्य के प्रांगण में अपने सजे-धजे प्रसाधनों के साथ उतरती हैं। थोड़ी ही देर में उसमें लड़के शामिल हो जाते हैं। ये लड़के लड़कियों का हाथ पकड़ कर नाचते हैं। ये लड़के दूसरी बस्तियों के होते हैं, इस गाँव के लड़के किसी दूसरी बस्ती में नृत्य करने जाते हैं। पूरा एक महीना नृत्य का यह उत्सव हर गाँव, बस्ती मुहल्ले में चलता है। नर्तक बड़े गोलाकार में एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर वाद्य की धुन पर थिरकते हुए घूमते जाते हैं। लड़की का हाथ एक लड़का पकड़ता है, फिर दूसरी लड़की और उसका हाथ कोई दूसरा लड़का और उसका हाथ कोई दूसरी लड़की पकड़ती है। बड़ा ही उल्लासमय दृश्य रहता है। बड़े-बूढ़े, बच्चे दर्शक गोलाई में वृत्ताकार प्रांगण को घेरकर बैठे या खड़े रहते हैं। दर्शक नर्तकों और नृत्यांगनाओं का उत्साह बढ़ाते रहते हैं।¹ यह दृश्य केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि सामूहिक मेल-जोल, पारस्परिक स्नेह और सामुदायिक एकता का प्रतीक है।

‘देश भीतर देश’ में असम की चाय जनजाति के झूमूर नृत्य का उल्लेख आता है, जो श्रम और आनंद का संगम है- “अन्यथा मुर्गे की लड़ाई से लेकर झूमूर नृत्य से समाँ बंध जाता था।”² झूमूर नृत्य सामूहिक श्रम के बाद विश्राम और सामाजिक उत्सव का प्रतीक है- यह एक ऐसा अवसर होता है, जब समाज के सभी वर्ग एक साथ आकर अपनी थकान और दुखों को गीत-लय के माध्यम से भुला देते हैं।

इसी तरह ‘मिनाम’ उपन्यास में अरुणाचल की गालो जनजाति के लोकगीतों का उल्लेख है- “आमसो नरोईए”, ‘आने गे आजुमा सिरी रमयो’ और ‘पूमे दादा होई दादी आदी’। ‘आने गे आजुमा सिरी रमयो’³ ये लोकगीत सामूहिक संवेदना, दुःख और मातृत्व के भाव की सजीव व्याख्या करते हैं- जो जनजातीय समाज की भावनात्मक गहराई को प्रकट करते हैं। नृत्य और गीत पूर्वोत्तर भारत के लोक जीवन की आत्मा हैं। ये केवल कलात्मक क्रियाएँ नहीं, बल्कि सामूहिक संवाद के माध्यम हैं, जिनसे व्यक्ति अपने समाज, प्रकृति और पूर्वजों से जुड़ता है। थौबल चोडबा और लाइहराउबा जैसे नृत्य

¹ पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति, पृ. 11

² सौरभ, प्रदीप. (2013). देश भीतर देश. पृ. 112

³ लोयी, मोर्जुम. (2020). मिनाम. पृ. 123

प्रकृति और मनुष्य के सहअस्तित्व का प्रतीक हैं; वहीं बिहू, झूमूर और गालो लोकगीत सामाजिक एकता और श्रम-संवेदना के स्वर हैं।

पौराणिक कथाएँ-

किसी भी प्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर में पौराणिक कथाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। ये केवल धार्मिक आख्यान नहीं, बल्कि उस समाज की ऐतिहासिक स्मृति, सामूहिक आस्था और सांस्कृतिक पहचान का आधार होती हैं। पूर्वोत्तर भारत, विशेष रूप से असम, मणिपुर और अरुणाचल प्रदेश जैसे क्षेत्रों में पौराणिक कथाएँ आज भी लोक-विश्वासों, त्यौहारों और कलात्मक परंपराओं में जीवंत हैं। इन कथाओं के माध्यम से जनजातीय समाज ने अपने सृष्टि-ज्ञान, धार्मिक भाव और लोक-संस्कारों को अभिव्यक्त किया है।

असम की सांस्कृतिक पहचान में पौराणिक आख्यानों की गहरी छाप है। ‘लोहित’ उपन्यास में ‘परशुराम’ की कथा असम की पौराणिक भूगोल से जुड़ी हुई मिलती है। कथा के अनुसार, परशुराम ने अपने पिता की आज्ञा पर अपनी माँ की हत्या कर दी थी और इस कारण उसके हाथ से उसका फरसा चिपक गया था। उसने देश भर की नदियों में स्नान किया, पर पाप से मुक्त न हो सका। अंततः ब्रह्मपुत्र नदी में स्नान करने पर उसका पाप धुल गया- “फरसा इसलिए चिपका था क्योंकि उसने अपनी माँ को मारा था। पाप किया था। फिर भी तुमने (ब्रह्मपुत्र ने) उसे क्षमा कर दिया।”¹ असम के लोकोत्तर भूगोल में ‘परशुराम कुण्ड’ इसी कथा से संबद्ध पवित्र स्थल माना जाता है।

आर्यों के आगमन से पूर्व असम में शैव साधना का गहरा प्रभाव था। यह क्षेत्र ‘कामरूप’ के नाम से भी जाना गया, जिसके पीछे कामदेव और शिव से जुड़ी पौराणिक कथा है। ‘मुक्ति’ उपन्यास में इसका विस्तार से उल्लेख है- “तब यह क्षेत्र शैव-साधना प्रधान ही था। कहते हैं कि कामदेव ने इसी क्षेत्र में रहकर शिव पर पुष्पबाण मारा था। भगवान शिव के मन में उत्पन्न हुए क्षोभ का ज्ञान कर देवता लोग

¹ सभरवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 11

अभी आकाश में चिल्ला ही रहे थे कि हे प्रभु, इस नादान पर अपने क्रोध का संवरण करो, कि तब शिव के तृतीय नेत्र से निकली हुई प्रज्वलित वह्नि ने काम देवता को यही जलाकर राख कर दिया था।”¹ इसी कथा से असम का नाम ‘कामरूप’ पड़ा, जहां शिव के क्रोध और कामदेव के पुनर्जन्म का पौराणिक प्रसंग जुड़ा है। ‘मुक्ति’ में असम के एक अन्य नाम ‘प्रागज्योतिषपुर’ की व्युत्पत्ति का भी उल्लेख मिलता है- “कहा गया है कि सृष्टि के प्रारंभ में ही ब्रह्मा ने यहां रहकर ज्योतिष शास्त्र की रचना की। इसी से इसका नाम प्रागज्योतिषपुर पड़ा।”² यह पौराणिक कथा न केवल स्थान-नाम की उत्पत्ति का संकेत देती है, बल्कि असम के वैदिक और ज्योतिषीय ज्ञान की प्राचीन परंपरा को भी उद्घाटित करती है।

पूर्वोत्तर भारत का अरुणाचल प्रदेश भी पौराणिक आख्यानो का भंडार है। ‘मिनाम’ उपन्यास में इस क्षेत्र की कई लोक कथाओं का उल्लेख मिलता है। लूब राये, होतुम बोगुम, त्रिकाम पेरेबू, आबो तानी-आबो तारो, जागी बोने, आजी कारपु-कारलु नामक कुछ पौराणिक कथाओं का उल्लेख है। इन कथाओं में सृष्टि की उत्पत्ति, देवी-देवताओं की मानव-सहभागिता, प्रकृति की शक्तियों और मानव-जीवन के पारस्परिक संबंधों का चित्रण मिलता है। ये कहानियाँ जनजातीय लोक-संस्कृति की मूल संवेदना को व्यक्त करती हैं- जहां मनुष्य और प्रकृति के बीच कोई विभाजन नहीं है, बल्कि एक निरंतर संवाद है।

वाद्ययंत्र-

किसी भी समाज की सांस्कृतिक पहचान उसके पारंपरिक वाद्ययंत्रों से गहराई से जुड़ी होती है। लोकनृत्य, गीत और उत्सवों में प्रयुक्त वाद्ययंत्र उस समाज के संगीतबोध, कलात्मकता और सांस्कृतिक परिष्कार के द्योतक हैं। पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न समुदायों में प्रयुक्त वाद्ययंत्र उनकी विशिष्ट सांस्कृतिक छवियों को सजीव करते हैं। ‘मुक्तावती’ में मणिपुर की होली और कीर्तन परंपरा के दौरान

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 282

² वही, पृ. 202

उपयोग में आने वाले वाद्ययंत्रों का उल्लेख हुआ है- “और होली-कीर्तन के वाद्य-उपकरण थे झाल, मृदंग, ढोल, डफली आदि।”¹ यह उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि मणिपुर की धार्मिक-सांस्कृतिक परंपराएँ बंगाल और उत्तर भारत की कीर्तन शैली से प्रभावित होते हुए भी अपनी मौलिकता बनाए रखती हैं। यहां वाद्य केवल संगीत के साधन नहीं, बल्कि भक्ति-भावना के संवाहक हैं। अरुणाचल प्रदेश के ‘जंगली फूल’ उपन्यास में एक स्थानीय वाद्ययंत्र ‘तालो’ का उल्लेख मिलता है- “रोबो ने तीन बार ‘तालो’ को बजाकर इस शुभ क्षण की घोषणा की।”² ‘तालो’ संभवतः बाँस या लकड़ी से बना पारंपरिक ताल वाद्य है, जो धार्मिक अवसरों और सामुदायिक सभाओं में शुभ सूचना देने के लिए बजाया जाता है। यह वाद्य सामूहिकता और उत्सव के आरंभ का प्रतीक माना जाता है।

इसी प्रकार ‘रूपतिल्ली की कथा’ में खासी प्रदेश में उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक काल में उपयोग किए जाने वाले वाद्ययंत्रों का सुंदर उल्लेख मिलता है- “तुरही, सिंघा, शंख, नगाड़े।”³ इन वाद्यों से स्पष्ट होता है कि खासी समाज का संगीत और ध्वनि-परंपरा वैदिक तथा जनजातीय दोनों संस्कृतियों का संगम है। तुरही और शंख का प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों में जबकि नागाड़ा युद्ध या उत्सव के समय किया जाता था। पूर्वोत्तर की यह वाद्य-परंपरा उसकी बहुसांस्कृतिक पहचान और लोक-संगीत की गहराई का द्योतक है।

सामासिक संस्कृति-

किसी भी समाज की सांस्कृतिक यात्रा में पारस्परिक संपर्क और सम्मिलन का अत्यंत महत्त्व होता है। यही सम्मिलन सामासिक संस्कृति को जन्म देता है, जो भिन्न परंपराओं, धर्मों और भाषाओं के मेल से एक नई सांस्कृतिक संरचना का निर्माण करती है। मणिपुर इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। यहां मणिपुरी समाज ने बंगाल के वैष्णव धर्म को अपनाया, जिससे दोनों संस्कृतियों का सौंदर्यपूर्ण संगम

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ.50

² नाबाम, जोराम यालाम. (2019). जंगली फूल. पृ. 32

³ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ.67

हुआ। ‘मुक्तावती’ में इस समन्वय का सजीव चित्रण है- “हर बात में जैसे दो विशिष्ट संस्कृतियों का संगम वहाँ दिखाई दे रहा था। प्रथम तो, नर और नारी संस्कृति का, दूसरे, मणिपुरी और गैर-मणिपुरी संस्कृति का। क्योंकि नारियों का परिधान यदि शुद्ध मणिपुरी था, तो पुरुषों का गैर-मणिपुरी। उनके धोती-कुर्ता और चादर के लिबास में बंगाल की संस्कृति मानो स्वयं बोल रही थी।”¹ यह वर्णन न केवल पोशाक की भिन्नता को दिखाता है, बल्कि संस्कृति के सौम्य सम्मिलन को भी रेखांकित करता है। यहां नारी अपनी स्थानीय परंपरा को धारण करती है, जबकि पुरुषों का वस्त्र बंगाली प्रभाव का परिचायक है- यह दृश्य दो संस्कृतियों के पारस्परिक स्वीकार और एकता का प्रतीक है।

इसी प्रकार ‘आहुति’ उपन्यास में वर्णित है कि हिंदी भाषी लोगों के मणिपुर में बसने के बाद उन्होंने मणिपुरी समाज की कई सांस्कृतिक विशेषताएँ आत्मसात कर लीं, किंतु अपनी सांस्कृतिक जड़ों को भी नहीं छोड़ा। मणिपुरी समुदाय हिंदू देवी-देवताओं के साथ-साथ अपने पूर्वजों के परंपरागत देवी-देवताओं की भी पूजा करते हैं- “आज की मणिपुरी संस्कृति इसी संपर्क की उत्पत्ति है, परंपरागत रीति-रिवाजों के साथ हिंदू रीति-रिवाजों का बड़ा ही मनोहारी संगम हुआ। हिंदू हो जाने के बाद भी मणिपुर में न पर्दा प्रथा का चलन हुआ और न असंख्य जातियां ही बनीं।”² यह उद्धरण मणिपुरी समाज की उदार सांस्कृतिक दृष्टि का प्रमाण है। यहां धार्मिक ग्रहणशीलता के बावजूद सामाजिक स्तर पर समानता, स्वतंत्रता और स्त्री-स्वाभिमान के मूल्य अक्षुण्ण रहे। इस प्रकार मणिपुरी संस्कृति का स्वरूप एक सामासिक संस्कृति के रूप में विकसित हुआ, जिसमें स्थानीय परंपरा और बाहरी प्रभाव का संतुलित सम्मिलन है।

‘उस रात की सुबह’ उपन्यास में जब एक पंचायत का आयोजन होता है तो सभी लोग कहते हैं, तब गाँव के विशिष्ट व्यक्ति ताकार आते हैं वे कहते हैं- “जौ हीन! सभा में मौजूद लोगों ने प्रत्युत्तर में जबाव दिया, जौ हीन! दरअसल वे सब ‘जय हिंद’ कहकर आपस में एक दूसरे का अभिनंदन कर रहे थे।

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 52

² पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति. पृ. 21

पता नहीं कब और कहाँ से हमारे यहाँ के लोगों ने इस तरह से एक-दूसरे का अभिनंदन करना सीखा है? पर हमारे यहाँ अरुणाचल प्रदेश के गाँवों में लोग आपस में इसी तरह से एक-दूसरे का अभिनंदन करते हैं। आप सूर, दूर-दराज गाँवों में जहाँ पर सड़कों की कोई सुविधा भी न हो वहाँ पर भी अगर आप पैदल चलकर भी पहुँचेंगे तब भी आपको सुनकर हैरत होगी कि लोग इसी तरह से 'जौ हीन' कहकर आपका स्वागत करेंगे। दरअसल अल्पज्ञता और उच्चारण दोष के कारण ही 'जय हिंद' इन लोगों की जुबान पर 'जौ हीन' बनकर रह गया। पर लोग ऐसे ही शान से इसका प्रयोग करते हैं। वैसे मुझे इसमें इनकी आत्मविश्वास और आपसी प्रेम, सद्भावना और सम्मान ही अधिक आकर्षित करती है और भाषा की शुद्धता और व्याकरण यहाँ पर कोई खास मायने नहीं रखती।”¹ अरुणाचल प्रदेश के सुदूर अंचल में ‘जय हिंद’ के नारे का अभिवादनस्वरूप प्रयुक्त होना एक सुखद आश्चर्य है, हो सकता है कि किसि समय आजाद हिंद फौज की टुकड़ी अरुणाचल से गुजरी हो अथवा स्वतंत्रता संग्राम में शामिल अरुणाचल प्रदेश के क्रांतिकारियों द्वारा यह नारा लोकप्रिय हुआ हो, लेकिन इसके प्रयोग की संदर्भ स्थिति बेहद रोचक व आकर्षक है।

खान-पान-

खान-पान किसी भी समाज की भौगोलिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का मूर्त रूप होता है। पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय समाज में भोजन केवल जीविका नहीं, बल्कि सामाजिकता और सांस्कृतिक पहचान का अभिन्न हिस्सा है। ‘मुक्तावती’ में नागा जनजाति के खान-पान का चित्रण अत्यंत सजीव रूप में मिलता है- “मिट्टी की कड़ाहियों में अलग-अलग पके सुअर, कुत्ते और मुर्गी के मांस अपनी भीनी-भीनी गंध से उनकी रसना को गीला किए जा रहे थे। माछ भी बना था। एक बड़ी हाँडी में रखी ‘जुखा’ (चाबल की शराब) की नशीली गंध उन्हें अपनी ओर खींच रही थी।”² यह वर्णन

¹ लिली, तुंबम रीबा जोमो. (2018). उस रात की सुबह. पृ. 19

² ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 407

नागा समाज के आमिषाहारी जीवन और उनके पारंपरिक पेय 'जुखा' (चावल की शराब) की लोकप्रियता को दर्शाता है।

पूर्वोत्तर की अनेक जनजातियों में घरेलू रूप से शराब बनाना और अतिथियों को उसका आदरपूर्वक परोसना सामान्य परंपरा है। इसके विपरीत असम के वैष्णव सत्रों में श्रीमंत शंकरदेव की परंपरा के अनुयायी निरामिषभोजी और मदिरा-वर्जित जीवन जीते हैं। 'ब्रह्मपुत्र' में कल्याण भगत के माध्यम से यह प्रवृत्ति दिखाई देती है- "भगत जी तो न अंडे को हाथ लगाते हैं, न मांस-मदिरा के समीप जाते हैं।"¹

'सियांग के उस पार' में अरुणाचल प्रदेश की परंपरा के अनुसार अतिथियों के स्वागत में चाय या कॉफी की जगह स्थानीय शराब 'अपोंग' दी जाती है- "फिर उनकी मेहमाननवाजी में दीदी ने दो ग्लासों में अपोंग पेश की।"² इसी उपन्यास में अरुणाचल की निसमी अपने पत्र में लिखती है- "हम लोग उबला हुआ सब्जी खाता है, जो यहां नहीं मिलता।"³ यहां उबली हुई सब्जियों का सेवन स्वास्थ्य और सरलता के प्रतीक के रूप में किया जाता है।

मणिपुर का खान-पान समय और विधि दोनों में अनुशासित है। 'आहुति' उपन्यास में इसका उल्लेख है- "मणिपुर में रात का खाना छह-सात बजे के बीच खाया जाता है। सुबह आठ-नौ बजे दिन का खाना और रात का शाम छः बजे खाते हैं। शहरों में रहने वालों का भी खाने का यही समय है। दफ्तरों में काम करने वाले दिन में चाय वगैरह पीते हैं, अन्यथा दो बार का भोजन यहां के समाज में प्रचलित है। भात, मछली, कई तरह के हरे साग और इसके साथ 'इरोंबा' मणिपुर के खाने में प्रमुख है। 'इरोंबा' एक तरह की चटनी है जो सूखी मछली, मिर्च, टमाटर और कई तरह के मसालों को मिलाकर बनता है।"⁴

¹ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 19

² वर्मा, दयाराम. (2018). सियांग के उस पार. पृ. 64

³ वही, पृ. 148

⁴ पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति. पृ. 31

असम के सिलचर क्षेत्र के लोगों के खान-पान में विविधता दिखाई देती है। 'मुक्ति' उपन्यास में बंगाली, मणिपुरी और भोजपुरी व्यंजनों के सामासिक रूप का चित्र मिलता है- “वहाँ (इंग्लैण्ड में) तो बस ब्रेड-बटर और अंडा, इसके अलावे नाश्ता का कोई आइटम है ही नहीं और हमारे यहां हम बंगालियों की मूड़ी-सूजी चाय तो थी ही, इन मणिपुरी चञ्चड़ी मछलियों ने एक मनमोहक वातावरण ही बना दिया है। साथ ही भोजपुरियों की गरमागरम जलेबी भी मँगाई गई है।”¹ इसी उपन्यास में असमीया व्यंजनों की विशिष्टता का भी उल्लेख है- “नमक की जगह खार (क्षार) का प्रयोग कैसे करते हैं? सडखार और कलखार क्या है? इन्हें तैयार कैसे करते हैं? फिर इनमें क्या-क्या और कैसा कैसा व्यंजन बनाते हैं? शाकभाजी, लौकी, कुम्हड़ा, तैवान जिका, धदुली, उरही, सहजन, लेचेरा को असमीया विधि से कैसे बनाते हैं। चावल से चूड़ा, मूड़ी, सांदहपिठा, पिठागुरी, चावल और नारियल के मिश्रित पकवान, हाँस (बत्तख), पार (कबूतर), काछ (कछुआ) के मांस कैसे बनाते हैं?”²

‘मिनाम’ में अरुणाचली लोगों की खाद्य आदतों का एक रोचक विवरण है- “माँस व मछलियों को चूल्हे के ऊपर सुखाया जाता है और उसे सब्जी में थोड़ा-थोड़ा डाला जाता है।”³ इससे स्पष्ट है कि पूर्वोत्तर के खान-पान में जलवायु, कृषि, धार्मिक मान्यताओं और स्थानीय संसाधनों का गहरा प्रभाव है।

वाद्ययंत्र, खान-पान और सामासिक संस्कृति पूर्वोत्तर भारत के लोकजीवन के वे तत्त्व हैं जो इसे भारत की अन्य संस्कृतियों से भिन्न भी बनाते हैं और उनसे जोड़ते भी हैं। इन लोक रूपों में प्रकृति, परंपरा और मानव-संवेदना का सुंदर सामंजस्य है। यह क्षेत्र बहुलता में एकता का अद्भुत उदाहरण है- जहां विविध धर्म, भोजन, संगीत और परिधान मिलकर एक जीवंत लोक-संस्कृति का निर्माण करते हैं।

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 75

² वही, पृ. 269

³ लोयी, मोर्जुम. (2020). मिनाम. पृ. 33

अन्य संस्कृतियों का प्रभाव-

संस्कृति एक जीवंत प्रक्रिया है, जो समय, परिस्थिति और बाहरी संपर्कों से निरंतर परिवर्तित एवं समृद्ध होती रहती है। पूर्वोत्तर भारत जैसे बहुभाषी और बहुजातीय क्षेत्र में यह परिवर्तन विशेष रूप से दृष्टिगोचर है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के साथ आए ईसाई धर्म, अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी सभ्यता ने यहां के पारंपरिक समाज में गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन किए। मणिपुर सहित पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों में ईसाई मिशनरियों ने शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक सुधार के माध्यम से समाज में प्रवेश किया। इससे जनजातीय समाज के जीवन-मूल्य, धार्मिक आस्थाएँ और सांस्कृतिक आदतें प्रभावित हुईं। इस संदर्भ में 'आहुति' उपन्यास में लिखा गया है- "पहाड़ों पर रहने वाली जनजातियों में तेजी से नई धारा का विकास हुआ है। सदियों से ठहरे हुए जीवन में ईसाई धर्म के प्रभाव ने उन्हें पूर्ण रूप से परिवर्तित कर दिया है। उनमें ईसाई प्रचारकों ने शिक्षा का प्रचार करने के साथ उन्हें पश्चिमी संस्कृति से भी परिचित कराया।...अंग्रेजी सिनेमा, संगीत और नृत्य की लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ी है। इफाल के सबसे पुराने सिनेमा घर में अंग्रेजी फिल्मों में युवक युवतियों की भीड़ जुटी रहती है।"¹ यह उद्धरण स्पष्ट करता है कि पश्चिमी संस्कृति ने शिक्षा और मनोरंजन दोनों स्तरों पर गहरा प्रभाव डाला। अंग्रेजी सिनेमा, पॉप संगीत और आधुनिक नृत्य रूपों की लोकप्रियता ने पारंपरिक लोक-कलाओं की जीवन-शैली में नया आयाम जोड़ा। साथ ही ईसाई धर्म का प्रभाव धार्मिक व्यवहार में भी परिलक्षित हुआ, अनेक जनजातियों ने अपने पारंपरिक देवताओं की पूजा के साथ-साथ ईसाई धार्मिक प्रतीकों को अपनाया। इन परिवर्तनों से पूर्वोत्तर की संस्कृति समन्वयवादी बनकर उभरी जहां परंपरा और आधुनिकता का सम्मिलन देखा जा सकता है।

संस्कृति के प्रतीक-चिह्न-

किसी भी संस्कृति के प्रतीक-चिह्न उसकी सामूहिक पहचान और परंपरा के संवाहक होते हैं। ये वे वस्तुएँ, प्रतीक या संकेत हैं, जो किसी समुदाय की आस्था, आदर और परंपरा का प्रतिनिधित्व करते

¹ पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति. पृ. 37

हैं। असम की संस्कृति में शराइ, गमछा और पान-तांबूल ऐसे ही सांस्कृतिक प्रतीक हैं, जो असमीया समाज की अतिथि-सत्कार, शालीनता और सामाजिक संबंधों के प्रतीक बन चुके हैं। ‘लोहित’ उपन्यास में पान-तांबूल की सांस्कृतिक भूमिका का उल्लेख इस प्रकार मिलता है- “इसके बिना मेहमाननवाजी, कोई भी उत्सव या विवाह आदि अधूरे हैं। भगवान को भी अर्पित किया जाता है और यह आदरसूचक है। बहुत ही शिष्टता और शालीनता से हर घर में मेहमानों को और अपने से बड़ों को पेश किया जाता है। सो यह आदर का प्रतीक हुआ।”¹ यह उद्धरण दर्शाता है कि असम में पान-तांबूल केवल स्वाद या परंपरा की वस्तु नहीं, बल्कि सांस्कृतिक सम्मान और धार्मिक श्रद्धा का प्रतीक है। देवता को अर्पण से लेकर अतिथि-सत्कार तक, यह सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के सभी प्रसंगों में उपस्थित रहता है। इसी प्रकार, असम का ‘शराइ’ या ‘खोराई’ (धातु से बना पात्र) धार्मिक, सामाजिक और पारिवारिक आयोजनों का अनिवार्य अंग है। ‘लोहित’ में इसका उल्लेख मिलता है- “जोराई धातु का बना ऐसा बर्तन है, जिसका प्रयोग नामघर में भी होता है और साधारण और विशिष्ट घरों में भी समान रूप से होता है। पूजा आदि में भी इसका प्रयोग होता है। उसमें अतिथि को तामुल पान दिया जाता है, उनके स्वागत के समय भी और उन्हें धन्यवाद कहने के लिए भी। किसी भी रीति-रिवाज को मानते समय इसे अवश्य रखा जाता है।”² यह विवरण असमीया समाज में शराइ की बहु-स्तरीय उपयोगिता को उजागर करता है- यह धार्मिक भक्ति, सामाजिक व्यवहार और सांस्कृतिक परंपरा तीनों का संगम है। ‘गमछा’ भी असमीया पहचान का विशिष्ट प्रतीक है- यह केवल वस्त्र नहीं, बल्कि आदर, परिश्रम और अस्मिता का प्रतीक है। किसी सम्मान समारोह, अतिथि-सत्कार या धार्मिक आयोजन में गमछे का प्रयोग सांस्कृतिक एकता का भाव उत्पन्न करता है।

‘देश भीतर देश’ उपन्यास में एक जगह असमीया संस्कृति में अभिवादनस्वरूप गमछा के प्रयोग का वर्णन मिलता है, जहाँ विनय एक होटल में ठहरता है और वहाँ काम करने वाले एक अधेड़

¹ सभरवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 206

² वही, पृ. 207

उम्र के व्यक्ति और उसकी पत्नी ने विनय की खूब सेवा की। “वह जब चलने लगा तो उसने अंधेड़ व्यक्ति को सौ-सौ के दो नोट निकाल कर देने की कोशिश की। लेकिन पूरी विनम्रता के साथ उसने हाथ जोड़ कर उन्हें लेने से मना कर दिया। उल्टे उसे अपने हथकरों से बना एक असमिया गमछा, जिसमें लाल रंग की दोनों तरफ कढ़ाई होती है, उसे सम्मान स्वरूप भेंट किया। असमिया लोगों को किसी का सम्मान करना होता है तो वह झापी (बाँस की टोपी, जिसे चाय बागान में धूप से बचने के लिए मजदूर लगाते हैं) और गमछा भेंट में देते हैं। यह उनके तरफ से दिया जाने वाला सर्वोच्च सम्मान जैसा होता है।”¹ यह प्रसंग दर्शाता है कि असमीया समाज में अतिथि का सम्मान-सत्कार कितना महत्वपूर्ण है। असमिया संस्कृति में जो गमछा असमीया लोग स्वयं के लिए प्रयोग करते हैं उसे किसी और को भेंट करना समर्पण एवं अपनत्वबोध का प्रतीक है।

पारिवारिक मूल्य और सामाजिक उत्तरदायित्व-

परिवार किसी भी समाज की मूल इकाई होता है। यह वह आधारभूत संस्था है, जिसके ऊपर संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था टिकी होती है। परिवार न केवल जैविक या आर्थिक इकाई है, बल्कि सांस्कृतिक मूल्यों, परंपराओं और सामाजिक उत्तरदायित्वों का भी संवाहक होता है। कई परिवार मिलकर एक गाँव बनाते हैं, और कई गाँव मिलकर एक समाज का निर्माण करते हैं। इस प्रकार परिवार सामाजिक संरचना की जड़ में स्थित एक महत्वपूर्ण घटक है। जनजातीय समाजों में परिवार को विशेष महत्व प्राप्त है। यहां सामाजिक संबंध सामूहिकता पर आधारित होते हैं, और परिवार के प्रत्येक सदस्य से अपेक्षा की जाती है कि वह समाज द्वारा निर्धारित मानदंडों का पालन करे।

जनजातीय जीवन में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की तुलना में सामूहिक अनुशासन को अधिक महत्व दिया जाता है। समाज द्वारा बनाए गए नियमों के उल्लंघन पर दंड का प्रावधान होना यह दर्शाता है कि सामाजिक नैतिकता यहां एक सुदृढ़ व्यवस्था के रूप में कार्य करती है। काल-परिवर्तन के साथ-साथ पारिवारिक मूल्यों में परिवर्तन स्वाभाविक है। आधुनिकता, शिक्षा, और बाहरी समाजों के संपर्क ने

¹ सौरभ, प्रदीप. (2013). देश भीतर देश. पृ. 58

जनजातीय मूल्यों में भी उल्लेखनीय परिवर्तन लाया है। जो मूल्य कभी दैनिक जीवन का हिस्सा थे, वे अब धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे हैं। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में कुछ पुराने नियम अप्रासंगिक हो गए, जबकि कुछ नए मूल्य परिवार और समाज की आवश्यकताओं के अनुसार विकसित हुए हैं। हालाँकि ये मूल्य सामूहिक रूप से सामाजिक कहलाते हैं, किंतु उनका केंद्र परिवार होता है- अतः वे पारिवारिक मूल्य की श्रेणी में आते हैं। जनजातीय समाजों के पारिवारिक मूल्य शेष समाज से भिन्न होते हैं। इसी भिन्नता के कारण तथाकथित सभ्य समाज ने कई बार इन्हें ‘असभ्य’ कहकर कमतर आँका। दरअसल, यह अंतर समझ और संवाद की कमी के कारण उत्पन्न हुआ है। जनजातीय परिवार की सामाजिकता और उत्तरदायित्व का स्वरूप आधुनिक समाज की परिभाषाओं से अलग है, किंतु वह अपने भीतर गहरी मानवीय संवेदना और सामुदायिक अनुशासन को समाहित किए हुए है।

‘नागा’ शब्द स्वयं में एक सामूहिक पहचान है, जो कई उप-जनजातियों- ‘कोनयाक’, ‘आओ’, ‘लोथा’, ‘फोम’, ‘रेगमा’, ‘सेमा’, ‘चांग’, ‘संगतग’, ‘चाखे-सांग’, ‘अंगामी’ आदि- को समाहित करता है। इन सभी जनजातियों में परिवार, विवाह और सामाजिक उत्तरदायित्व से जुड़े विशिष्ट मूल्य पाए जाते हैं। नागा समाज में विवाह केवल दो व्यक्तियों का बंधन नहीं, बल्कि वंश और जनजाति की वृद्धि का प्रतीक है, इसलिए विवाह को सामाजिक कर्तव्य के रूप में देखा जाता है। विवाह-संस्कृति नागा समाज के पारिवारिक और सामाजिक मूल्य को प्रत्यक्ष करती है। यहां विवाह के समय वधू-मूल्य चुकाने की प्रथा प्रचलित है। वधू-मूल्य का निर्धारण परिवार की आर्थिक स्थिति और सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार किया जाता है। हालाँकि, कुछ जनजातियों में यह प्रथा नहीं पाई जाती, जैसा कि टी. रतन के अनुसार- “उनमें वधू मूल्य का प्रचलन नहीं है जैसा कि कुछ अन्य जनजातियों में प्रचलित है।”¹ वधू-मूल्य की यह परंपरा आर्थिक लेन-देन से अधिक सामाजिक सम्मान का प्रतीक मानी जाती है। जहां वधू-मूल्य नहीं दिया जाता, वहाँ विवाह-विच्छेद की प्रक्रिया अपेक्षाकृत सरल होती है, जिससे परिवारों में आपसी विवाद न्यून रहता है।

¹ परमार, वीरेंद्र. (2018). नागालैंड. पृ. 45

नागालैंड की प्रमुख जनजाति अंगामी में विवाह-संस्कार सरल है। यहां विवाह के समय निश्चित वधू-मूल्य नहीं होता, किंतु परंपरानुसार पिता अपनी सामर्थ्य के अनुसार उपहार देता है। सेमा जनजाति में वधू-मूल्य अपेक्षाकृत अधिक होता है, जिसके कारण विवाह-विच्छेद दुर्लभ है। यहां विधवा विवाह भी मान्य है, जो पारिवारिक दायित्व की निरंतरता को सुनिश्चित करता है। लोथा और जेलियांग नागा में वधू-मूल्य के रूप में भूमि, मिथुन (पवित्र पशु), धन या आभूषण दिए जाते हैं। विवाह-संस्कार में पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों का गहरा संबंध दिखाई देता है। पुरुष को अपनी पत्नी की छोटी बहन से विवाह करने की अनुमति है, जिससे परिवार की सामाजिक संरचना बनी रहती है। विवाह-विच्छेद की स्थिति में महिला को वधू-मूल्य वापस करना पड़ता है, किंतु केवल तब जब वह स्वयं अलग होना चाहे। यह नियम स्त्री की स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व दोनों का संकेत है।

जनजातियों में सामूहिक अनुशासन सामाजिक जीवन की प्रमुख विशेषता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार, वंश और जनजाति के प्रति उत्तरदायी माना जाता है। खेमनुगानस नागा में बहुपत्नी प्रथा विद्यमान है, जहां पुरुष पाँच या छह पत्नियाँ रख सकता है। यह व्यवस्था आर्थिक सामर्थ्य और सामाजिक प्रतिष्ठा से जुड़ी होती है। यहां अपहरण विवाह की परंपरा भी मिलती है, जो अब विलुप्तप्राय है। इसी प्रकार कोनयाक नागा समुदाय में चीफ (मुखिया) की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। चीफ के बेटे या बेटी का विवाह दूसरे चीफ के बेटे-बेटी से ही होता है। यह प्रथा सामाजिक-राजनीतिक एकता और सत्ता-संतुलन को बनाए रखने का माध्यम रही है।

पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय समाजों में पारिवारिक और सामाजिक मूल्य समय के साथ बदलते रहे हैं। ईसाई धर्म के आगमन ने विवाह और पारिवारिक संरचना को प्रभावित किया है। अब अनेक जनजातियाँ ईसाई रीति से विवाह करने लगी हैं, जिससे पारंपरिक प्रथाओं का क्षरण हुआ है। ईसाई धर्म ग्रहण करने के कारण पुराने मूल्यों और परंपराओं का हास हुआ है। ईसाई धर्म स्वीकार करने वाले परिवारों में अब ईसाई रीति-रिवाज से विवाह होता है। हालाँकि इन परिवर्तनों के बावजूद, जनजातीय समाजों में पारिवारिक एकता, सहयोग, और सामाजिक उत्तरदायित्व के मूल्य अब भी

गहराई से विद्यमान हैं। सामूहिक श्रम, पारिवारिक निष्ठा और समाज के प्रति जिम्मेदारी की भावना इन जनजातियों की सांस्कृतिक पहचान का मूल है।

पूर्वोत्तर की खासी और गारो जनजातियाँ मातृवंशीय परंपरा के लिए प्रसिद्ध हैं। इन समाजों में वंशक्रम पिता की बजाय माता की ओर से चलता है। परिवार की वंशज धारा महिलाओं से जुड़ी होती है और संपत्ति की उत्तराधिकारी भी स्त्री ही होती है। “खासी जनजाति मातृवंशात्मक है। वंशक्रम माँ की ओर से गिना जाता है। लड़के-लड़की अपनी पसंद के अनुरूप स्वेच्छा से विवाह करते हैं। लेकिन अपने ही वंश में विवाह करने की मनाही है। विवाह के पश्चात् पति अपनी पत्नी के घर जाकर रहता है। यह व्यवस्था अद्वितीय है। लड़का लड़की के घर रहने लगता है, लेकिन अपने माँ के परिवार में मामा के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। विवाह के पश्चात् दांपत्य जीवन में कलह उत्पन्न होने या किन्हीं अन्य कारणों से अलग होना चाहें, तो आसानी से अलग हो सकते हैं। इस समाज में वधू-मूल्य या वर-मूल्य की कोई अवधारणा नहीं है। विवाह का प्रस्ताव लड़के की ओर से जाता है। गारो जनजाति में विवाह का प्रस्ताव लड़की रखती है। विवाह के पश्चात् लड़का विदा होकर लड़की के घर चला जाता है। खासी जनजाति की ही तरह गारो भी मातृवंशीय है। विवाह में वधू या वर-मूल्य का प्रचलन नहीं है।”¹ यहां विवाह के पश्चात् पति अपनी पत्नी के घर में रहना प्रारंभ करता है, किंतु अपने माँ के परिवार में ‘मामा’ के रूप में उसकी सामाजिक भूमिका बनी रहती है। यह विशेषता खासी समाज को अन्य पितृवंशीय समाजों से भिन्न बनाती है।

अरुणाचल प्रदेश में जितनी जनजातियाँ हैं, लगभग उतनी ही भाषाएँ और बोलियाँ भी प्रचलित हैं। यहां की प्रमुख जनजातियों- आदी, अका, आपातानी, खाम्सी, सिंग्फो, ईदू, मोनपा, शेरदुकपेन आदि की विवाह पद्धतियाँ भिन्न होते हुए भी सामूहिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व पर आधारित हैं। आदी जनजाति में विवाह पूर्व मुशुप (लड़कों का युवागृह) और राशेंग (लड़कियों का युवागृह) जैसी संस्थाएँ हैं, जो युवाओं के सामाजिक और सांस्कृतिक शिक्षण केंद्र हैं। आदी जनजाति में लड़के और

¹ गुप्ता, रमणिका. (2012). पूर्वोत्तर का आदिवासी स्वर, पृ. 40

लड़कियों के लिए क्रमशः मुशुप और राशेंग नामक युवागृह होते हैं। आने-जाने के क्रम में लड़के-लड़कियों का एक दूसरे से प्रेम हो जाता था। इसके बाद घर वालों के बीच विवाह के संबंध में बातचीत होती थी। बात बन जाने पर परंपरानुसार उनका विवाह कर दिया जाता था। इन युवागृहों में नैतिकता, सामाजिक व्यवहार और भविष्य के पारिवारिक जीवन से जुड़े मूल्य सिखाए जाते थे- जो अब धीरे-धीरे आधुनिक शिक्षा प्रणाली के प्रभाव से विलुप्त हो रहे हैं।

अका जनजाति में विवाह की दो प्रमुख विधाएँ पाई जाती हैं- बातचीत के माध्यम से विवाह और अपहरण विवाह। हालाँकि आज अपहरण विवाह प्रथा लगभग समाप्त हो चुकी है। गाँव के पुजारी के द्वारा सौभाग्य सूचक बलि देकर यह देखा जाता था कि दांपत्य जीवन आनंदमय रहेगा या नहीं... यदि लड़की के घर वाले इस प्रस्ताव से और दिये जाने वाले वधू-मूल्य से संतुष्ट हो जाते तो विवाह के आगे की प्रक्रिया बढ़ायी जाती थी। यहां विवाह केवल पारिवारिक नहीं, बल्कि सामाजिक उत्सव के रूप में मनाया जाता था। इसी प्रकार आपातानी जनजाति में एक-विवाह का प्रचलन है, किंतु सामाजिक आवश्यकता या संतानहीनता की स्थिति में बहुपत्नी विवाह भी स्वीकार्य है। बातचीत के माध्यम से हो रहे विवाह में मुर्गे की बलि देकर उसके यकृत को देखकर शकुन का निर्धारण किया जाता है। लड़की की तरफ से भी शकुन की प्रक्रिया दोहरायी जाती है। यहां भी शुभ शकुन रहा तो बातचीत को आगे बढ़ाया जाता है। आपातानी समाज में विवाह केवल प्रेम या परिवार का मामला नहीं, बल्कि शुभ-अशुभ शकुनों के माध्यम से दैवी निर्णय माना जाता है।

अरुणाचल प्रदेश की अधिकांश जनजातियों में पहले वधू-मूल्य का चलन था, परंतु ईसाई धर्म के प्रसार के साथ यह प्रथा लगभग समाप्त हो गई। अधिकांश जनजातियों में वधू-मूल्य का प्रचलन है। लेकिन ईसाई धर्म के ग्रहण और प्रभाव के कारण वधू-मूल्य लगभग समाप्त हो गया है। साथ ही विवाह की प्रक्रिया में भी ईसाई प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा है। अब विवाह चर्च में या उसके प्रभाव में संपन्न होने लगे हैं, और स्थानीय रीति-रिवाज केवल प्रतीकात्मक रूप में निभाए जाते हैं।

पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय समाजों में विवाह और परिवार केवल व्यक्तिगत विषय नहीं, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक उत्तरदायित्व का प्रतीक हैं। खासी और गारो की मातृवंशीय व्यवस्था, अरुणाचल की युवागृह परंपरा, बोडो की सांकेतिक विवाह-रीतियाँ, और जमातिया की सामाजिक मर्यादाएं- ये सभी मिलकर इस क्षेत्र की विशिष्ट लोक-संस्कृति का निर्माण करती हैं। आधुनिकता और ईसाई धर्म के प्रभाव से भले कुछ परंपराएँ रूपांतरित हुई हों, परंतु इन समाजों की पारिवारिकता, परस्पर सहयोग और सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना आज भी सशक्त रूप में विद्यमान है।

अध्याय: 5

सांस्कृतिक अस्मिताबोध और पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यास

5.1 लोक में प्रकृति और वैज्ञानिकता

5.2 धर्म, दर्शन एवं लोकविश्वास

5.3 संस्कृति संरक्षण और अस्मिताबोध

5.4 सामूहिकता और साहचर्य का समष्टिबोध

5.1 लोक में प्रकृति और वैज्ञानिकता

लोक-संस्कृति में प्रकृति केवल भौतिक परिवेश नहीं, बल्कि जीवन-दृष्टि का मूल आधार है। लोक-जीवन का प्रत्येक पक्ष कृषि, पर्व-त्यौहार, लोकगीत, लोक कथाएँ और अनुष्ठान प्रकृति के साथ गहरे तादात्म्य में विकसित हुई है। वर्षा, ऋतु-चक्र, नदी, पर्वत, वन और पशु लोक मानस में देवत्व, संरक्षण और संतुलन के प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित हैं। लोक गीतों में वर्षा की प्रतीक्षा, फसल की खुशी और प्रकृति की करुणा का भाव सहज रूप से व्यक्त होता है। लोक कथाओं में वृक्ष, पशु और नदियाँ मानवीय संवेदनाओं से युक्त पात्र बनकर नैतिक मूल्यों का संप्रेषण करती हैं। इसी प्रकार, पर्व-त्यौहार प्रकृति के चक्र के अनुसार मनाए जाते हैं, जिससे सामुदायिक एकता और पर्यावरणीय चेतना सुदृढ़ होती है। लोक-संस्कृति में प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण केवल आस्था-आधारित नहीं, बल्कि गहरे वैज्ञानिक अनुभवों से निर्मित है। लोक-जीवन में ऋतु-चक्र, मौसम परिवर्तन, कृषि-पद्धतियाँ और वन-उपयोग प्रकृति के सूक्ष्म अवलोकन पर आधारित हैं। बीज-बोने का समय, वर्षा का अनुमान, पशु-पक्षियों के व्यवहार से मौसम की पहचान जैसे लोक-ज्ञान वैज्ञानिक तर्क से जुड़े हैं। औषधीय वनस्पतियों का प्रयोग लोक चिकित्सा की वैज्ञानिक समझ को दर्शाता है। लोकाचार में प्रकृति के साथ संतुलन बनाए रखने के नियम पर्यावरण संरक्षण की वैज्ञानिक चेतना को प्रतिबिंबित करते हैं। लोक-दृष्टि में प्रकृति का दोहन नहीं, बल्कि सह-अस्तित्व का सिद्धांत प्रमुख है। इस प्रकार ‘लोक में प्रकृति’ मानव और पर्यावरण के संतुलित संबंध की जीवंत अभिव्यक्ति है।

प्रकृति एवं लोक दृष्टि-

लोक जीवन में प्रकृति केवल एक बाह्य उपादान नहीं है, बल्कि वह अपने स्वरूप से मनुष्य के भीतर के मनोभावों, संवेदनाओं और स्मृतियों को उद्दीप्त करते हैं। मनुष्य की जीवन चेतना का प्रत्यक्ष संबंध प्रकृति से है, जिसके सहसंबंध के बिना उसका जीवन-यापन संभव नहीं। जोराम यालाम नाबाम ‘जंगली फूल’ उपन्यास में इस सहसंबंध को स्पष्ट रूप से उल्लेखित करती हैं- “हवा हौले-हौले बह रही

है। आसमान साफ़ नहीं है आज। लगता है बूँदा-बाँदी होगी। इस बरामदे से यह पहाड़ बहुत अच्छा लगता है। मज़बूत पत्थरों से बने इस विशाल भवन का वह बड़ा-सा आँगन यहाँ से अच्छी तरह दिखता है, जहाँ बच्चे खेलते रहते हैं। यहीं पर खड़े होकर उसे देखना और फिर कहीं खयालों में खो जाना बेहद अच्छा लगता है। भवन और पहाड़ के बीच एक नदी बहती रहती है। कभी-कभी नदी की आवाज तेज हो जाती है तो कभी शांत। उसके साथ उसका भी मन उठता-गिरता रहता है। नदी और भवन के बीच दूर तक फैले धान के खेत। फसलों के मौसम में जब हरा-हरा धान समुद्र-सा लहराने लगता है, तब खुशी के गीत भी जन्मने लगते हैं। फसलों में पीलापन जब बढ़ने लगता है, तब मीठी-सी वेदना वाली पीड़ा मौसम के साथ घुलने लगती है। किसान कितने खुश हो जाते हैं उस वक्त। फसलों का मरना उनका जीना होता है। जीवन के उत्तरार्द्ध में उसकी उम्र में भी जब पीलापन उतरने लगेगा, तब क्या आनंद भी उतरता जाएगा? यही प्रश्न ही एक वेदना-सी उत्पन्न क्यों करता है। जो भी है... धान की ये फसल सिमांग को बहुत-बहुत अच्छी लगती है। आज भी खेतों में लोग पकी फसलों की कटाई में जुटे हुए थे।¹

प्रस्तुत अंश प्रकृति, लोक-जीवन और मानवीय मनःस्थिति के गहरे अंतर्संबंध की संवेदनशील अभिव्यक्ति है। धान के खेत लोक-जीवन की आधारभूत आर्थिक संरचना और सामूहिक चेतना को उद्घाटित करते हैं। फसलों का मरना ही किसान का जीवन है, जैसे दार्शनिक तथ्य मनुष्य एवं प्रकृति के सह-अस्तित्व और पारिस्थितिकी तंत्र के संतुलन को उद्घाटित करते हैं, जहाँ एक ओर प्रकृति का उदार व परोपकारी रूप है वहीं दूसरी ओर प्रकृति का विनाशकारी चरित्र है। 'मुक्ति' उपन्यास में वर्णित पात्र प्रो. मेधी मिज़ोरम और लुशाई हिल्स का वर्णन करते हुए बताते हैं- "इस इलाके की एक और विशेषता है, जिसे ये लाभ माउताम कहते हैं। इसे कछार सिलचर जिले के लोग भी जानते हैं। यह माउताम इस क्षेत्र में प्रायः 50-50 वर्ष के अंतर से आता है। तब जंगल के सारे बाँस फूल जाते हैं। फिर सूख जाते हैं, तब ऐसी अनावृष्टि होती है, अकाल और चूहों के प्रकोप का ऐसा विनाशकारी कुप्रभाव हो जाता है। चारों ओर भुखमरी हो जाती है। ऐसी प्राकृतिक आपदा की बेला में ईसाई मिशनरियों ने अपनी

¹ नाबाम, जोराम यालाम. (2019). जंगली फूल. पृ. 58

सीमातीत सहायता से इन्हें काल कवलित हो ऐसी प्राकृतिक आपदा की जाने से बचा-बचाकर इन पर और भी प्रभाव डाला है। अब स्वतंत्र भारत के लोगों को भी चाहिए कि वे इस इलाके की जनजातियों के निकट संपर्क में आएँ। इनकी आफ़त-विपत में सहायक हों, इनसे ऐसा घनिष्ठ नाता जोड़ें कि लगे ही नहीं कि ये हमसे अलग हैं, तभी इनका और हमारा निकट संबंध स्थापित हो सकता है।”¹ प्रकृति की ऐसी विनाशलीला सूखा और अकाल जैसी भयावह समस्याओं को जन्म देती है, जिससे मानव-जीवन का अस्तित्व संकट में पड़ जाता है। यह प्रसंग प्रकृति के विविध रूपों में छिपे दार्शनिक सत्य को भी दर्शाता है कि जो जीवन देता है वो जीवन समाप्त करने की भी शक्ति रखता है।

बाँस के फूलने और अकाल जैसी समस्या का चित्रण श्रीप्रकाश मिश्र के उपन्यास ‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ में प्रभावी ढंग से मिलता है- “मिजोरम में जनश्रुति है कि हर पचास साल की आवृत्ति पर वहाँ के बाँस फूलते हैं। उनके बीजों को खाकर चूहे बहुत बच्चे पैदा करते हैं, जो फसल खा जाते हैं और मिजोरम में अकाल पड़ जाता है। ऐसा ही अकाल 1958 में पड़ा था, जिसके परिणामस्वरूप 1966 का विद्रोह हुआ।”² स्थानीय भाषा में इस अकाल को ‘थिडटम’ या ‘माउटम’ भी कहते हैं। यह प्रकरण इस बात को दर्शाता है कि प्रकृति से प्राप्त अन्न को प्रकृति के ही कोप का सामना करना पड़ता है। लेखक आगे लिखते हैं- “लगातार फसल की तबाही और विपदा की लंबी रातों के बाद मिजोरम की जनता निरीह हो गई थी। अन्न की भीषण कमी के कारण लुशाई हिल्स के मात्र दो गाँवनुमा कस्बों तडलेई और आइजोल में भीड़ बढ़ गई थी। ये कस्बे लोफरों और भिखारियों से भरे पड़े थे, जो चर्च तथा सरकार द्वारा चलाए जा रहे सदाव्रत से एक मुट्ठी भात और एक प्याला उबले सरसों के पानी की तलाश में इधर-से-उधर घूम रहे थे। आइजोल में तो आलम यह था कि भुख्खड़ों की जमात पुलिस के तमाम नियंत्रण के बावजूद विद्रोह पर आमादा हो जाया करती थी। और एक दिन तो एक बंगाली जमाखोर को, जो चीजों के और मूल्य बढ़ने की लालच में आटा, चावल बेचना बंद कर दिया था, उसकी दुकान से

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 369-370

² मिश्र, श्रीप्रकाश. (2011). जहाँ बाँस फूलते हैं. पृ. 68

घसीट गले में रस्सी बाँध सामने के पेड़ में लटका दिया गया।”¹ यह उद्धरण दर्शाता है कि भूख की चरम पीड़ा सामाजिक व्यवस्थाओं को तोड़ देती है, यह पीड़ा इतनी क्रूर होती है कि मनुष्य-मनुष्य को मारने के लिए उतारू हो जाता है। वस्तुतः जो प्रवृत्ति मनुष्य को जिंदा रखती है, वह उसके मृत्यु का कारण भी बन जाती है।

लोक जीवन में प्रकृति की सहचरता के साथ ही मानव विकास की संकल्पना है। समस्त लोकाचार व लोक सिद्धांत प्रकृति सम्मत ही होते हैं। लोक संस्कृति में पेड़-पौधे, नदी-पर्वत, चाँद-सूरज, धरती-आकाश आदि सभी को माता-पिता तुल्य व पूजनीय माना जाता है। देवेंद्र सत्यार्थी ने अपने ‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास में इस लोक मान्यता का उदाहरण एक नाविक पात्र के माध्यम से प्रस्तुत किया है- “जय ब्रह्मपुत्र! जय जल देवता! शक्ति तुम्हारी, नाव हमारी। जलपथ, विशाले, धरती धानवती। हमारा नमस्कार स्वीकार करो, देवता ! अपना वरदहस्त बढ़ाओ। तुम क्या हो और क्या नहीं हो, यह सोचते हमारी आयु बीत जाती है। आशा की नाव चले युग-युग। तुम हमारे साथ हो। हम अकेले तो नहीं। जो भी गाँव तुम्हारे किनारे बसा, उस पर तुम्हें बार-बार क्रोध आया। उसे बार-बार पीछे हटना पड़ा। वह बार-बार आबाद हुआ, बार-बार बरबाद हुआ। ऐसा ही गाँव है हमारे असम का यह दिसाँगमुख। अहोम राजाओं की पुरानी राजधानी शिवसागर यहाँ से तेरह मील है। देखिए न, यहाँ दिसाँग नदी ब्रह्मपुत्र में मिलती है, पर यहाँ हमारे आँसू भी मिलते हैं ब्रह्मपुत्र में। ऊपर से पानी का तूफ़ान, नीचे से आँसुओं का तूफ़ान! ब्रह्मपुत्र हमारी माटी काटकर ले जाता है तो हम कुछ बोल भी तो नहीं सकते। किसी प्रकार ब्रह्मपुत्र का क्रोध शांत हो जाए, इसका कुछ उपाय हम अवश्य करते हैं। ब्रह्मपुत्र पर कितनी बार हमने नारियल चढ़ाए, कितनी बार दूध की मटकियाँ भर-भरकर ब्रह्मपुत्र की भेंट कीं। इस पर भी ब्रह्मपुत्र की अपनी इच्छा है; वह हम पर खुश रहे चाहे नाराज। ब्रह्मपुत्र बहुत दयावान् भी है और बहुत क्रोधी भी। नित-नित इसके किनारे टूटते हैं। एक किनारे से दूसरा किनारा नजर नहीं आता। बीच-बीच में रेत और माटी के द्वीप भी बनते-मिटते रहते हैं। छोटे द्वीप को ‘सापरी’ कहते हैं, बड़े को ‘माझुली’। माझुली तो बस

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2011). जहाँ बाँस फूलते हैं. पृ. 129

एक ही है। सापरियों की तो यह अवस्था है कि आज हैं, कल नहीं हैं, क्योंकि बनाने-बिगाड़ने के खेल पर ही खुश रहता है ब्रह्मपुत्र। एक ओर से माटी काटता है ब्रह्मपुत्र, दूसरी ओर या बीच-बीच में सापरियों के रूप में नई माटी को जन्म देता रहता है।”¹ उपर्युक्त अंश में मनुष्य प्रकृति के समक्ष अपनी क्षुद्रता स्वीकार करते हुए प्रार्थना करता है। ‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास के पात्र नदी पर बाँध बनाने की बात नहीं करते, तटीय भूमि अधिग्रहण की बात नहीं करते, वे तो केवल नदी के साथ अपने सह-अस्तित्व की बात करते हैं।

‘उस रात की सुबह’ उपन्यास में लेखिका तुम्बम रीबा जोमो ‘लिली’ एक ग्रामीण परिवेश का वर्णन करते हुए लिखती हैं- “शहर की आपा-धापी भरी जिंदगी से दूर सुगम्य पहाड़ियों पर, प्रकृति की सुंदरतम छटा बिखराती प्राकृतिक सुषमाओं के तले, हरियाली घाटियों में बसी एक सुंदर सा गाँव दोलू रिन्गो। चारों तरफ बर्फ से ढकी ऊँची-ऊँची पर्वत मालाओं से घिरी और पास ही कल-कल करती बहती हुई कामेंग नदी की धारा, अपने स्वच्छ, शुद्ध चाँदी सी शीतल जलधाराओं से नवजीवन का संचार करती हुई सदियों से बहती चली आ रही है। प्रकृति ने जैसे सारे जहाँ की तमाम खूबसूरती यहीं पर बिखेरकर रख दी हो। सुबह की सुनहरी ऊषा में नहाई हुई हो या सांझ की गोधूली की सुनहरी आभा में इंद्रधनुषी छटा बिखराती रूप, यह गाँव अपने सभी रूप में मानो एक अद्वितीय सुंदरी है, जो अपनी हर अदा में बेजोड़ है, अनुपम और अलौकिक है।”² यह परिवेश ग्रामीण जीवन की प्रकृति को चित्रित करता है, जहाँ कुदरत अपने वास्तविक स्वरूप में विद्यमान है, शहर के प्रदूषित व तंगहाल जीवन से दूर प्रकृति नवजीवन का संचार करती है। शहरों की आपूर्ति की सभी चीजें गांवों से ही जाती है, इसीलिए शहरी लोक अपनी भाग-दौड़ भरी जिंदगी से निकलकर सुकून की तलाश में गांवों की तरफ ही जाता है।

प्रकृति का नैसर्गिक रूप अद्वितीय है, पूर्वोत्तर भारत के राज्य इस संदर्भ में बेहद समृद्ध हैं, यहाँ कदम-कदम पर प्रकृति की नवीन व अनुपम संरचना के दर्शन होते हैं। ‘जहाँ बाँस फूलते हैं’

¹ सत्यार्थी, देवेंद्र. (1956). ब्रह्मपुत्र. पृ. 24

² लिली, तुम्बम रीबा जोमो. (2018). उस रात की सुबह. पृ. 10

उपन्यास में मिजोरम का प्राकृतिक सौंदर्य दृष्टव्य है- “मिजोरम की प्रकृति में बरसात के बाद की इस सुनहरी हरितिमा से बढ़कर, जो पूरे अंचल को हजार-हजार रंगों से ढँके थी, और कोई सुंदर चीज न थी। कहीं किसी कलंगीधारी सरपत से लिपटी कोई करमी तेज गुलाबी और गहरे कत्थई फूलों के साथ काँप रही थी, तो कहीं झबरा राड़ा अपनी सूफ भुआड़ी के साथ रसे रस डोल रहा था। कुश के लंबे प्रांतर में कहीं-कहीं अपने हरे पत्तों से उठकर बुढ़िया का लावा तीखी गंध फेंक रहा था, तो कहीं बनमकोय पर बार-बार चोंच मारता पतरेंगा उड़ रहा था। अपनी पतली गर्दन ताने बटेर कीड़ों की तलाश में पाँत से विचर रहे थे। हवा के दाब से लचक गई घास की सरसराहट से बिदक कर वे कभी-कभी फुदक भी जाते थे। ऊपर नीलकंठ व जटाधारी टर्-टाँव करते किसी ऐसी शाख की तलाश में उड़ रहे थे, जो उनका बोझ संभाल शरण दे सके। किसी अदृश्य ताल से कि किसी अदृष्ट नदी से बत्तखों का क्रेड-क्राड सुनाई दे रहा था। दूर छिटकी जई की तनेन पकी बाली माहौल में एक और रंग घोलती इस गुंजान प्रकृति की जैसे अकेले आनंद ले रही थी।”¹ प्रस्तुत अंश में लेखक ने प्रकृति का चित्रण मानव ज्ञानेंद्रियों के आधार पर किया है, जिससे प्रकृति की हरियाली, फूलों के रंग, पशु-पक्षी के कलरव का दृश्य, ध्वनि, गंध, गति आदि का सुंदर चित्रण किया है, ऐसे अंशों को पढ़कर ही पाठकमन में मिजोरम की वादियों को देखने की आतुरता पैदा होती है और वह पर्यटन हेतु प्रवास पर निकल पड़ता है।

‘मुक्तावती’ उपन्यास में चंद्रावत और शैलेन्द्र लोकताक सरोवर घूमने जाते हैं, तो उन्हें प्रकृति क सुरम्य नजर दिखता है और विभिन्न प्राणी समुदाय के दर्शन होते हैं- “इसी क्षण लंबी गरदन वाले सफेद-काले चितकबरे रंग के पक्षियों का एक विशिष्ट झुंड उन दोनों के सिर पर से सवेग उड़ता हुआ सरोवर के एक तैरते द्वीप की ओर जा बढ़ा। दोनों का ध्यान सहसा भंग हुआ। शैलेन्द्र ने कहा- कितने सुन्दर हैं ये पक्षी! मानसरोवर के उन भदे हंसों से सौ गुने सुन्दर! चन्द्रावत ने जवाब दिया- ये भी हंस ही हैं शैलेन! ‘काडा’ जाति के हंस! लोकताक में अनेक जाति के हंस हैं, राजहंस भी है! सूखे मौसम में सरोवर की लबाई लगभग आठ मील रह जाती है और चौड़ाई करीब छह मील! किंतु अभी वर्षा ऋतु में

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2011). जहाँ बाँस फूलते हैं. पृ. 18

यह उत्तर से दक्षिण तक लगभग अठारह मील लंबा बन चला है, और पश्चिम से पूर्व तक लगभग बारह मील चौड़ा ! अतः इस विस्तार के कारण अभी सभी जातियों के पक्षियों को इस स्थान से तुम नहीं देख सकते, लेकिन लोकताक जिस प्रकार विभिन्न जाति की मछलियों का संग्रहालय है, उसी प्रकार विभिन्न जाति के पक्षियों का भी! मइतुडा, थुइतिडनम्, ताओथरा, तिडी, युमडानु, थरुइचाबी, उफोड आदि सोलह जातियों की छोटी-बड़ी विभिन्न आकार, विभिन्न रंग और आकृति की 'बतखें' तुम्हें लोकताक में ही दिखाई देगी! काले, नीले, सफेद, लाल और पीले रंग की अलग-अलग अथवा सम्मिलित कूचियों से प्रकृति ने इन्हें रंग कर जैसे लोकताक के वरुण-देव को शानदार उपहार भेंट किया हो! फिर एक तरफ तर्जनी का संकेत करते हुए -और वह देखो उस तरफ! वह चक्रवाक का जोड़ा है जो रात पड़ते ही एक दूसरे से बिछुड़ जाता है! और वह देखो, कबूतर के आकार की, पर तनिक लंबी गरदन वाली सफेद रंग की 'उरोक' नामक चिड़ियों के उड़ते हुए झुंड को! और उस तरफ लंबी-लंबी गरदनों वाले 'वाइनू' (सारस) जाति के पक्षियों को भी देखो! और मछलियों के शिकार में तत्पर बगुलों और टिटिहरियों के समुदायों को भी देखो! खूब ध्यान से देखने पर जल-मुर्गे भी अपने झुंड के साथ कहीं जल-विहार में उल्लसित दिखाई देंगे! प्राणिशास्त्र के पाश्चात्य विद्वानों ने मुर्गे मुर्गियों के प्रथम उत्पत्ति स्थल को अनुमानतः बर्मा की 'चिंदविन' नदी की ऊपरी उपत्यका को बताया है, किंतु मणिपुरी लोक-गाथा के अनुसार मुर्गे मुर्गियों का प्रथम जन्म स्थान होने का गौरव भी इसी लोकताक सरोवर के 'थाड' नामक गाँव को प्राप्त है! और मानसरोवर में तुम्हें कमलों के अस्तित्व का कोई चिह्न भी नहीं दिखाई दिया, किंतु लोकताक को 'एक सौ आठ दल' वाले कमल पुष्पों को उत्पन्न करते रहने का सुगौरव भी प्राप्त है! यदि हो सका तो कभी तुम्हें दिखाऊँगा भी! इसके अतिरिक्त हम इस 'लोकताक' को 'माता' कह कर भी पुकारते और पूजते हैं, गंगा माता की तरह! क्योंकि लोकताक हमें जीवन देता है! हमारे प्राणों को सुरक्षित रखता है! परिपुष्ट करता है!"¹ लोकताक या लोकटाक झील भारत की अनोखी मीठे पानी की झील है और इसी में दुनिया का एकमात्र तैरता हुआ 'केयबुल लामजाओ राष्ट्रीय उद्यान' है, जो

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 482-483

अपनी जैव-विविधता एवं लुप्तप्राय सांगई हिरण के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ यह देखना आश्चर्यजनक है कि मणिपुरी लोककथाओं में मुर्गे-मुर्गियों के जन्म संबंधी कहानियाँ प्रचलित हैं तथा लोकताक सरोवर को वहाँ माता का दर्जा दिया जाता है।

अरुणाचल प्रदेश के जीवन पर केंद्रित उपन्यास 'सियांग के उस पार' में प्रकृति में मौजूद विभिन्न प्रकार के पेड़-पौधों की चर्चा की गई है, जिनसे जनजातीय समुदाय के लोग दैनिक जीवन की सामग्री जुटाते हैं। उपन्यास में एक प्रसंग आता है, जहाँ बिक्रम और निसमी दोनों निसमी के गाँव जाते हैं, तो रास्ते में एक पेड़ के पत्ते से चाय बनाने के बारे में वर्णन है- “एक जगह एक पेड़ के पास निसमी रुक गई और उसकी कुछ पत्तियाँ तोड़ कर बिक्रम को दिखाते हुए बताया। ये सा-लुदिन-भ्या है और गरम पानी में चाय पत्ती की जगह दालकर चाय बनाया जा सकता है। आज जंगल में सूखा लकरी नहीं है, नहीं तो तुमको चाय बनाकर पिला देता। बिक्रम ने पत्तियों को हाथ में लिया और मसलकर नाक से सूँघा। पत्तियों में एक विशेष प्रकार की अच्छी खुशबू आ रही थी। तुम्हें कैसे पता कि इससे चाय बन सकता है? जिज्ञासावश बिक्रम ने पूछ लिया।...बहुत-बहुत पहले एक बार 'लामा लोर्ड ग्यात्सो,' अपना शिष्य का साथ जब पहारों में जा रहा था तो एक जगह रुककर चाय का लिए पानी गरम करने लगा। फिर देखा कि उनके पास चाय का पत्ती खत्म हो गया। अब चाय कैसा बनेगा? तभी आकाश से एक जुह पक्षी ने किसी पेड़ का पत्तियाँ नीचे उनका गरम पानी में गिरा दिया और आकाश से आवाज़ आया सा-लुदिन-भ्या। जब उस पानी को लामा लोर्ड अपना शिष्य का साथ पिया तो उसका स्वाद चाय जैसा था।”¹ उक्त कथन में निसमी अपनी अरुणाचली हिंदी में बिक्रम को एक प्रकार की चाय की खोज और उससे संबंधित दंतकथा सुनती है, यह दर्शाता है कि लोक जीवन में कैसे सीमित संसाधनों में भी लोग कैसे आनंदित रहते हैं और अपने किस्से-कहानियों में भी प्रकृति का विशेष स्थान रखते हैं।

पूर्वोत्तर भारत पर लिखें प्रायः सभी उपन्यासों में संबद्ध प्रदेश के प्राकृतिक सुषमा का चित्रण मिलता है, जिसमें प्रकृति के सृजन और विनाश दोनों गुणों की चर्चा है। यद्यपि आधुनिकता एवं विकास

¹ वर्मा, दयाराम. (2018). सियांग के उस पार. पृ. 199-200

की अंधी दौड़ में यहाँ के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन हुआ है फिर भी जनजातीय समाज की लोक संस्कृति प्रकृति-पूजक होने के कारण यहाँ प्रकृति काफी हद तक संरक्षित है। शहरी परिवेश जैसे गुवाहाटी जैसे शहर के जीवन पर लिखे ‘देश भीतर देश’ उपन्यास में लेखक की यह चिंता “माजोली द्वीप ब्रह्मपुत्र नदी के बीचो-बीच गुवाहाटी से थोड़ी दूरी पर है। दुनिया के धरोहरों की संयुक्त राष्ट्र संघ की सूची में ये नदी द्वीप भी शामिल है। लेकिन नदी के कटाव के चलते दिन प्रतिदिन यह सिकुड़ता जा रहा है और अगली शताब्दी तक हो सकता है कि इसका अस्तित्व ही न खत्म हो जाए।”¹ भी अपने आप में विचारणीय है। उपन्यास में आगे प्रकृति-विधान पर बात करते हुए प्रदीप सौरभ लिखते हैं कि, “काजीरंगा अभ्यारण्य दुनिया में एक सींग के गैंडों के लिए जाना जाता है। यह अपनी विशिष्टता के चलते दुनिया का अकेला ऐसा संरक्षित क्षेत्र है, जहाँ एक सींग के गैंडों के अलावा एशियाटिक जंगली भैंसे, एशियाई हाथी, स्वांपर हिरन, और रायल बंगाल टाइगर बड़ी संख्या में हैं। हाथी कार्बी पहाड़ियों से लेकर काजीरंगा तक आते-जाते हैं। इनके परंपरागत गलियारे हैं। इन गलियारों में इनसानों द्वारा कब्जा किए जाने के कारण अब ये हाथी खेतों और बस्तियों में घुस कर खूब ऊधम मचाते हैं। बाढ़ आने पर कई बार विचित्र दृश्य यहाँ दिखते हैं। भाईचारे की ऐसी मिसाल तो इनसानों के बीच में भी नहीं मिलती है, जब ये पशु संकट में होते हैं। बाढ़ से बचने के लिए एक ही साथ एक टीले पर टाइगर, हिरन, खरगोश और मोर आदि आश्रय लेते हैं। तब कोई हिंसा इनके बीच नहीं होती है।”² वन्यजीवों में सह-अस्तित्व और पारिस्थितिक संतुलन की ऐसी भावना वास्तव में मनुष्यों के लिए भी अनुकरणीय है।

पूर्वोत्तर भारत प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध क्षेत्र है, जहाँ वन, नदियाँ, पर्वत और जैव-विविधता जीवन का आधार हैं, परंतु आधुनिक विकास, खनन, वनों की कटाई, बाँध निर्माण और अनियंत्रित शहरीकरण के कारण प्राकृतिक दोहन बढ़ता जा रहा है। झूम खेती का असंतुलित रूप, सड़क और औद्योगिक परियोजनाएँ पारिस्थितिक संतुलन को प्रभावित कर रही हैं। इससे भूमि क्षरण, जैव-

¹ सौरभ, प्रदीप. (2012). देश भीतर देश. पृ. 19

² वही, पृ. 112-113

विविधता का हास और जल-स्रोतों का संकट उत्पन्न हुआ है। लोक-संस्कृति में प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की परंपरा रही है, किंतु बाजारवादी दृष्टि ने इस संतुलन को कमजोर किया है। अतः पूर्वोत्तर भारत में सतत पोषणीय विकास और पारंपरिक पर्यावरणीय ज्ञान के संरक्षण की आवश्यकता है। उपरोक्त उद्धरणों स्पष्ट होता है कि प्रकृति केवल सौंदर्य का विषय नहीं, बल्कि मानवीय संवेदनाओं, स्मृतियों और दार्शनिक चिंतन को आकार देने वाली शक्ति है। पूर्वोत्तर भारत के उपन्यासों में प्रकृति का उदार, जीवनदायी रूप जहाँ आशा, श्रम और सामूहिकता को जन्म देता है, वहीं उसका विनाशकारी स्वरूप अकाल, भूख और सामाजिक विघटन की त्रासदी भी उजागर करता है। लोक-दृष्टि प्रकृति से संघर्ष नहीं, बल्कि सह-अस्तित्व और संतुलन की भावना को महत्त्व देती है। इस प्रकार यह अंश मानव और पर्यावरण के पारस्परिक संबंध, निर्भरता और उत्तरदायित्व को रेखांकित करता है।

लोक जीवन में वैज्ञानिकता-

पूर्वोत्तर भारत, विशेषकर जनजातीय समुदायों के लोग अपने दैनिक व्यवहार की आवश्यक वस्तुओं के लिए प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर निर्भर होते हैं। वन-संपदा में प्राप्त पेड़-पौधे, लकड़ी-पत्ते, फल-फूल, मिट्टी-पानी आदि की उन्हें गूढ़ जानकारी होती है, अतः स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से वे नगरीय लोगों की तुलना में दीर्घ व निरोग जीवन जीते हैं। लोक जीवन में कुछ क्षेत्रों में अंधविश्वास का उदाहरण देखने को मिलता है, मसलन भूत-प्रेत, जादू-टोना जैसी चीजें। किंतु, ये सारे आचार-व्यवहार पूरी तरह तर्कहीन नहीं होते, उनमें वैज्ञानिकता का पुट भी शामिल होता है, जो उनकी जीवन-शैली को सुचारू रूप से संचालित करता है। 'प्रेमवल्लरी' उपन्यास में दीपेश अरुणाचल प्रदेश के गांवों एवं शहरों में ओझा के पास जाकर उपचार कराने जैसे सुझावों से जिज्ञासु होकर एक ओझा के पास जाता है। ओझा के विषय में उसके दिमाग में छवि थी, ओझा बिल्कुल उससे विपरीत था। वह एक साधारण कामकाजी व पारिवारिक आदमी था, अपने ज्ञान एवं कार्य पद्धति के बारे में पूछने पर वह बताता है कि, "हमारी और आपकी सोच दूर तक नहीं मिल सकती। पर आप थोड़ा ध्यान से देखेंगे तो पाएँगे कि हम लोग

विज्ञान से थोड़ा आगे ही हैं। बस कुछ कमी है तो वह है आपके भौतिक संसाधनों की, हम तो अभी तक प्राकृतिक ही हैं।" ओझा थोड़ा जटिल होने लगा था।

दीपेश ओझा की बात सुनकर चौकन्ना हो गया। "विज्ञान से थोड़ा आगे" कृपया इसे खोलकर समझाएँ।"

ओझा मुसकराया, अवश्य, पर पहले आप मेरे कुछ प्रश्नों का उत्तर दीजिए। मेरे प्रश्न हैं कि सिंधु घाटी सभ्यता, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि में नगर विन्यास, महलों की तकनीकी और शिल्पकला की खोज किसने की थी? पशु-पक्षी एवं अन्य जीवों को पालन योग्य बनाने का कार्य किसने किया? अंतरिक्ष अस्त्र-शस्त्र, चिकित्सा, शल्यचिकित्सा, प्रकृति के तत्त्वज्ञानी कौन लोग हैं? आप लोग आज भी बहुत-सी बातों को विज्ञान से परे स्वीकार करते हैं। जो ज्ञान-विज्ञान से परे है, उसे शायद आप लोग 'पराविज्ञान' कहते हैं।¹ यहाँ ओझा के मार्फत लोक जीवन की ऐसी विशिष्ट ज्ञान पद्धति की चर्चा है जिसे पराविज्ञान या पैरासाइकॉलजी कहते हैं, जिसमें उन मानसिक या अनुभवात्मक घटनाओं का शोध किया जाता है, जिन्हें परंपरागत या स्थापित विज्ञान अभी पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर पाया है। इसमें मानव चेतना, मन और अनुभव से जुड़ी ऐसी क्षमताओं या घटनाओं का विश्लेषण किया जाता है, जो सामान्य इंद्रिय-ज्ञान या भौतिक नियमों से परे मानी जाती हैं। ऐसी विद्या ईश्वरीय प्रदत्त होती है, सामान्यतः प्रकृति के निकटस्थ जीव ही इस विद्या में निपुण होते हैं। वस्तुतः लोक जीवन में कुछ ऐसे तर्काधार हैं, जो विज्ञानसम्मत नहीं हैं, किंतु विज्ञान भी इन्हें महत्वपूर्ण स्थान देता है।

ग्रामीण जीवन में लोग कम ही बीमार पड़ते हैं, ज्यादातर लोग छोटी-मोटी बीमारियों का उपचार स्वयं ही कर लेते हैं, क्योंकि उन्हें जड़ी-बूटियों से औषधि बनाने की कला आती है। मोर्जुम लोयी के उपन्यास 'मिनाम' में इसका उदाहरण देखने को मिलता है- "प्रकृति के सम्पर्क में रहने के कारण कई इलाज तो जड़ी-बूटियों से करते हैं, कटने से जब खून बहता है तो, ई रेगो, जाम्रिल जैसी पत्तियों को पीसकर लगाया जाता, जिससे खून निकलना बंद हो जाता है, घाव जल्द भर जाता है। पेट

¹ मलिक, राजकुमार. (2019). प्रेमवल्लरी. पृ. 52

चलने पर अमरूद की कोंपलों का रस बनाकर पीते हैं, एपतार (एक प्रकार की बदबूदार लता) को पीसकर उसे भी पिलाने पर यह ठीक हो जाता है। तालिक नामक पेड़ की छोटी-छोटी टहनियों को काटकर दातुन बनाते हैं, उसके पत्तों को पिसने पर जो झाग निकलता है, उससे शरीर, कपड़े और बालों को धोया जाता है। तालिक की ही तरह दिका कासे अर्थात् दिका पेड़ के फलों को पीसकर उसके झाग से नहाते हैं, यह तालिक की तुलना में बालों को काले, घने और लंबे बनाती है, ऐसा माना जाता है।¹ लोक जीवन में ऐसे उपचार करने की विधियाँ बखूबी प्रचलित हैं। शहरों में प्राकृतिक संसाधनों तथा उनके औषधीय ज्ञान की कमी के कारण लोगों को डॉक्टर और कृत्रिम दवाइयों पर निर्भर रहना पड़ता है, जबकि गांवों में ये सब नैसर्गिक रूप में मिल जाते हैं और पेड़-पौधों के गुणकारी ज्ञान होने के कारण लोगों का इसका सही उपयोग करना भी आता है।

इस प्रकार ‘प्रेमवल्लरी’ उपन्यास में भी ऐसा एक प्रसंग दिखता है- “अभी गिरा यहीं सीढ़ियों पर टखने पर चोट आई है, थोड़ा बहुत दर्द भी है। हड्डी के विशेषज्ञ को खबर कर दी गई है। वह बस आता ही होगा, तब तक तुम चाहो तो पीले फूलों का प्राथमिक उपचार देने के लिए एकदम स्वतंत्र हो। मैं तो सोच रहा था कि तुम्हारे हाथों में पीले फूल होंगे। दीपेश ने दिल्लगी की। अभी लाई कहकर ओई उलटे पाँव वापस लौट गई। फूलों का रस लाकर हलके हाथों से टखने पर लगी चोट पर मल दिया। दीपेश को लगा जैसे दर्द को दवा चूस रही है।”²

उपरोक्त उद्धरणों के अनुसार ध्यातव्य है कि लोक संस्कृति के अवयवों में प्रकृति अनायास ही नहीं, बल्कि वैज्ञानिक तौर पर अत्यंत महनीय भूमिका रखती है, जिससे जुड़ी लोक विद्या वैज्ञानिक एवं तार्किक है, क्योंकि लोक विज्ञान दीर्घकालीन अनुभव, सांस्कृतिक मान्यताओं तथा प्रकृति के सूक्ष्म अवलोकन पर आधारित होता है, अतः आवश्यक है कि इस लोक विज्ञान को संरक्षित कर व्यवहार में लाया जाए तथा प्रकृति के साथ-साथ लोक विद्या का भी संरक्षण किया जाए।

¹ लोयी, मोर्जुम. (2020). मिनाम. पृ. 33

² मलिक, राजकुमार. (2019). प्रेमवल्लरी. पृ. 83

5.2 धर्म, दर्शन और लोकविश्वास

धर्म, दर्शन और लोक विश्वास मानव सभ्यता की बौद्धिक एवं सांस्कृतिक संरचना के तीन सघन आधार स्तंभ हैं। धर्म, आस्था और नैतिकता के माध्यम से जीवन को अर्थ प्रदान करता है, जबकि दर्शन तर्क, विवेक और प्रश्नाकुल चेतना के सहारे सत्य की खोज करता है। लोक विश्वास इन दोनों के बीच सेतु का कार्य करते हुए जनसामान्य के अनुभव, परंपरा और सामूहिक स्मृति से जन्म लेता है। लोकविश्वासों में देवी-देवताओं, प्रकृति, आत्मा और अलौकिक शक्तियों की कल्पनाएँ निहित होती हैं, जो जीवन की अनिश्चितताओं को समझने और संतुलित करने का साधन बनती हैं। दर्शन जहाँ अमूर्त विचारों को वैचारिक ढाँचे में प्रस्तुत करता है, वहीं लोक विश्वास उन्हें सरल प्रतीकों, कथाओं और अनुष्ठानों के रूप में जनजीवन में उतार देता है। इस प्रकार धर्म मूल्य बोध का, दर्शन चिंतन का और लोक विश्वास व्यावहारिक जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। तीनों का समन्वय समाज को बौद्धिक गहराई, सांस्कृतिक निरंतरता और सामूहिक पहचान प्रदान करता है। धर्म वह आचरण या वृत्ति है, जिसके माध्यम से व्यक्ति तथा समाज दोनों की रक्षा और उन्नति संभव हो सके, साथ ही परलोक का कल्याण भी सुनिश्चित हो।

धार्मिक स्वरूप-

पूर्वोत्तर भारत विविध समुदायों का संगम-प्रदेश है, जहाँ प्रत्येक समाज अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताओं और परंपराओं के अनुसार आराधना करता है। मणिपुरी समाज का एक बड़ा वर्ग राधा-कृष्ण को अपना इष्ट देव मानता है। 'मुक्तावती' में चंद्रावत की राधाकृष्ण-भक्ति का वर्णन मिलता है "फिर हाथ पैर धोकर अपने कमरे के एक कोने में बड़े आदर और पवित्रता से काठ की छोटी मेज पर रखे, फ्रेम-जड़े 'राधा-कृष्ण' के चित्र के सामने वह, हाथ जोड़े खड़ा हो गया। प्रार्थना की। आरती उतारी।"¹ उपन्यास में आगे शिव और पार्वती की उपासना का सुंदर चित्रण मिलता है, जहाँ युवक-

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ.11

युवतियाँ मनोवांछित जीवन-साथी की कामना करते हैं- “कुंवारी कन्याएं और कुंवारे युवक भगवान शंकर और जगदंबा पार्वती के दरबार में उपस्थित हो सुंदर-सुंदर वरों और सुंदर पत्नियों की मानसिक याचना करते हैं। वर-कन्या के माता-पिता भी पुत्र-पुत्रियों के लिए यही काम करते हैं।”¹ यह मणिपुर में व्याप्त हिंदू-धर्म की रीति-नीति को स्पष्ट करता है, जहाँ लोग शैव तथा वैष्णव दोनों मार्गों के अनुयायी हैं।

असम के नीलाचल पर्वत पर स्थित कामाख्या मंदिर देवी सती के शक्तिपीठों में से एक है, जिसकी उत्पत्ति के संबंध के एक पौराणिक कथा प्रचलित है, जिसका वर्णन ‘मुक्ति’ उपन्यास में दृष्टव्य है- “देवी-भागवत और कालिका-पुराण में कहा गया है कि पिता दक्ष के यज्ञ-कुंड में जलकर देवी सती ने जो आत्मदाह कर लिया था, तो उनेक शव को कंधे पर लिए-लिए भगवान शिव जो विक्षिप्त हो पृथ्वी-मंडल पर भ्रमण करने लगे, तो भगवान विष्णु के चक्र से खंडित हो सती देह के टुकड़े जहाँ-जहाँ गिरे, वहीं पवित्र क्षेत्र और सिद्धि पीठ बन गए। कामरूप के इस कामगिरि पर सती का योनि-मंडल गिरा था, जिससे यह क्षेत्र परश्रेष्ठ सिद्ध कामाख्या क्षेत्र बन गया- ‘कामरूपे कामगिरौ न्यपत योनि मंडलम्। तत्रैव न्यपतद्भूमौ पर्वते नाभिमंडलम्॥’² यह मंदिर शाक्तमार्गी उपासकों का प्रमुख केंद्र हैं तथा भारतवर्ष का एकलौता ऐसा मंदिर है जहाँ स्त्री-योनि की पूजा की जाती है। प्रतिवर्ष यहाँ प्रसिद्ध अंबुबाजी मेला लगता है, जिसमें लाखों भक्त तथा तंत्र-साधक शामिल होते हैं।

असम के नीलाचल पर्वत पर ही शिव द्वारा कामदेव को भस्म करने की कथा मिलती है, जहाँ देवताओं के अनुरोध पर शिव ने कामदेव को पुनर्जीवन दिया और देवी सती के साथ इसी पर्वत पर विराजमान हुए। “क्रोधं प्रभो संहर-संहरेति यावद्विगरे खे मरुतां चरति। तावत् स वहनिः हर नेत्र जन्मा, भस्मावभूतं मदनं चकार॥ अतः यह क्षेत्र आरंभ में भगवान शिव या भगवान ‘हर’ का ही क्षेत्र रहा है। इस बात का प्रमाण आप लोगों को अभी आज भी मिल जाएगा। नीलाचल की इसी पहाड़ी पर पूरब

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 55

² दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 283

की ओर कामेश्वर मंदिर इसी घटना का साक्षी है। कामेश्वर मंदिर के थोड़ा और पूरब सिद्धेश्वर नाम का दूसरा शिव मंदिर है। उत्तर दिशा की ओर ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे की ओर कोटिलिंग नामक शिव मंदिर है। ऊपर के भैरवी मंदिर के भीतर अघोर भैरव शिव का मंदिर है तथा कामाख्या मंदिर के पश्चिम की ओर की निचली घाटी में अमृतेश्वर शिव का मंदिर आप देखेंगे। इस तरह इस नीलाचल पर ही भगवान हर या शिव के पाँच अति प्रसिद्ध मंदिर हैं।¹ सती के साथ शिव का मंदिर शिव-शक्ति के रूप में जीवन की सृजनशीलता का प्रतीक है।

असम में जहाँ एक ओर शैव उपासक हैं तो वहीं दूसरी ओर वैष्णव भक्ति के सर्वगुणाकार श्रीमंत शंकरदेव के भी उपासक हैं। असम के वैष्णव आंदोलन के जनक महापुरुष शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव ने प्रदेश के विभिन्न भागों में सत्रों की स्थापना की। ये सत्र असमीया वैष्णव धर्म के प्रमुख तीर्थस्थल हैं। विशेष रूप से माजुली द्वीप वैष्णव संस्कृति का केंद्र माना जाता है। ‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास में इसका उल्लेख है- “माजुली में तो चार सत्र थे। इतने बड़े धार्मिक स्थान और कहाँ थे- गड़ामूर, आउनियाटी, कमलाबाड़ी और दक्षिणपाटा। वैष्णव महापुरुष शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव ने ये इसलिए स्थापित किए थे कि वे लोग, जो दूर-दूर के तीर्थों की यात्रा न कर सके, इनमें से किसी एक सत्र में बैठकर हरि के निराकार रूप की उपासना करें।”² इस प्रकार असम के तीर्थस्थल केवल पूजा के केंद्र नहीं, बल्कि धार्मिक एकता, लोक विश्वास और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के भी प्रतीक हैं। शंकरदेव के अनुयायी ‘नामघर’ में उपासना करते हैं। नामघर में किसी प्रकार की मूर्ति-पूजा नहीं होती, केवल आध्यामिक ध्यान-चिंतन होता है। ‘कामरूपा’ उपन्यास में इसका उल्लेख मिलता है- “हम तो महापुरुषीया हैं, शंकरदेव के अनुयायी। हम देवी और मूर्ति को नहीं मानते।”³

असम में हिंदू के अतिरिक्त अन्य धर्मावलंबी भी बहुतायत हैं। ‘जय आई असम’ में हाजो का प्रसंग आता है- “हाजो, जिसे मुसलमान ‘पोवा मक्का’ (चौथाई मक्का) कहते हैं, यहीं हिंदुओं का

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 282

² सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 14

³ त्रिपाठी, रमानाथ. (2013). कामरूपा. पृ. 144

'हायग्रीव माधव मन्दिर' है जहाँ भगवान् विष्णु विराजमान हैं, जिसे बौद्ध जन 'महामुनि' मंदिर कहकर पूजा उपासना करते हैं। तीन धर्मों का महान संगम।"¹ हाजो इस्लाम, हिंदू एवं बौद्ध धर्म का सांस्कृतिक मिलन स्थल है, प्रतिवर्ष यहाँ सैकड़ों श्रद्धालु आते हैं। 'पोवा मक्का' में सूफी संत गयासुद्दीन औलिया का मकबरा है और ऐसी मान्यता है कि इस मस्जिद के निर्माण में मक्का की मिट्टी का इस्तेमाल हुआ था तथा यहाँ जाने से मक्का के हज का एक चौथाई पुण्य मिलता है, इसीलिए इसका नाम 'पोवा मक्का'(चौथाई मक्का) है। हायग्रीव मंदिर विष्णु देवता का मंदिर है एवं 'महामुनि' मंदिर बौद्ध-तीर्थ है। एक ही जगह में तीन धर्मों के उपासना-स्थल पूर्वोत्तर भारत की धार्मिक-सांस्कृतिक विविधता का परिचायक है।

अन्य धर्मों का प्रचार-प्रसार-

मणिपुरी समाज प्रारंभ में शैव मत का अनुयायी था, बाद में रामानंदी वैष्णव और तत्पश्चात् गौड़ीय वैष्णव धर्म से प्रभावित हुआ। 'मुक्तावती' में चंद्रावत का कथन इस ऐतिहासिक परिवर्तन को दर्शाता है- "सदियों पहले सारा मणिपुरी समाज शैव था। शिवोपासना ही मुख्य धर्म था हमारा। किंतु लगभग दो सौ वर्ष पूर्व राजा 'पामहेइबा' के शासन काल में यहाँ रामानंदी वैष्णव धर्म को संरक्षण और प्रोत्साहन मिला। सारा समाज रामोपासना के रंग में रंग गया। और उसके बाद राजा 'भाग्यचंद्र' के समय में यहाँ आया बंगाल का गौड़िया वैष्णव धर्म जिसने राज्य का संरक्षण और प्रोत्साहन पाकर सारे समाज को कृष्णोपासना के रंग में रंग डाला।"² यह विवरण मणिपुरी समाज की धार्मिक विकास-यात्रा को रेखांकित करती है, जिसमें शैव मत से रामानंदी और अंततः गौड़ीय वैष्णव परंपरा तक का संक्रमण स्पष्ट होता है। यह परिवर्तन धर्म के राजकीय संरक्षण, सांस्कृतिक संपर्क और सामाजिक स्वीकृति की भूमिका को उजागर करता है।

¹ वर्मा, नवारुण. (1983). जय आई असम. पृ. 108

² ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 53-54

‘मुक्तावती’ में मणिपुर में वैष्णव धर्म के प्रचार का इतिहास भी दिया गया है। “सन् 1714 ई. में मणिपुर नरेश ‘पामहेइबा’ ने मणिपुर में वैष्णव धर्म को प्रबल संरक्षण दिया। फिर राजा भाग्यचंद्र के समय में 1764 ई. में वैष्णव धर्म पूरी तरह से मणिपुर में फैल गया- ईस्वी सन 1714 ई. में ‘गरीब नेवाज’ के नाम से प्रख्यात मणिपुर-नरेश ‘पामहेइबा’ ने यहाँ वैष्णव धर्म को प्रबल संरक्षण प्रदान किया। प्रथम-प्रथम शांतिदास, बक्रीदास आदि रामानंदी वैष्णव प्रचारकों का यहाँ खूब जोर रहा। और फिर सन् 1764 ईस्वी में पामहेइबा के पौत्र राजा ‘भाग्यचंद्र’ के समय में तो श्रीसर्वानंद ठाकुर के नेतृत्व में बंगाल के चैतन्यदेव के वैष्णव धर्म का प्रभाव यहाँ इतने जोर से बढ़ा कि आज तक सारे मणिपुरी हिंदू समाज पर छाई हुई राधा-कृष्ण की महिमा और लीला की अखण्ड भक्ति में रंचमात्र भी कमी न आ सकी।”¹

‘आहुति’ उपन्यास में उल्लेख है कि अठारहवीं शताब्दी में मणिपुर के राजा ने हिंदू धर्म स्वीकार कर संपूर्ण प्रजा को हिंदू बना दिया। राजा भाग्यचंद्र ने ब्राह्मणों को भारत के विभिन्न नगरों से बुलवाकर मणिपुर में बसाया। इससे न केवल धार्मिक प्रणाली बदली, बल्कि सामाजिक संरचना में भी व्यापक परिवर्तन आया। मणिपुर में हिंदू धर्म के प्रसार के बारे में उपन्यासकार कहते हैं- “इस परंपरा को पराकाष्ठा तक पहुँचाने वाले राजा भाग्यचंद्र थे, जिन्होंने हिंदू धर्म, रीति-रिवाज, पूजा-उपासना को दृढ़ता से लागू करवाया। भारत के कई नगरों से ब्राह्मणों को बुलाकर मणिपुर में बसाया।”² मणिपुर में अठारहवीं सदी में चैतन्य महाप्रभु के वैष्णव संप्रदाय का प्रभाव बढ़ा और मणिपुरी समाज राधा-कृष्ण की उपासना करने लगा। रास-नृत्य का प्रचलन भी इसी प्रभाव के कारण हुआ- मणिपुर में चैतन्य महाप्रभु के वैष्णव संप्रदाय का प्रभाव बढ़ा, फलस्वरूप राधा-कृष्ण की उपासना महत्वपूर्ण हो गई। इसके चलते ही रास-नृत्य का उद्भव और विकास हुआ।

जब मणिपुरी समाज हिंदू धर्मावलंबी बन गया तब उन्हें ब्राह्मणों या पंडितों की आवश्यकता हुई। तब विभिन्न प्रदेशों से आने वाले ब्राह्मण मणिपुर में बसने लगे और मणिपुरी युवतियों से विवाह

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ.127

² पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति. पृ. 22

करके मणिपुरी कुनबे में शामिल होने लगे- “अठारहवीं सदी में जब मणिपुर के राजा ने हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया तथा साथ ही पूरी प्रजा को हिंदू धर्म में परिवर्तित कर दिया, तब मणिपुरी हिंदू समाज को ब्राह्मणों की आवश्यकता महसूस हुई। कई प्रदेशों से आने वाले ब्राह्मणों को मणिपुरी (मैतेयी) लड़कियों से शादी करने की स्वतंत्रता भी दी गई। इस तरह के ब्राह्मण मैतेयी कुल या कुनबा में शामिल कर लिए गए।”¹ बाद में जब ईसाई मिशनरी मणिपुर पहुँचे, तो राजा ने उन्हें घाटी क्षेत्र में धर्म-प्रचार से रोक दिया, किंतु पहाड़ी इलाकों में अनुमति दी। फलस्वरूप नागा, कुकी आदि जनजातियाँ ईसाई बन गईं। ‘आहुति’ में यह स्थिति इस प्रकार व्यक्त है- “अंग्रेजी शासन में इनमें (मणिपुर की पहाड़ी जातियों में) ईसाई धर्म का प्रभाव बढ़ गया। असल में जब ईसाई प्रचारक मणिपुर में पहुँचे, मणिपुर के राजा ने उन्हें घाटी में प्रचार करने से मना कर दिया। उन्हें पहाड़ों पर रहने और प्रचार करने की अनुमति दी।”²

इसी प्रकार ‘रूपतिल्ली की कथा’ में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में खासी प्रदेश में हिंदू और ईसाई प्रभाव की प्रतिस्पर्धा दिखाई देती है। बसन्ता का पूजा-विधि सीखना और लिडदोह का अपने समाज की परंपरा को बचाने का प्रयास इसी द्वंद्व को रेखांकित करता है। वहीं दूसरी तरफ ऐसे प्रसंग मिलते हैं- “कोपिली माई का कर्ज ऊपर से चढ़ गया। सोचता हूँ कि ईसाई बन जाऊँ तो वह कर्ज उतर जाये। जब खासी रहूँगा ही नहीं तो कर्जा कैसा? पादरी बोलता था, वह व्यापार के लिए कुछ पैसे देगा। नहीं तो यहीं कुलियों की भरती के लिए एक दफ्तर बनाएगा। उसमें चपरासी रख लेगा।”³ ऐसे प्रकरण दर्शाते हैं कि धर्म कभी-कभी आस्था से अधिक आर्थिक लाभ का प्रश्न बन जाता है।

दुर्गोत्सव जैसे उत्सव पूर्वोत्तर क्षेत्र में विशेष उल्लास से मनाए जाते हैं। इस उत्सव में धूपदानियाँ लेकर नाचना एक आकर्षण का कारण हो जाता है। ‘मुक्ति’ में विभाजन के समय मनाए गए दुर्गोत्सव का यह वर्णन मिलता है- “उनके साथ ही साथ मंच के दोनों ओर से अपने हाथों में बहुत बड़ी-बड़ी

¹ पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति. पृ. 31

² वही, पृ. 115

³ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 180

धूपदानियाँ लिए दो युवक कूद पड़े और धूप दिखा-दिखाकर ढाक-ढोल और मंजीर की आवाज पर कूद-कूद कर नाचते हुए प्रतिमा की आरती करने लगे।”¹

‘रूपतिल्ली की कथा’ में रोझन लिडदोह को इस बात का गहरा संशय सताने लगता है कि उसका सियेम (राजा) धीरे-धीरे काली उपासक बनते हुए हिंदू परंपराओं के अनुरूप ढल रहा है। कांद्रा योगी का दरबार में प्रभाव बढ़ने लगा था और इसी कारण लिडदोह को भय सताने लगा कि भविष्य में ऐसे लोगों को प्रशासनिक व पदोन्नति से महत्त्व दिया जा सकता है, जो हिंदू पूजा-विधि जानते हों। परिणामतः उसने अपनी सबसे छोटी बेटी के सबसे बड़े पुत्र को सुरक्षा व सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के उद्देश्य से संस्कृत-माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने भेज दिया- “इधर उसे (रोझन लिडदोह को) एक खतरा अनुभव होने लगा था। सियेम जब काली उपासक बनता जा रहा था और धीरे-धीरे श्रीहट्ट के राजा के अनुरूप हिंदू बनता जा रहा था। कांद्रा योगी का महत्त्व राज में बढ़ता जा रहा था। इससे लिडदोह को आने वाले दिनों में अपने पद से हाथ धो लेने का अंदेशा होने लगा था।”²

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में खासी समाज पर धर्म-प्रचार का दोहरा दबाव था, एक ओर ईसाई मिशनरियाँ सामाजिक-सेवा (चिकित्सा, शिक्षा) के माध्यम से परिवर्तन लाने का प्रयत्न कर रही थीं, तो दूसरी ओर हिंदू प्रचारक धार्मिक अनुष्ठानों और आराधनापद्धतियों के द्वारा अपनी पैठ बना रहे थे। ‘रूपतिल्ली की कथा’ में यही द्वंद्व प्रकट रूप से दिखता है, जहाँ कांद्रा योगी का प्रभाव बढ़कर सियेम (राजा) को हिंदू बनाकर ही रह जाता है। उपन्यास के एक पात्र रालिंसन इस घटना पर आश्चर्य व व्यंग्य मिश्रित प्रतिक्रिया व्यक्त करता है- “राली की आँखें खुली की खुली रह गईं। पादरी इतने साल से लगा है। कितनी दवा बाँट दी, स्कूल खोलने की जगहें चुन लीं और एक भी ईसाई नहीं बना पाया। और यह कांद्रा योगी गंगा जल बाँट कर, उपदेश देकर राजा को ही हिब्रू बना लिया। तब तो पूरी जमात ही हिब्रू बन जाएगी। और हिन्नु बन गई तो ईसाई बनाना मुश्किल होगा। जब मुसलमान तलवार का इस्तेमाल

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 102

² मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 54

कर मीयों नहीं बना पाएं तो पादरी क्या खाकर ईसाई बना लेगा।”¹ यह संवाद उस समय की धार्मिक-राजनीतिक प्रतिस्पर्धा की तीव्रता को उद्घाटित करता है- जहाँ धर्म-परिवर्तन केवल आस्था का मामला न रहकर सत्ता, प्रभाव और सामाजिक नियंत्रण से जुड़ा प्रतीत होता है।

लिडदोह समुदाय के बीच इस परिवर्तन को लेकर गहरी चिंता व्याप्त थी। उनका भय यह था कि यदि खासी समाज हिंदू या ईसाई मान्यताओं के अनुरूप ढल गया, तो केवल पूजा-अर्चना ही नहीं, बल्कि पारंपरिक सामाजिक-नियमों-उत्तराधिकार, संपत्ति के अधिकार, दंड व्यवस्था, खान-पान तथा पहनावे जैसे लौकिक नियम भी बदल जाएंगे। उनके अनुसार बाहरी धर्मों का आगमन केवल आध्यात्मिक परिवर्तन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक संस्थाओं और आत्म-परिभाषा का क्षरण लेकर आएगा- “वे (ईसाई और हिंदू) न केवल अपनी पूजा-पद्धति बल्कि लौकिक नियम भी हमारे ऊपर लाद देंगे- उत्तराधिकार के, संपत्ति के, अपराध के, खान-पान के, ओढ़ने-पहनने के, जिससे हमारे आइन नियम लुप्त हो जाएंगे और एक बार हमारे नियम, हमारी संस्थाएँ लुप्त हुईं तो व्यक्ति के रूप में हम चाहे जो रहें, चाहे वही रहें- कौम के रूप में नहीं रह जाएंगे।”²

पूर्वोत्तर की कई जनजातियाँ जैसे मिजो आदि अब ईसाई धर्म ग्रहण कर चुकी हैं। “जहाँ बाँस फूलते हैं” में मिजोरम के समाज में क्रिसमस उत्सव की जीवंत झलक मिलती है- “डोपा गाँव के राब्टे लालदोला की बेटी रिनपुई साइतुआल में अपनी बुआ के पास रहकर पढ़ती थी और साल में कम-से-कम दो बार और क्रिसमस में तो निश्चय ही अपने गाँव आती थी।”³ इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि पूर्वोत्तर भारत में धर्म केवल आस्था नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अस्मिता का संवाहक है। विभिन्न धर्मों के संपर्क और संघर्ष ने इस क्षेत्र की पहचान को अनेक परतों में गढ़ा है- जहाँ परंपरा, लोक विश्वास और आधुनिकता एक साथ सह-अस्तित्व में मौजूद है।

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 157

² वही, पृ. 159

³ वही, पृ.91

तंत्र साधना-

तंत्र साधना भारतीय आध्यात्मिक परंपरा की एक प्राचीन एवं गूढ़ साधना-पद्धति है, जिसका उद्देश्य मानव चेतना का विस्तार और आत्मिक शक्ति का जागरण है। यह साधना शरीर, मन और ऊर्जा के समन्वय पर आधारित होती है। तंत्र में मंत्र, यंत्र, मुद्रा, न्यास और ध्यान जैसी विधियों के माध्यम से साधक आंतरिक शक्तियों को नियंत्रित करने का प्रयास करता है। इसे केवल रहस्यवाद या अंधविश्वास से जोड़ना उचित नहीं, क्योंकि तंत्र साधना का दार्शनिक आधार प्रकृति और पुरुष के संतुलन की अवधारणा पर टिका है। यद्यपि तंत्र साधना में आडंबर एवं मिथ्याचारण का समावेश होने विकृति आई हैं, किंतु यह भक्ति की एक पृथक पद्धति है, जिसके साधक आज भी इस परंपरा का अभ्यास करते हैं।

‘लोहित’ उपन्यास में अनिता सभरवाल ने जोय के माध्यम से असम में तंत्र साधन के गूढ़ रहस्यों को जानने-समझने का प्रयास किया है- “प्रोफ़ेसर के असर में न आने पर भी जोय ने रात को एक किताब खोल ही ली थी। उसमें वही सकारात्मक और नकारात्मक शक्तियों का वर्णन था। पॉजीटिव शक्ति में सब कुछ सात्त्विक होता है। इसका मतलब अच्छाई। इसमें जो पूजा होती है, उसमें फूल, सुगंधित तेल प्रयोग में लाते हैं। लोबान और अगरबत्ती जलाई जाती है। पवित्र मंत्रों का जाप होता है। चारों तरफ़ साफ़-सफ़ाई होती है। हवन किए जाते हैं। नृत्य और संगीत के माध्यम से देवी की पूजा की जाती है। धीरे-धीरे ऊँचाई पर पहुँचते हैं। मतलब ध्यान लगाया जाता है। इसमें देवी से सबके लिए कल्याण की कामना की जाती है। किसी का बुरा नहीं सोचते। इस पूजा-अर्चना से किसी का कोई नुकसान नहीं होता। यह अच्छाई का मार्ग है। दूसरा पक्ष है निगेटिव यानी नकारात्मक शक्ति का। इसमें देवी के सम्मुख बलि दी जाती है। रक्त से सने शरीर, मानव खोपड़ियाँ, मांस, मदिरा देवी के सम्मुख रखे जाते हैं।”¹ उपरोक्त अंश तंत्र-साधना की दो भिन्न प्रवृत्तियों सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं को स्पष्ट करता है। यह विभाजन तंत्र को नैतिक, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समझने का अवसर प्रदान करता है। जोय द्वारा पूछने पर कि नेगेटिव शक्तियों का प्रयोग अच्छे कामों के लिए क्यों नहीं कर

¹ सभरवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 74

सकते? पर प्रोफेसर कहते हैं- “ऐसा सोचना ही ठीक लगता है। दोनों के तरीके अलग हैं। जब शक्ति को बुलाया ही तामसिक तरीके से है तो वह सात्त्विक परिणाम क्यों देगी? किसी का बुरा करने के लिए किया गया जाप शुभ फल कैसे दे सकता है? यह एक हैरान कर देने वाली बात है कि एक ही देवता की साधना दो प्रकार से की जाती है। सात्त्विक और तमोगुणी दो विधान हैं इसके। इसके लिए सबसे पहले साधक को यह जानना ज़रूरी होता है कि 'देवो भूत्वा देवं यजेत'। इसका अर्थ है कि देवता बनकर देवता की उपासना करें।”¹ दरअसल तंत्र-साधना की विधि साधारण पूजा-पाठ से भिन्न होती है और इसके साधक एकांत में रहते हैं, जिस कारण यह पद्धति रोचक व रहस्यमयी जान पड़ती है।

तंत्र साधना के विषय में मानव-मन में बहुत सी जिज्ञासाएँ व अज्ञानताएं होती हैं। ‘लोहित’ उपन्यास में प्रो. मुखर्जी तंत्र के स्वरूप पर बात करते हुए कहते हैं कि, “पूजा की यही एक ऐसी विधि है, जिसमें स्त्री का सम्मान होता है। लड़कियों को शक्ति के रूप में पूजा जाता है। स्त्री को शक्ति मानते हैं इसके साधक। इस वर्ग का कहना है कि जो पुरुष अपनी माँ का आदर करता है, वह अपनी बहन और पत्नी का आदर भी करेगा। हर स्त्री का करेगा। ये साधक नारी को झुककर प्रणाम करते हैं। उसे उचित सम्मान देते हैं। बस, लज्जा का त्याग किया जाता है। संयम रखा जाता है। इनका कहना है कि स्त्री से संबंध केवल भोग के लिए नहीं, खुद पर संयम पाने के लिए करते हैं। इससे दैहिक आकर्षण समाप्त होता है और स्त्री से शक्ति मिलती है। शिव और शक्ति एक हो जाते हैं।”² तंत्र साधना में व्याप्त दुराचार के कारण अब ऐसी प्रक्रियाओं को लोग गलत नज़र से देखते हैं और सभी तांत्रिक बदनाम होते हैं, किंतु वास्तविकता इससे कहीं भिन्न है, तंत्र मार्ग के मूल उद्देश्य को बताते हुए प्रो. मुखर्जी कहते हैं- “तंत्र स्व का बोध कराता है। आपके अंदर छिपी हुई शक्ति निकालता है ताकि आप उसका प्रयोग कर सकें। यह

¹ सभरवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 77

² वही, पृ. 78

प्रेम कराना सिखाता है। इसमें योग, ध्यान, आत्म-विश्लेषण, क्रिया और खुद पर नियंत्रण शामिल है। मेरी नज़र से यह एक आध्यात्मिक विद्या है। यह प्रैक्टिकल है। यह स्वतंत्रता है और आनंद है।”¹

तंत्र साधना के सैद्धांतिक पक्ष के विषय में रमानाथ त्रिपाठी ने कामरूपा उपन्यास में लिखा है- “भारत का उत्तर-पूर्वी सीमांत आहोम, बराही, सुतिया, मिरी, मिस्मी, खामटि, चिंग्फौ, नगा आदि जनजातियों से पटा पड़ा है। यह सौमारपीठ है, इस पर दिक्करवासिनी देवी का अधिकार है। कालिका-पुराण में इस देवी के रूप हैं-तीक्ष्णकांता और ललितकांता। तीक्ष्णकांता देवी काली और भयंकरी हैं, इन्हें तेज शराब और नरबलि बहुत पसंद हैं। सुतिया लोगों ने 13वीं शती में सदीया में इनका ताम्रेश्वरी देवी मंदिर बनवाया था। यहाँ वार्षिक नरबलि दी जाती थी। इसलिए इस देवी का नाम दिया गया-कैचाइखाती, अर्थात् कच्चा मांस खाने वाली। ललितकांता अथवा त्रिपुरबाला अत्यंत सुंदरी, नवयुवती और कुमारी हैं। इनके साथ कुमारी-पूजा की जाती है। इन्हें दूर्वा-अक्षत प्रिय हैं। भक्त लोग अपने शरीर से खून निकालकर भी इनकी पूजा करते हैं। इस देवी का संबंध शबरोत्सव से भी है, जिसमें सेक्स का नग्न प्रदर्शन कर अश्लील गीत गाए जाते हैं और अश्लील हरकतें की जाती हैं।... 14वीं शती में योगिनी-तंत्र नामक ग्रंथ की रचना हुई थी। इसमें असम की विचित्र साधनाओं को किरात-साधना बताकर मद्य-मांस के सेवन और युवा स्त्रियों के साथ यौन संबंधों का वर्णन है। वामाचार में नारी का संग आवश्यक है। यदि कोई नारी आसानी से न मिले तो धन देकर या बलपूर्वक उसे प्राप्त करने का विधान है। मातृ योनि को छोड़कर किसी भी नारी के साथ यौन संबंध स्थापित करने की छूट थी। बारह से साठ वर्ष की आयु वाली स्त्रियाँ मैथुन के योग्य बताई गईं। यहाँ नारी को विशेष महत्ता दी गई। कालिका-पुराण में भी कामरूप की प्रत्येक स्त्री को देवी का अंशावतार बताया गया। आर्य-संस्कृति का प्रचार-प्रसार करने के लिए ब्राह्मण पूरे भारत में भेजे गए थे। यहाँ असम में भी ब्राह्मण बसाए गए। ब्राह्मणों को यहाँ की तांत्रिक साधनाओं से समझौता करना ही पड़ा, जिस पीठ में जो भी आचार होते हैं, वे विधि-सम्मत बताए गए। कालिका-पुराण ने संकेत दे दिया था कि जब तक यहाँ वैष्णव धर्म का प्रचार नहीं होगा, तब तक

¹ सभरवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 79

वामाचार दूर नहीं होगा। महापुरुष शंकरदेव ने वैष्णव धर्म का ऐसा प्रबल प्रचार किया कि उनका आंदोलन असम की विकृत साधनाओं को उखाड़ फेंकने में दुर्दम्य झंझावात-सा छा गया।”¹

उपरोक्त उद्धरणों में तंत्र को केवल रहस्यात्मक या नकारात्मक नहीं, बल्कि आत्मबोध और अंतर्निहित शक्ति के जागरण की आध्यात्मिक विद्या के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जोय और प्रोफेसर मुखर्जी के संवादों के जरिए तंत्र-साधना की सात्त्विक और तामसिक प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया है। सात्त्विक साधना पवित्रता, संयम, ध्यान और लोक कल्याण पर आधारित है, जबकि तामसिक साधना भय, बलि और वशीकरण जैसी प्रवृत्तियों से जुड़ी मानी जाती है। नारी को शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करना और शिव-शक्ति की एकता का विचार तंत्र के दार्शनिक आधार को मजबूत करता है। साथ ही, असम की ऐतिहासिक तांत्रिक परंपराओं और वैष्णव आंदोलन के प्रभाव से जुड़े संदर्भ तंत्र-साधना के सामाजिक रूपांतरण को समझने में सहायक सिद्ध होते हैं।

बलि प्रथा-

शक्ति उपासना के अनेक रूप भारतीय उप महाद्वीप में प्रचलित रहे हैं। कुछ शाक्त परंपराओं में बलि प्रथा देवी को संतुष्ट करने का माध्यम मानी जाती है। असम का प्रसिद्ध कामाख्या मंदिर इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ प्राचीन काल से पशु-बलि की परंपरा रही है। ‘लोहित’ उपन्यास में जोयमती इस प्रथा को बचपन में देखकर ही विचलित हो जाती है। उपन्यासकार का वर्णन है- “बलि देने वालों की भीड़ वैसी की वैसी... माँ कामाख्या की प्यास भी वैसी ही... अभी भी बलि दी जा रही है।”²

जोयमती इस हिंसात्मक प्रथा के विरोध में अपनी श्रद्धा को भीतर ही भीतर पुनर्परिभाषित करती है। वह मंदिर जाना छोड़ देती है, जैसा कि ‘लोहित’ उपन्यास में लिखा है- “बलि देकर भक्त कितना आनंदित होते हैं, देखा है जोय ने। बहता हुआ रक्त, मंदिर का रक्त-रंजित प्रांगण और पंडे

¹ त्रिपाठी, रमानाथ. (2013). कामरूपा. पृ. 140-141

² सभरवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 8

पुजारियों की चिल्लाती हुई भीड़ देखकर ही जोय ने ऐसे पर्वों पर मंदिर में जाना बंद किया था।”¹ बलि प्रथा के प्रति यह विरोध धार्मिक आस्था के भीतर से उठने वाला नैतिक प्रश्न है। ‘लोहित’ में जोयमती की नानी तांत्रिक क्रिया के सफल लौटने पर इक्यावन भैंसों की बलि देने की बात करती है- “भगवान जाने किसकी साजिश थी यह। इक्यावन भैंसों की बलि दूँगी मैं। तुम्हारे सही सलामत लौट आने की खुशी में।”² यह प्रसंग दिखाता है कि विश्वास और अंधविश्वास का मिश्रण लोकधर्म में किस प्रकार गहराई तक व्याप्त है।

‘रूपतिल्ली की कथा’ उन्नीसवीं सदी के आरंभ में खासी समाज का एक ऐसा पक्ष प्रस्तुत करती है, जहाँ धार्मिक आस्थाएँ जीवन के हर पहलू को निर्देशित करती थीं। उस समय कुछ स्थानों पर मानव-बलि की प्रथा भी प्रचलित थी। कथा में उल्लेख है कि कोपिली नदी को पार करने से पहले विशेष अनुष्ठान किए जाते थे, कोपिली माई यानी नदी देवी को खुश करने के लिए हर खासी को चावल सहित खाने-पीने की वस्तुएँ नदी में फेंकनी होतीं और आवश्यकता अनुसार बलि चढ़ानी पड़ती, यदि संभव हो तो मानव का, न हो तो बकरे का, और न हो तो कम से कम मुर्गे की।

उपन्यास के एक दृश्य में मुगा खाउरा खरलुक्की की क्रूर बलि का विवरण क्रूरता और लोक-आस्था के मिले-जुले स्वरूप को उद्घाटित करता है। लेखक लिखता है- “उसके मरते ही लोगों ने उसके बाल, नाखून, त्वचा, मांस जो मिला नोंच लिया। उन्हें वे घरों के कोनों-अँतरों में, खेतों, हाटी में फेंकेंगे। उससे उनका घर पवित्र होगा, जमीन उर्वर हो जाएगी।”³ यह दृश्य उस युग के चरम अंधविश्वास और धार्मिक अनुष्ठान के संकटकालीन स्वरूप का सशक्त सबूत है। बलि-प्रथा केवल आस्था की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि सामाजिक-मानसिकता में व्याप्त भय, लोकधर्म और सामूहिक अनुष्ठानिकता का अवलोकन भी है।

¹ सभरवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 65

² वही, पृ. 64

³ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 150

‘रूपतिल्ली की कथा’ उपन्यास में जब जोरराय राफताब किसी सर्प-देवता को बलि चढ़ाता है और तदुपरांत पादरी किर्लियाड लोगों के साथ माफू पहुँचते हैं, तब यह स्पष्ट होता है कि उस समय के खासी समाज में बलि को अपराध के बजाय धार्मिक कृत्य के रूप में देखा जाता था। कथा इससे जुड़े एक वाक्य से इस मानसिकता को सामान्यीकृत कर देती है- “हम खासी हैं, इसाई नहीं। एक तो यहाँ इसाई का कानून नहीं है। और यदि होता भी तो बलि चढ़ाना धर्म का मामला है, कानून का नहीं। कानून किसी भी हालत में धर्म से ऊपर नहीं।”¹ जनजातीय समाज में बलि देकर ईश्वर को प्रसन्न करने की प्रथा रही है, पर पुरोहित वर्ग ने अपने हित-लाभ के लिए इसे जटिल बना दिया, परंतु अब ये प्रथा बहुत कम ही रह गई है और कानून द्वारा नरबलि जैसे अमानवीय कृत्यों पर पूर्णतः प्रतिबंध लग चुका है। उक्त उद्धरण दर्शाता है कि पारंपरिक धार्मिक आस्थाओं तथा स्थानीय सामाजिक-संरचनाओं के संदर्भ में कानून और राजकीय प्राधिकरण कमजोर या अप्रासंगिक माने जाते थे। इस प्रकार रूपतिल्ली की कथा का यह अंश न केवल ऐतिहासिक लोक-धर्म का दस्तावेज है, बल्कि उस समाज में धार्मिक अनुष्ठानों के कारण उत्पन्न नैतिक और कानूनी जटिलताओं का भी सजीव चित्रण प्रदान करता है।

अरुणाचल प्रदेश के गालों समाज में मिथुन की बलि देने की प्रथा है, ‘मिनाम’ उपन्यास में इस संदर्भ पर चर्चा की गई है- “‘मोपिन’ गालो जनजाति का एकमात्र त्योहार है। जहाँ यह मानव कल्याण, अच्छी फसल तथा सुख-समृद्धि एवं एकता के लिए प्रत्येक वर्ष अप्रैल और मई महीने में मनाया जाता है। पूरे क्षेत्र में भव्य रूप में मनाया जाता है। मोपिन आने या आजी पिकू-पिन्ते गालो समुदाय के लिये अन्न की देवी मानी जाती है। प्राचीन काल में मोपिन आने ने हमारे पूर्वज आबो तानी को खेती करना सिखाया था। इस त्योहार में बूढ़े, जवान, बच्चे सभी लोग शामिल होते हैं और सभी स्वेत वस्त्र पहनते हैं। सबसे पहले आने मोपिन के स्वागत में सबसे बड़े पुजारी ‘न्यीबो’ से पूजा करवाते हैं उसके बाद

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 203

मिथुन की बलि चढ़ाई जाती है।”¹ अरुणाचल प्रदेश में मिथुन की बलि पर्व-त्यौहार एवं विवाह जैसे शुभ अवसरों पर दी जाती है।

बलि जैसी प्रथाएँ पूर्वोत्तर के कई जनजातीय समाजों में विद्यमान है, यद्यपि इसके आरंभ के पीछे समर्पण का दर्शन भाव था, लेकिन कालांतर में यह प्रथा अपने मूल उद्देश्य से इतर चली गई और बलि प्रथा केवल बाह्य प्रदर्शन का हिस्सा मात्र बनकर रह गया, जिसके फलस्वरूप लोह अधिक से अधिक पशु-बलि पर जोर देने लगे। अरुणाचल प्रदेश के चर्चित लेखिका जोराम यालाम नाबाम उक्त संदर्भ में कहती हैं- “बलि प्रथा की जड़ें हमारे पारिवारिक संबंधों के दर्शन में हैं। यह ईश्वर को ‘चढ़ावा’ नहीं, बल्कि प्रकृति की अदृश्य शक्ति के साथ एक ‘लेन-देन’ है, एक नेगोशिएशन है। हम अपनी सबसे प्रिय वस्तु देकर अपने भीतर की नकारात्मकता का परिष्कार करते हैं। यह सीमित और नियंत्रित होती है- प्रकृति (उयू) जितना माँगती है, उतना ही दिया जाता है। इसका आध्यात्मिक पक्ष यह है कि बलि से पहले पुजारी पशु की आत्मा से संवाद करता है, क्षमा माँगता है, और उसे आश्चस्त करता है कि यह उसके स्वाद के लिए नहीं, बल्कि किसी अनुष्ठान के लिए है। समाज सामने खड़े होकर उस पीड़ा को महसूस करता है, जो उन्हें पशुओं के प्रति एक संतुलन और संवेदनशीलता सिखाती है। जिन समाजों में बलि प्रथा नहीं है, वहाँ माँस खाने की मात्रा और हिंसा का भाव कहीं अधिक है, जहाँ कटे हुए पशु के प्रति कोई दर्द नहीं होता। हाँ, वर्तमान में यह प्रथा विचलित हुई है। शादियों और उत्सवों में शो-ऑफ और अहम के प्रदर्शन के लिए अत्यधिक मिथुन काटे जा रहे हैं। यह हमारे दर्शन का नहीं, बल्कि हमारी दूषित होती संस्कृति का हिस्सा है। ‘जंगली फूल’ में आबो तानी ने भी ऐसे ही विवाहों में मिथुन को बचाने का प्रयास किया था। यह विचलन दिखाता है कि हम अपने दर्शन के पीछे के सैक्रेडनेस को भूलकर, केवल उसकी दिखावटी परंपरा को ढो रहे हैं।”² बलि अब आस्था की सहज अभिव्यक्ति न रहकर सार्वजनिक दिखावे, प्रभुत्व स्थापित करने और धार्मिक श्रेष्ठता दर्शाने का माध्यम बन गई।

¹ लोयी, मोर्जुम. (2020). मिनाम. पृ. 24

² जोराम यालाम नाबाम का साक्षात्कार, (परिशिष्ट से उद्धृत)

आधुनिक संदर्भ में बलि प्रथा का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है, ताकि इसके मूल मानवीय और नैतिक तत्त्वों को समझते हुए हिंसात्मक विकृतियों से मुक्ति पाई जा सके।

दर्शन-

‘दर्शन’ मानव की उस बौद्धिक जिज्ञासा का परिणाम है, जिसके माध्यम से वह जीवन, जगत, आत्मा, सत्य और मूल्य के मूल प्रश्नों पर चिंतन करता है। ‘दर्शन’ शब्द संस्कृत के ‘दृश्’ धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है- देखना या सत्य का साक्षात्कार करना। दार्शनिक दृष्टि से दर्शन केवल विचारों का संग्रह नहीं, बल्कि तर्क, अनुभव और आत्मचिंतन के माध्यम से सत्य की खोज की पद्धति है। दर्शन वह ज्ञान है, जिसे अध्ययन और अनुभव के द्वारा प्राप्त किया जाता है। वस्तुतः मनुष्य की वह पथ-प्रदर्शक चेतना जो अनुकरणीय हो दर्शन कहलाती है।

दर्शन या फिलॉस्फी शब्द अपने में थोड़ी जटिलता का बोध लिए हुए है, किंतु यह अनुभवजन्य ज्ञान सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। लोक जीवन में मनुष्य अपने वर्षों के अनुभवों से सिंचित ज्ञान का अनुकरण करता है, जो कि तथाकथित शैक्षिक शब्दावली में दर्शनिकता है। ‘रूपतिल्ली की कथा’ उपन्यास में लेखक ने एक पात्र पात्र के माध्यम से इस सत्य को दर्शाया है- “राफताब ने मनन किया कि जीवन की रीति, गति और परिणति यदि इतनी स्पष्ट हो जाय तो भला जीवन का तात्पर्य और जीने का मजा ही क्या रह जाए। आदमी तो अँधेरे में चलता है कि शायद कभी और कहीं रोशनी दिखे। उसके लिए कभी वह दूसरों की बनाई राहों पर चलता है तो कभी अपनी राह बनाता है कि मंजिल मिले। लेकिन मंजिल तो छलावा होती है। क्या होती भी है? जीवन को गौर से देखो तो आदमी जन्म लेता है, बड़ा होता है, जाने कितने लोगों से टकराता है, कितने लोगों का साथ धरता है। घरनी लाता है, बच्चे पैदा करता है। अपने लिए से अधिक दूसरों के लिए-चाहे किसी अमूर्त दबाव में ही सही- कुछ करता है और एक दिन मर जाता है अपने पीछे एक पूरा संसार छोड़कर उसी की तरह जीवन को दुहराने के लिए। तो क्या यही मंजिल है? नहीं मंजिल तो वह खुद निर्धारित करता है और उसके लिए चलता है। कोई-कोई कभी पाता भी है। जीवन में वह क्षण बस अचानक आता है, पर आता है जरूर। और सबके जीवन

में वह आता है, जिसकी इंतजार में वे रहते हैं। अगर आदमी तैयार है, उसे पहचान गया, पकड़ लिया तो जीवन सुकारथ हो गया। नहीं तो जैसे सबका बीता वैसे ही उसका बीता।”¹ राफताब का यह चिंतन मानव जीवन की दार्शनिक जटिलता और अस्तित्वगत अनिश्चितता को रेखांकित करता है। राफताब का चिंतन नियतिवाद का खंडन करते हुए यह संकेत देता है कि यदि जीवन पूर्णतः स्पष्ट और पूर्व निर्धारित हो, तो खोज, संघर्ष और अर्थ-बोध निष्प्रभ हो जाएगा। अंधकार और प्रकाश का प्रतीक जीवन में आशा और संभावना की भूमिका को दर्शाता है। जीवन की चक्रीय प्रक्रिया, जन्म, संबंध, कर्तव्य और मृत्यु को लेखक एक यांत्रिक पुनरावृत्ति के रूप में प्रस्तुत करता है, जिससे व्यक्ति को ऊपर उठना होता है। दार्शनिक दृष्टि से जीवन की मंजिल बाह्य नहीं, बल्कि आत्मनिर्धारित लक्ष्य है। जीवन की सार्थकता उस निर्णायक क्षण को पहचानने और आत्म-सजगता के साथ ग्रहण करने में निहित है।

भारतीय दर्शन में मुक्ति मानव जीवन का परम लक्ष्य मानी गई है। इसका तात्पर्य जन्म-मरण के चक्र से पूर्णतः निवृत्ति तथा दुःख और अज्ञान बंधन से अंतिम छुटकारा है। दर्शन के अनुसार बंधन का मूल कारण अविद्या है, जिसके कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर देह, इंद्रिय और भौतिक जगत से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। जब यह अज्ञान नष्ट होता है, तब मुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है। महेंद्रनाथ दुबे के उपन्यास ‘मुक्ति’ में भी इस दार्शनिक पक्ष पर प्रकाश डाला गया है- “मैं मुक्ति को पा लूँगा? आप कैसे जानते हैं मुक्ति को? कैसे मिल सकेगी मुझे मुक्ति?— कमल घबराते हुए पूछ बैठा। मुक्ति ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो हमारे पास नहीं है, अतः उसे कहीं अन्यत्र से प्राप्त करना है, बल्कि मुक्ति तो वह है जो हमारे अंदर ही है, हमारे पास ही है, हमें ही जकड़े हुए है, हमारे लिए भार बनी हुई है, हमारे पंखों को उड़ने से रोकने के लिए पिंजरे की दीवाल बनी हुई है। उस पिंजरे से निकलना, उस भार से त्राण पाना, उस बंधन से छुटकारा पाना ही मुक्ति है। वह असीम जो बाहर है, उससे उस असीम का जो दीवार के घेरे में, शरीर की कारा में बंद है, छटपटा रहा है, उसे इस दीवार, इस शरीर की आड़ से मुक्त कर दो, उस बाहर के असीम से मिल जाने का रास्ता साफ कर दो, सारे बंधनों को खोलकर सबके

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 16

साथ अपने आप को मिला दो, बस मुक्ति अपने आप तुम्हारी मुट्ठी में होगी।- भट्टाचार्य मोशाय ने कहा।”¹ यहाँ सांसारिक भंवर में फंसे मनुष्य की आत्मिक चेतना के विषय में बात की गई है, जहाँ सांसारिक भौतिकता के त्याग और आत्मज्ञान पर बल दिया गया है, जिसमें अहंकार, मोह-माया, क्रोध जैसे मनोविकारों से ज्ञान के माध्यम से ही मुक्ति संभव है।

‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास में दिसंगमुख नामक एक ग्रामीण परिवेश का चित्रण मिलता है, जहाँ रहने वाले सभी लोगों के जीवन में ब्रह्मपुत्र नदी की अहम भूमिका है। गाँव में रहने वाले लोग अनपढ़ है लेकिन जिंदादिल है, वे जानते हैं कि हर साल ब्रह्मपुत्र में बाढ़ आती है, लेकिन वे हर बार घर बनाते हैं। एक नाविक का कथन उसके जीवन-दर्शन को दर्शाता है- “ब्रह्मपुत्र में गिरकर ही सब नदियों की मुक्ति है, पर माझुली अपने लंबे अनुभव से जान गई है, आदमी की मुक्ति ब्रह्मपुत्र में डूबने पर नहीं है। आदमी की मुक्ति तो ब्रह्मपुत्र के विशाल वक्ष स्थल पर तैरने में है।”² प्रस्तुत कथन गाँववालों की जीवटता का प्रतीक है। नाविक जानता है कि माझुली चारों तरफ से ब्रह्मपुत्र से घिरा हुआ है, अतः ब्रह्मपुत्र के विकराल प्रवाह से बचना संभव नहीं, लेकिन वह हर बार तैयार रहता है। छोटी नदियां ब्रह्मपुत्र में विलीन होकर मुक्ति पाती है, किंतु मनुष्य की मुक्ति तो जीवित रहकर कर्म करने में हैं। जीवन में सुख-दुःख के झंझावात आते रहेंगे, पर इन सबसे लड़कर आगे बढ़ने का नाम ही जीवन है।

‘जंगली फूल’ उपन्यास में न्यीशी जनजाति में मरणोपरांत क्रिया-विधि में जीवन-मृत्यु के संदर्भ में दार्शनिक चेतना देखने को मिलती है- “जिस तरह ताई रूंगरी नामक कीड़े मिट्टी को खोद-खोदकर घर बनाते हैं। उसी तरह कब्र खोदी गई। आतुम चारुम नामक कीड़ा मरने से पूर्व अपने शरीर को गोलाकार बनाकर सो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे की माता पेदूंग के शरीर को ठंडा पड़ जाने से पहले ही मोड़ा गया।... हर चीज गोल है...जन्म और मरण दोनों गोल-गोल घूमते रहते हैं- इसलिए शरीर को उसके प्रतीक के तौर पर ऐसा किया जाता है। इसके बाद श्वेत वस्त्र से उन्हें ढक दिया गया जो शून्य और

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 289

² सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 293

निर्दोषिता का प्रतीक है। जो दाग वस्त्र में अर्थात् शरीर में लगा था, अंत में उसे भी छोड़कर जाना पड़ता है। दोनों दंपति को लोगों ने पूरे आदर के साथ पुजारी के मंत्रों चारण सहित मिट्टी में डाल दिया।”¹ उक्त संदर्भ में मनुष्य के जीवन-मरण की अवस्था में समानता और प्रकृति को सौपने का दर्शन लक्षित होता है, जिस प्रकार मनुष्य जन्म से पहले मां के गर्भ में सिकुड़कर सुरक्षित रहता है, उसी तरह मृत्यु के बाद सिकुड़कर प्रकृति में सुरक्षित रहेगा। न्यौशी दर्शन में अवधारणा है कि जन्म-मरण एक चक्रीय व्यवस्था है, मनुष्य जिस अवस्था में दुनिया में आता है उसी तरह उसे जाना है, अतः उसे निर्वस्त्र ही दफ़नाते हैं। ये दार्शनिक तथ्य ही जीवन को हर प्रकार के मोहजाल से दूर रखते हैं, जहाँ जीवन-मृत्यु को एक समान दृष्टि से देखा जाता है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि दर्शन किसी अमूर्त, जटिल या केवल शास्त्रीय अनुशासन का नाम नहीं, बल्कि मनुष्य के जीवनानुभव से विकसित होने वाली सहज बौद्धिक चेतना है। प्रस्तुत उपन्यासों के उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि लोक जीवन में दर्शन कर्म, संघर्ष, प्रतीक्षा, पीड़ा और आत्मबोध के माध्यम से आकार लेता है। रूपतिल्ली की कथा में जीवन की अनिश्चितता और आत्मनिर्धारित लक्ष्य दर्शन को नियतिवाद से मुक्त करता है। मुक्ति में आंतरिक बंधनों के क्षय को ही वास्तविक मोक्ष बताया गया है। ‘ब्रह्मपुत्र’ जीवन-संघर्ष को मुक्ति का साधन मानता है, जबकि ‘जंगली फूल’ में जीवन-मृत्यु को प्रकृति के चक्रीय सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार ये रचनाएं लोक दर्शन को मानव संवेदना, आत्मचेतना और जीवन की सार्थकता से जोड़ती हैं।

लोक विश्वास-

लोक विश्वासों की उत्पत्ति और उनका प्रचलन कभी-कभी तर्कसंगत, तो कभी-कभी निराधार होता है। जो कालांतर में प्रचलित होने के बाद रूढ़ हो जाते हैं, जिस कारण ये अंधविश्वास में परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे ‘रूपतिल्ली की कथा’ उपन्यास में तीरंदाजी के खेल में विजय पाने के लिए दोनों दल के लोग अपने-अपने मिथक आचरण को प्रकट करते हैं। “खेल के मैदान में जिधर उनके तीरंदाज लोग

¹ नाबाम, जोराम यालाम. (2019) जंगली फूल. पृ. 37

बैठकर निशाना साधने वाले थे, उधर तीर और धनुष को इकट्ठा कर एक बड़ी-सी ढेरी लगा दी गई थी। लक्ष्य भेद के लिए जो ‘का सोह पडुड’ (एक तरह की घास, जिसे लकड़ी पर बाँध लक्ष्य भेद के लिए पुतले बनाए जाते हैं) के मुगड़े गाड़े जाने वाले थे, उनमें से चुनकर चार-पाँच को चारों तरफ ठोंककर गाड़ दिया गया था। उन्हीं के सामने उत्तर-पूर्व दिशा में मुँह कर बैठे हुए दोनों पुजारी अपनी बोली में मंत्र की तरह कुछ बुदबुदाते हुए रंगीन चावलों से बेंदी बना रहे थे। बेंदी बन जाने के बाद मुर्गी का एक अंडा उस पर सीधा खड़ा कर एक ने दाहिने हाथ को भीतर की तरफ करके बायीं ओर से वृत्त बनाते हुए तीन बार पानी गिराया। तब यही काम दूसरे ने ठीक उल्टी दिशा से किया। फिर हाथ को माथे की ओर उठाकर दोनों ने जोर-जोर से कहना शुरू किया: विरोधी दल के तीर भारी हो जाएं, धनुष की प्रत्यंचा ढीली पड़ जाएँ, कि पड़छ ठीक बीचोबीच से न नेवे, लक्ष्य भेद के खूटें ठीक-ठीक दिखाई न दें, लक्ष्य साधते वक्त उनके हाथ हिल जाएं। हे देव, लेकिन हमारे खिलाड़ियों के हाथ सधे रहें, लक्ष्य साफ-साफ दिखे, धनुष तने रहें, तीर हल्के होते रहें। हे देव, अपना पूजा ग्रहण करो और हमारा काम सुगम करो। हे देव... कह कर उन्होंने अंडे को उठा लिया और सामने की कड़ी जमीन पर दे मारा। अंडा टूटा तो आधी जर्दी अंडे में बनी रही और आधी छिलके के साथ छिटक कर फैल गई। दोनों पुजारियों ने हाथ माथे के ऊपर ले जाकर आँखें मूँद लीं और ‘उ फान किरपद’ को गोहरा कर कहा कि हे देव! पूजा ग्रहण करो और हमारे गाँव पर कृपा करो!! ठीक यही काम मैदान के दूसरे छोर पर दूसरे गाँव के पुजारी कर रहे थे।¹ इस प्रकार के कार्य-व्यवहार का प्रचलन परस्पर अंधश्रद्धावश होता है। यद्यपि ऐसा हो सकता है कि जब पहली बार ऐसा किया गया हो तो उसका परिणाम सकारात्मक रहा हो, किंतु यह तो स्वाभाविक सत्य है कि खेल में किसी एक पक्ष की हार अथवा जीत होनी सुनिश्चित है। अतः इस प्रकार लोक विश्वास अपने स्वरूप में रूढ़ होकर जनमान्य हो प्रचलित हो जाते हैं।

लोक विश्वास का प्रचलन ऐसे परिस्थितियों में अधिक बढ़ जाता है, जो रहस्यमयी और कौतूहल से परिपूर्ण हो। असम प्रांत के दीमा हसाओ जिले के जटिंगा क्षेत्र में प्रतिवर्ष हजारों पक्षी

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 44-45

आत्महत्या करने आते हैं। जिस कर इस स्थान को ‘पक्षियों की मृत घाटी’ भी कहा जाता है। “तब पहले जटिंगा आया, जिसकी पहाड़ियाँ ‘ब्ले वैन्डास’ नामक सुंदर फूलों से भरी हुई हैं। यहाँ दुनिया की एक आश्चर्यजनक घटना प्रायः हर वर्ष घटती है। जब सितंबर-अक्टूबर के महीने में दूर-दूर से आकर रंग-बिरंगी चिड़ियाँ यहाँ जलती आग में कूद-कूद कर आत्महत्या करती हैं।”¹ इस घटना के पीछे विज्ञान भौगोलिक स्थिति और चुंबकीय बल को कारण मानता है, तो स्थानीय लोग इसमें बुरी आत्माओं का हाथ मानते हैं। “कहानी थी कि जब अहोमों ने मिकिरो को परास्त कर उनका राज ले लिया तब से किसी श्राप के फलस्वरूप दुनिया भर के विशाल मांसाहारी पक्षी जाडिंडा जाकर आत्माहुति करते। खासी लोग उस दिशा में मधुकढ़वा पक्षी की उड़ान बहुत शुभ मानते हैं।”² जटिंगा क्षेत्र मीकिर हिल्स के अंतर्गत आता है, इसीलिए संभव है कि लोगों ने ऐसे मिथक गढ़ लिए हों, किंतु लोक में एक मिथक पर अन्य मिथक भी आश्रित होते हैं, जैसे खासी समाज में जटिंगा की दिशा में मधुकढ़वा पक्षी की उड़ान का शुभ मानना।

संरचनागत दृष्टि से लोक विश्वास से प्रायः अपने स्वरूप में बेहद जटिल होते हैं, जिससे उसकी रहस्यमयता और प्रभावोत्पादकता बनी रहती है। “खासी मान्यता थी कि हजारों वर्ष तक जिंदा रहने वाला यह महीरूह अपने जीवन में दो-चार बार ही खिलता है और जब खिलता है तब खसिया लोक में कोई न कोई अनहोनी अवश्य होती है। यह अनहोनी उनके जातीय जीवन में कोई न कोई परिवर्तन अवश्य लाती है।”³ उक्त प्रसंग में महीरूह एक सफेद रंग का फूल है, जिससे संबंधित मिथक उसे दुर्लभ और विशिष्ट बनाते हैं, किंतु किसी फूल का हजारों वर्ष तक जीवित रहना नितांत काल्पनिक लगता है। चूंकि, अगर कोई फूल हजार वर्ष तक खिला रहेगा तो स्वाभाविक है कि उस अवधि में किसी न किसी प्रकार की कोई शुभ-अशुभ घटना तो अवश्य ही होगी और इसे लोक विश्वास के रूप में देखा जाना, अंधविश्वास के समान लगता है। जबकि कभी-कभी ऐसे उदाहरण पेड़ या पर्यावरण की सुरक्षा हेतु भी

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 215

² मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 63

³ वही, पृ. 90-91

गढ़े जाते हैं अथवा कभी-कभी ऐसे प्रसंग किसी प्रकार के जलवायु परिवर्तन का प्रतीक होते हैं, जिससे मनुष्य अस्वस्थ होता हो और उससे सतर्क रहने के लिए ऐसे किसी लोक विश्वास की रचना की गई हो।

पूर्वोत्तर भारत विशेषकर बंगाल-असम (असम 1874 ई. से पूर्व बंगाल प्रेसिडेंसी का भाग था।) के संबंध में एक जनश्रुति प्रचलित है कि यहाँ की स्त्रियाँ बड़ी सुंदर, चतुर और कालाजादू करने में माहिर होती हैं। जो भी पूर्वोत्तर जाता है, ये स्त्रियाँ उन्हें भेड़ा, बकरा बनाकर आपने पास रख लेती हैं। ‘देश भीतर देश’ उपन्यास में इस प्रकार का प्रसंग देखने को मिलता है, जब विनय काम करने दिल्ली से गुवाहाटी जाने वाला होता है “एक दोस्त ने ये कथा भी सुनाई थी- गुवाहाटी का असली नाम कामरूप है। वहाँ कामरूपाएँ रहती हैं। पुरानी कहावत है कि पूर्वोत्तर में जो एक बार गया तो कामरूपाएँ उन्हें अपने जादू से वहीं बाँध लेती थीं। हमेशा-हमेशा के लिए। इसी के साथ उसकी नसीहत भी थी- बेटा, सँभल के रहना इन कामरूपाओं से। एक बार फँसा तो फिर दिल्ली दूर लगने लगेगी।”¹ कुछ इस तरह का प्रसंग लोहित उपन्यास में भी मिलता है, जब जोय अपने पिता के ट्रांसफर के कारण पढ़ाई के लिए असम से पंजाब जाती है “जोय कभी-कभी खुद को अजनबी महसूस करती थी, खास तौर से तब जब उसके दोस्त उससे असम के बारे में अजीब-अजीब बातें पूछते थे। काले जादू की बातें। ब्रह्मपुत्र के तांडव की बातें। वह उनका चेहरा देखती रह जाती थी जब वे पूछते थे कि क्या वहाँ की औरतें सच में आदमियों को तोता या बकरा बनाकर रख लेती हैं अपने पास?”² ब्रह्मपुत्र उपन्यास में भी एक जगह ऐसा प्रसंग आता है, जब लिली और नीरद आपस में बात करते हैं तो लिली कहती है- “बंगाल तो ‘ब्लैक मैजिक’ के लिए ‘फेमस’ है! लिली हँस-हँसकर दोहरी हो- गई, कहते हैं ढाका की स्त्रियाँ आदमी को मेंढ़ा बनाकर घर में छिपा लेती हैं।

यह तो सब गप्पबाजी है। नीरद ने गंभीर मुद्रा में कहा।

¹ सौरभ, प्रदीप. (2013). देश भीतर देश. पृ. 11

² सभरवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 131

गप्पबाजी कैसे है? मैं कहती हूँ, ढाका की स्त्रियाँ 'मैजिक' जानती होंगी, तो क्या वहाँ के पुरुष यह विद्या नहीं जानते होंगे?

अरे हाँ, डारलिंग! नीरद को भी हँसी आ गई, जानते हैं, जरूर जानते हैं; न जानते होते, तो क्या हडसन साहब की बेटी बिपन गुप्त के बेटे नीरद से विवाह करती? जादू वह जो सिर चढ़कर बोले। बिल्कुल ठीक। बंगाल में प्रवेश करने के कई रास्ते हैं, निकलने का एक भी रास्ता नहीं। और फिर उसने गंभीर होकर कहा, और जो एक बार असम पहुँच गया, वह भी वापस नहीं जाता।¹ यद्यपि उक्त संदर्भ में यह बात हास्य-व्यंग्य के तौर पर कही गई है, लेकिन आज भी कुछ लोगों के मन में इस तरह की गलत धारणाएँ देखने को मिल जाती हैं, हालांकि ये बातें पूरी तरह से असत्य और निराधार हैं। पुराने समय में जब आवागमन के अधिक संसाधन नहीं थे और जो लोग रोजगार की तलाश में कलकत्ता-गुवाहाटी जैसे बड़े शहरों के लिए पलायन करते थे, तो उनमें से कुछ वहीं विवाह करके बस जाते थे। क्योंकि असम-बंगाल की महिलाएँ सुंदर, शालीन और बुद्धिमान होती थीं, इसीलिए भी प्रवासी पुरुष उनसे प्रेम करते थे और तब से ये लोक विश्वस्त हो गए। जबकि वर्तमान में ऐसी दकियानूसी बातें केवल हास्य-विनोद तक ही सीमित रह गई हैं।

लोक विश्वास की रचना मनुष्य स्वयं कर लेता है, कभी-कभी यह नियम के रूप में जन्म लेता है, तो कभी-कभी केवल रोमांच भर के लिए। 'रूपतिल्ली की कथा' उपन्यास में भी इस प्रकार के लोक विश्वास के प्रसंग का वर्णन आता है- "मछेन्द्र नाथ यहीं के जादू में कैद हो गए थे। उनके उद्धार के लिए चले गोरखनाथ को आना पड़ा था। लेकिन वह जादू क्या था- वह बौद्ध और शैव के योगमाया का कौन-सा बनाव था कि इस तिरिया राज में जो भी आता था, सम्मोहित होकर रह जाता था।...भैरवी, तारा, योगिनी की तलाश में वह इस कदली वन के तिरिया राज में आता है, तो अपनी साधना के लिए और उसके लिए न कोई शुल्क देता है, न समझौता करता है। हाँ, स्त्री को अपने नाम पर वंश चलाने की इजाजत जरूर दे देता है। उसे हिरिया जिरिया बंगालिन का काला जादू जरूर सिखा देता है, जिससे वह

¹ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 251

दूर देश के पुरुष को भेड़ा-बकरा, तोता-मैना बनाकर पालती है। पालती है, उन्हें अपने पास रखती है, उनके साथ कहीं जाती नहीं है, जहाँ जाती है उन्हें साथ लेकर जाती है। यही उसकी स्वतंत्रता का मोल है।”¹ इस उद्धरण में यद्यपि मत्स्येन्द्रनाथ की कथा मिलती है जो थोड़ी बहुत तार्किक जान पड़ती है, क्योंकि सिद्धों-नाथों की भक्ति पद्धति और तंत्र-साधना का प्रभाव आज भी पूर्वोत्तर भारत में देखने को मिलता है, अतः संभव है कि इसी कथा से यह जनश्रुति विकसित हुई हो जो आगे चलकर अपने मूल स्वरूप से परिवर्तित हो गई हो।

धर्म, दर्शन और लोक-विश्वास मानव सभ्यता की चेतना के परस्पर पूरक आयाम हैं, धर्म जीवन को नैतिक अनुशासन और आस्था का ढाँचा प्रदान करता है, दर्शन उन आस्थाओं को तर्क, विवेक और आत्मचिंतन की कसौटी पर परखता है, जबकि लोक-विश्वास उन्हें जनसामान्य के अनुभवों, परंपराओं और जीवन-व्यवहार में मूर्त रूप देता है। शोधपरक दृष्टि से देखा जाए तो लोक-विश्वास दर्शन की जटिल अवधारणाओं को सहज और संप्रेषणीय बनाते हैं तथा धर्म को जनजीवन से जोड़ते हैं। वहीं दर्शन लोक-विश्वासों में व्याप्त अंधानुकरण को विवेकपूर्ण दिशा देता है और धर्म को रूढ़ि से बचाता है और धर्म इन दोनों के बीच मूल्य-संरचना और सामाजिक एकता का सेतु बनाता है। इस समन्वय से ही समाज में संतुलन, सांस्कृतिक निरंतरता और जीवन-दृष्टि का विकास संभव होता है। अतः धर्म, दर्शन और लोक-विश्वास का पारस्परिक संबंध मानव सभ्यता के बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास का आधार है।

5.3 संस्कृति संरक्षण और अस्मिताबोध

पूर्वोत्तर भारत पर आधारित उपन्यासों के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इन रचनाओं में वहाँ के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन का सजीव चित्रण अवश्य मिलता है, परंतु सर्वाधिक मुखर रूप में जो पक्ष उभरता है, वह है- सांस्कृतिक संरक्षण और अस्मिता का प्रश्न। इन

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ.189-190

उपन्यासों में स्वतंत्रता के पश्चात् पूर्वोत्तर और भारतीय संघ के मध्य उत्पन्न दूरी को गहराई से अनुभव किया जा सकता है। पूर्वोत्तर को अक्सर केवल उसकी प्राकृतिक सुंदरता, लोक कला या मानव वैज्ञानिक जिज्ञासा के स्तर पर देखा गया है- जैसे कोई संग्रहालय का नमूना, न कि एक जीवंत सांस्कृतिक इकाई। पूर्वोत्तर सदैव अपनी सांस्कृतिक पहचान के प्रति सजग रहा है। यह क्षेत्र बहु सांस्कृतिक और बहुभाषिक विविधताओं से युक्त है, फिर भी इसकी अस्मिता को तथाकथित मुख्यधारा की दृष्टि में परिधीय माना गया। परिणामतः वहाँ के साहित्य और जन-चेतना में पहचान का प्रश्न एक प्रमुख विषय के रूप में उभरा। विभिन्नता, पहचान और अलगाव ये तीनों ही अवधारणाएँ पूर्वोत्तर के सांस्कृतिक विमर्श के केंद्र में हैं।

संस्कृति संरक्षण-

पूर्वोत्तर भारत अपनी बहुजातीय, बहुभाषी और बहुसांस्कृतिक पहचान के कारण भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य में विशिष्ट स्थान रखता है। इस क्षेत्र की संस्कृति, लोक परंपराओं, जनजातीय जीवन-पद्धतियों, प्रकृति-केंद्रित विश्वासों, लोकनृत्यों, संगीत, हस्तशिल्प और मौखिक साहित्य से समृद्ध है। किंतु वैश्वीकरण, शहरीकरण, औद्योगिक विकास और आधुनिक जीवन-शैली के प्रभाव से यह सांस्कृतिक विरासत निरंतर चुनौतियों का सामना कर रही है। ऐसी स्थिति में संस्कृति संरक्षण एक गंभीर चुनौती बनकर उभरती है। संस्कृति संरक्षण का अर्थ केवल परंपराओं को संजोना नहीं, बल्कि उन्हें समयानुकूल बनाए रखते हुए पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करना है। इसके लिए लोक भाषाओं का संरक्षण, पारंपरिक ज्ञान व प्रणालियों का दस्तावेजीकरण, लोक कलाओं को प्रोत्साहन तथा शिक्षा में स्थानीय संस्कृति का समावेश आवश्यक है। आज पूर्वोत्तर की कई जनजातीय भाषाएं अपनी विलुप्ति के कगार पर खड़ी हैं, आधुनिक उपकरणों के आगमन से कई पारंपरिक वस्तुओं को खरीददार नहीं मिलता, अंग्रेजी मीडियम स्कूलों के बढ़ते वर्चस्व के कारण जनपदीय भाषाएं अपनी चमक खोती जा रही हैं, आदि ऐसे कई उदाहरण हैं जो चिंताजनक हैं।

‘प्रेमवल्लरी’ उपन्यास में ओई-दीपेश संवाद के माध्यम से लेखक ने जनजातीय संस्कृतियों के संरक्षण पर प्रकाश डाला है- “परंतु दीपेश, हम आदिवासियों की एक चिंता बहुत जबरदस्त है। मैं आपको बताना नहीं चाहती थी कि कहीं आप बुरा न मान जाएँ” ओई ने कहा।

दीपेश फौरन बोला, मैं पढ़ा-लिखा हूँ, बुरा क्यों मानूँगा? तुम बेखौफ हर बात कह सकती हो।

दीपेश, दुःख की बात यह है कि देश क्या विश्व के बहुत सारे समाज हैं, जो आधुनिकता के चलते अपनी पहचान तक खो चुके हैं। हम हैं कि हजारों साल बाद भी अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण रखकर बैठे हैं। हम उस पर मान करते हैं। यही हमारी शक्ति भी है।

शांति प्रिय होना हमारी आदत है, हम लोग सीधे-सच्चे और सरल हैं, पर कायर या कमजोर बिल्कुल नहीं हैं। पर फिर भी शहरी और सभ्य कहलाने वाले लोग हमारी विचारधारा और धर्म को बदलने का प्रयास लगातार करते हैं। ओई कुछ गुस्से में तेज-तेज बोल रही थी।

हूँ, यह तो वास्तव में बहुत चिंता का विषय है? कोई भी किसी की अस्मिता से खिलवाड़ करने का अधिकार नहीं रखता। हाँ, हरेक को अपनी अस्मिता की रक्षा करने का पूरा अधिकार है। भारतीय संविधान में उसके लिए अधिकार दिए गए हैं।” दीपेश ने ओई की बात का समर्थन किया।

दीपेश, हम लोग कहते हैं कि ‘आतुरतों आन दोनी’ यानी हे सूर्यदेव हमें शक्ति दो। पर हमारी समस्या यह भी है कि हमारा समाज जनजातियों में बँटा हुआ है। न हमारी सामूहिक कार्य पद्धति है, न पूजा पद्धति, न ही एक-सा तंत्र। हम दोनी-पोलो यानी सूर्य-चंद्र उपासक हैं। पर दोनी-पोलो को मानने वाले तक का न कोई संगठन है, न ही कोई व्यवस्थित श्रद्धा का केंद्र।” ओई ने समाज की मजबूरी को उजागर किया।

मगर अब तो प्रायः सभी समाजों में यहाँ भी अच्छी प्रगति हुई है। अब तो यहाँ भी नायले और गांगिन बन रहे हैं, ऐसा मैंने सुना है। लिखित पूजा के तरीकों तथा भाषा और लिपि पर काम हो रहे हैं। मुझे जानकर खुशी हुई कि सृष्टि की स्थापना के समय से ही रवि एवं चंद्र की पूजा का प्रावधान चला आ रहा है। जो यहाँ आप लोगों की जनजातियों में अक्षुण्ण है। वास्तव में यह बहुत बड़ी बात है। पर इतना जरूर कहूँगा कि आप लोगों के समाज में भी समय के साथ ही कुछ कुरीतियाँ भी प्रवेश पा रही हैं। आप

लोगों को उससे भी बचना होगा। अपनी संस्कृति को माँ समझकर उसकी रक्षा करें। यही आपका धर्म है।”¹ यह चिंतन-संवाद दर्शाता है कि पूर्वोत्तर की सांस्कृतिक रक्षा के लिए न केवल पूर्वोत्तर बल्कि देश के अन्य हिस्से के लोग भी जागरूक हैं, क्योंकि वे भी अपने देश की सांस्कृतिक विविधता से प्रेम करते हैं। वास्तव में संस्कृति संरक्षण के ऐसे प्रयास दोनों तरफ से होने होंगे, जिसकी संस्कृति है केवल वही उसे बचाए ऐसी सोच से हमें बचना होगा।

संस्कृति के प्रवाह-कारकों में धर्म की एक बड़ी भूमिका है, धार्मिक पर्व-त्यौहार एवं मान्यताएं भी संस्कृति के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ब्रिटिश हुक्मरानों के लिए पूर्वोत्तर भारत शुरू से ही दुर्गम क्षेत्र रहा, अतः उसे प्रभाव में लेने के लिए उन्होंने ईसाई मिशनरियों के माध्यम से धर्म परिवर्तन का रास्ता चुना, यद्यपि मिशनरियों ने लोगों की सच्चे दिल से सेवा की, परंतु उनका वास्तविक उद्देश्य तो पूर्वोत्तर भारत को उपनिवेश बनाना था। पूर्वोत्तर भारत के पहाड़ी अंचलों में रहने वाले अधिकांश जनजातीय समाज प्रकृति-पूजक थे, जो बाद में ईसाई बन गए। ‘मुक्ति’ उपन्यास में इस प्रकरण की विस्तार से चर्चा की गई है- “ये लोग बड़े ही स्वतंत्र प्रकृति के होते हैं और किसी का भी नियंत्रण अपने ऊपर सहने को तैयार नहीं होते। कछार जिले में शासन कर रहे अंग्रेजों ने जब इनकी स्वतंत्रता में बाधा डालनी शुरू की, तो सन् 1871-72 में इन्होंने कछार पर हमला कर दिया और एक बहुत बड़े अंग्रेज अधिकारी की कन्या को भी जबरन उठा लाए। जिसे छुड़ाने के लिए अंग्रेजी फौजों ने कई बार चढ़ाईयाँ कीं। वह कन्या तो अंततः लुशाई ही बन गई। फिर भी सन् 1890 तक अंग्रेजों ने इस पूरे क्षेत्र को अपने शासन में मिला लिया। 1891-92 में उन्होंने इसे उत्तरी लुशाई और दक्षिणी लुशाई हिल्स के नाम से दो जिलों में बाँट दिया। मगर फिर 1899 में इन्हें एक कर लुशाई हिल्स नाम देकर असम प्राविन्स के शासन में रख लिया। तब से यह अंग्रेजी शासन के अंतर्गत ही रहा है। सन् सैंतालीस में भारत स्वतंत्र होने के बाद से ही इनमें एक नई जागृति आई है और अपनी एक विशेष जाति लुशाई के ही नाम से अपने आप को जाने जाने का ये लोग विरोध करने लगे हैं। वे लोग अब अपने को मिजोउ और अपने प्रदेश को

¹ मलिक, राजकुमार. (2019). प्रेमवल्लरी. पृ. 94-95

‘मिजोउरम’ कहलवाने की माँग करने लगे हैं। आरंभ में इनमें से अधिकांश आदिम धर्म, हिंदू धर्म, और बौद्ध धर्म के मानने वाले थे। परंतु अंग्रेजी शासन के साथ-साथ इंग्लिश-फ्रेंच और अमरीकी ईसाई मिशनरियों का यहाँ ऐसा जाल फैला और जगह-जगह स्कूल कालेज तथा अत्यंत दुर्गम स्थलों पर भी बहुत ही ऊँचे किस्म के हॉस्पिटल बनवाकर रोग-महामारी में सहायक हो-होकर इन मिशनरियों ने इन पर ऐसा प्रभाव डाला कि ये लोग धीरे-धीरे ईसाई बनने लगे। शेष भारत के लोग इन्हें जंगली, असभ्य और नासमझ समझकर इनसे कटते रहे, परिणामस्वरूप इन्हें श्रेष्ठ मानवोचित दर्जा देनेवाले ईसाई पादरियों पर इतना भरोसा होने लगा। अब तक लगभग सत्तर प्रतिशत लोग क्रिश्चियन धर्म अपना चुके हैं। हिंदुओं, मुसलमानों और बौद्धों की संख्या बहुत कम रह गई है।¹ धार्मिक विश्वासों के आधार पर देखें तो वास्तव में कोई भी धर्म खराब या कमतर नहीं है, सारे धर्म मानव कल्याण का ही संदेश देते हैं, लेकिन किसी धर्म को त्यागने से उससे जुड़ी संस्कृति भी नष्ट हो जाती है।

धर्म परिवर्तन जैसे उदाहरणों से संस्कृति हनन का दृश्य हमें ‘रूपतिल्ली की कथा’ उपन्यास में देखने को मिलता है। जहाँ रूपतिल्ली की चोटी पर खड़ा ‘डिडेई’ का पेड़ खासी लोगों की संस्कृति और आस्था का प्रतीक था, उस पेड़ को लोग ‘सुरतरु’ कहते थे। जब पादरी प्रलोभन से लोगों को ईसाई नहीं बना पाया तो संस्कृति हनन की चाल चली। डिडेई के पेड़ के संबंध में मान्यता थी कि उसकी रक्षा देवता करता है और कहीं से पेड़ कटे तो रात में एक बाघ उसे चाटकर पहले जैसे कर देता है। वह पेड़ काटने को कोई तैयार नहीं था, इसीलिए पादरी ने एक बाघ को मरवाकर रातों-रात वहाँ फेंकवा दिया, जिसे देख फिर मजदूरों ने पेड़ काटना शुरू किया। “डिडेई का काँपना बढ़ गया था। हर चोट के साथ थोड़ा झुक जाता। तब लगता कि वह झुक जरूर रहा है, लेकिन खड़ा रहने के लिए पूरी ताकत लगाए हुए है। कितना लगाता? एक बार वह ताकत तनते-तनते भरभरा कर टूट गई। उसके साथ ही चतुर्दिक चित्कार मारता, अकूत हहास लिए वह सुरतरु अररा कर जमीन पर भहरा पड़ा। रूपतिल्ली के सिर पर जो ताज की तरह विराजता था, वह कुरूप कंकाल की तरह पड़ गया था। गिरते ही अपने ही बदन की

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 369

भार से उसकी तमाम टहनियाँ टूट कर-कि जैसे हड्डियाँ टूटी हों-इधर-उधर उछले गयीं। उन्हीं में से एक छोटी पर ठोस और मोटी टहनी पहले उछल कर / फिर लुढ़क कर जोर राय के सिर पर जा लगी। उसकी चोट से जोर राय की खुली आँखें बाहर निकल आयीं। उन्हीं के सहारे उसके प्राण-पखेरू भी निकल गए।”¹ यहाँ पेड़ का कटना सिर्फ एक प्राकृतिक विघटन ही नहीं बल्कि प्रकृति-पूजक समाज की संस्कृति पर प्रहार था, जिससे स्थानीय लोगों को उनकी संस्कृति व परंपरा से पृथक करना था।

लोक संस्कृति में अपने इतिहास और परंपरा का परिचय लोगों व स्थानों के नामों में भी मिलता है, ‘लोहित’ उपन्यास में इस संदर्भ का चित्रण मिलता है- “शताब्दियों पहले एक रानी हुई थीं-सती जोयमती, अहोम राजा गदाधर सिंघा की रानी। अपने दुश्मन राजा से बचने के लिए गदाधर कहीं चले गए थे। साथ ही उनका बेटा भी छिप गया था। रानी से उनके बारे में जानने की बहुत कोशिश की गई। उसे एक खेत में एक कँटीले पेड़ के साथ बाँधकर रखा गया था। हर तरह का अत्याचार उस पर किया गया। बहुत यातनाएँ दी गई, लेकिन वह चुप रही। सब कुछ सहती रही। राजा का पता नहीं बताया। इन्हीं अत्याचारों को सहते-सहते उसकी मृत्यु हो गई। इसलिए उसे सती जोयमती के नाम से जाना जाता है।..... इसके बाद गदाधर ने सेना एकत्र की और दुश्मन राजा को मौत के घाट उतारकर राजगद्दी पर विराजमान हुआ। और वह जो तालाब है न सिबसागर में, जोयसागर वह रानी के बेटे ने बनवाया था अपनी माँ की याद में।”² इस प्रकार जोयसागर नाम को जानने वाला उस महान अहोम साम्राज्य से परिचित होता है और अपने इतिहास एवं संस्कृति पर गर्व करता है।

भारतीय इतिहास के वीर योद्धाओं में ‘लाचित बरफुकन’ का नाम अमर है, जिसने 17 बार मुगलों को युद्ध में हराकर असम की रक्षा की थी। इतिहास में प्रसिद्ध ‘सराईघाट का युद्ध’ एकलौता युद्ध है, जो ब्रह्मपुत्र नदी के ऊपर नाव में लड़ गया। ‘जय आई असम’ उपन्यास में लाचित की शौर्यगाथा का वर्णन मिलता है- “महावीर लाचित बरफुकन! अमृत फुकन के हृदय में इतिहास का वह रक्त रंजित पृष्ठ

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 333

² सभरवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 24

सहसा खुल गया। लाचित बरफुकन, यह नाम ही असमीया जन-मानस में अद्भुत सिंहरण जगाता है। देश रक्षा के लिए जिसने अपने मामा तक का सिर उतार लिया था। इसी गुवाहाटी का तो वह बरफुकन था। इस गुवाहाटी के चप्पे-चप्पे पर उसी वीर की गाथा अंकित है। मध्यकालीन साम्राज्य विस्तार का खूनी इतिहास ! पूरब में असम, दक्षिण में मराठा मुगल-साम्राज्य को कील की भांति खटक रहे थे। मुगल शाहंशाह की विश्व-विजेता बनने की कल्पना के सबसे बड़े बाधक। इसी को उखाड़ फेंकने के लिए मुगल सेनापति मीरजुमला ने तूफान की भाँति आकर एक बार असम को जीत लिया जरूर, राजकीय सेना पराभूत हुई, मगर मुगल सेना पर प्रकृति की मार पड़ने लगी। मीरजुमला की सेना तहस-नहस हो गई, उसे भी अंततः जान गवाँनी पड़ी। औरंगजेब का क्रोध और ज्यादा भड़क उठा था। उसने दूसरी बार सेनापति रामसिंह को भेज दिया था, असम को इस बार बिलकुल नेस्त-नाबूद कर दो!... गुवाहाटी पर खतरा बढ़ गया। उत्तरी किनारे से दूर ही मुगल सेना का गतिरोधन किया जाता तो नौ सेना और स्थल सेना के सम्मिलित प्रचंड आक्रमण से गुवाहाटी को बचा पाना असंभव था। सेनापति लाचित ने इसी कारण स्थल सेना का गतिरोध करने के लिए उत्तरी ओर खाई खोदने का और मोर्चा बनाने का तय कर लिया था। मुगल-सेना प्रचंड वेग से बढ़ती आ रही थी। समय नहीं था। रात भर के अंदर खाई नहीं खुद जाती तो सारी योजना पर पानी फिर जाता! काम कठिन था। इसीलिए तो लाचित ने अपने परम विश्वस्त मामा पर उसका भार सौंपा था। आधी रात को लाचित ने निरीक्षण किया, मामा अपेक्षित तत्परता न दिखा सका था, काम पूरा होना असंभव था। उसकी ढिलाई से लाचित का दिल जल उठा, तुरंत तलवार से उसका सिर उतार लिया। कहा-‘देशतकै मोमाई डाडर नहय’, अरे देश से मामा बड़ा नहीं। और इसी महान प्रेरणा से सारी जाति को अनुप्रेरित कर उसने रामसिंह को गहरी शिकस्त दी। स्थल सेना बुरी तरह हारी ही, छोटी-सी मगर साहसी असमीया नौ सेना ने शराइघाट में विशाल मुगल नौ सेना को पराजित कर खदेड़ दिया। आज इसीलिए लाचित का नाम जहाँ हर असमीया देशप्रेमी के लिए- प्रेरणा स्रोत है, दिल में ओज पैदा करता है, वहीं दुश्मन के दिल में दहशत भी।”¹ लाचित बरफुकन असम के

¹ वर्मा, नवारुण. (1983). जय आई असम. पृ. 47-48

महान नायक हैं, जिनकी वीरता के लिए 'राष्ट्रीय रक्षा अकादमी' द्वारा सर्वश्रेष्ठ कैडर को लाचित बरफुकन के नाम पर बहादुरी का मेडल दिया जाता है। प्रतिवर्ष 24 नवंबर को असम राज्य सरकार द्वारा 'लाचित दिवस' का आयोजन किया जाता है। आज भी लाचित की वीरता असमीया जनमानस को अपने स्वर्णिम इतिहास पर गौरवान्वित करते हुए शौर्य और आवेग से भर देती है। 'जय आई उपन्यास' में जब बांग्लादेशी घुसपैठ के विरुद्ध आंदोलन होता है तब हर असमीया युवक लाचित की वीरता से प्रेरित होता है और असम के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने हेतु तैयार हो जाता है।

संस्कृति संरक्षण की प्रक्रिया, लोकप्रेम, अपनी मान्यताओं पर अटूट श्रद्धा तथा राजकीय संरक्षण जैसे माध्यमों से संभव है, किंतु कभी कभी कुछ उपद्रवी और असामाजिक तत्त्व इसका गलत व्यवहार करते हैं। 'आहुति' उपन्यास में कुछ कट्टरवादी संगठन मणिपुरी संस्कृति के हिमायती बन जाते हैं और किसी मणिपुरी का गैर-मणिपुरी से विवाह-संबंध करने पर हिंसा पर उतारू हो जाते हैं। अपने विवाह के संदर्भ में चानु कहती है- "क्यों, मेरी शादी की फिक्र तुम लोगों को क्यों होने लगी है?"

अरे, क्या बात करती हैं, आप हमारी बहन हैं, हमारे परिवार में कोई संबंध होगा तो हम सबों की इज्जत बढ़ेगी, आपका जीवन सुखी होगा। हमें तो यह सब सोचना ही है।

देखो, तुम लोगों को यह सब सोचने की जरूरत नहीं। जब शादी करनी होगी, मैं कोई निर्णय लेने में सक्षम हूँ। दोनों एक साथ बोल उठे, 'क्यों, आप किसी मयांग (विदेशी, मणिपुर से बाहर के आदमी को मयांग संबोधित करते हैं) से शादी करोगी क्या ? बाहर रहकर आने का मतलब यह नहीं कि आप को यह छूट मिल जाएगी।

चानु के मन में क्रोध का लावा फूट पड़ा। उसने तीखी आवाज में कहा, अगर मन करेगा तो कर लूँगी। यह मेरा व्यक्तिगत मामला है, इसमें किसी को पड़ने की जरूरत नहीं।

आप मयांग से शादी नहीं कर सकती। पूरा समाज इसके विरोध में है। मणिपुर के नवयुवक इसको बरदाश्त नहीं करेंगे, बहुत बड़ा बवाल मच जाएगा।

अंडरग्राउंड संगठनों ने फरमान निकाल दिया है, ऐसा करने वाले को बख्शा नहीं जाएगा। भूल कर भी ऐसा नहीं सोचिएगा।

चानु को उन्होंने चेतावनी दी।”¹ चानु इसके विरुद्ध मनोज से शादी करती है, शादी के बाद उनपर हमला होता है, जिसमें गोली लगने से चानु की मौत हो जाती है। जबकि मणिपुरी अंडरग्राउंड संगठनों को लग रहा था कि वे अपनी संस्कृति की रक्षा कर रहे हैं, लेकिन संस्कृति संरक्षण का यह तरीका पूर्णतः गलत है। संस्कृति कभी भी संकीर्णतापूर्वक सहेजी नहीं जा सकती, उसका अन्य संस्कृतियों से समन्वय ही उसे दीर्घजीवी बनाता है। संस्कृति संरक्षण के संदर्भ में विचार करते हुए यह आवश्यक रूप से देखा जाना चाहिए कि संस्कृति को संरक्षित करने के लिए किस तरह के मार्ग अपनाए जा रहे हैं।

‘लोहित’, ‘जय आई असम’, ‘आहुति’ और ‘देश भीतर देश’ जैसे उपन्यासों में संस्कृति के नाम पर एकजुट होकर गलत ढंग से संस्कृति की व्याख्या की जा रही है, जिससे आम जनजीवन प्रभावित होता है। लंबे समय तक पूर्वोत्तर भारत को ऐसे अलगाववादी ताकतों का सामना करना पड़ा है, जिनके अनुसार भारत के अन्य क्षेत्रों से आए लोग पूर्वोत्तर में विदेशी है और उन्हें बाहर निकालना है। हालांकि, इनकी बातें पूरी तरह गलत भी नहीं है, क्योंकि कुछ बांग्लादेशी अवैध तरीके से सीमावर्ती पूर्वोत्तर राज्यों में घुसपैठ कर चुके हैं, लेकिन उस कारण सभी को तकलीफ पहुंचाना कोई आंदोलन नहीं है। ‘जय आई असम’ उपन्यास में इसी समस्या पर विचार किया गया है- “नरेन के विचार से उग्र जातीयतावादी भावना को भड़काकर असम की अस्तित्व रक्षा का सपना देखने वाले गलत रास्ते पर हैं। अगर इसी भावना को हर जगह भड़का दिया जाए तो क्या सारा देश टूट बिखर नहीं जाएगा? उसने कई बार अपना विचार प्रकट किया है कि जन-जातीय, गैर-जनजातीय, चाय-मजदूर, हिन्दू-मुसलमान, ईसाई, बंगाली, हिन्दुस्तानी, सिख जो भी असम में हैं असमीया हैं, उन्हें असमीया-संस्कृति का अंग मानकर उन्हें इस संस्कृति को अपनाने की ओर प्रेरित करना होगा। उन्हें असमीया भाषा की ओर आकर्षित करना होगा। मूलतः असमीया भाषा-संस्कृति एक विशाल जन समुदाय की भाषा-संस्कृति

¹ पाण्डेय, श्रीधर. (2008). आहुति. पृ. 137-138

बनेगी। असम का अस्तित्व इस प्रकार बचेगा ही नहीं अपितु फूले-फलेगा। मगर फूट के स्वार्थी सौदागर क्या कभी इसे संभव होने देंगे? वे वोट मांगेंगे बंगाली के नाम पर, जन-जातीय के नाम पर, हिंदू या मुसलमान के नाम पर, जनता को आपस में लड़वाकर उस आग में अपना हाथ सेंकना ही तो उनका आदर्श है! मगर नक्काखाने में तूती की आवाज जैसी उसकी भी आवाज दब गई है। उसे आज कौन सुनने वाला है?”¹ यह उद्धरण प्रमाणित करता है कि समन्वयवादी नीति से ऐसी समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। अतः आवश्यक है कि शिक्षा व संस्कृति की सही अवधारणा लोगों तक पहुंचाई जाए ताकि लोग विवेकसम्मत बने और अपनी संस्कृति और राष्ट्र के समुचित विकास में भागीदार बनें।

अस्मिताबोध-

पूर्वोत्तर भारत के संदर्भ में कृपाशंकर चौबे का मत प्रासंगिक है- “विभिन्नता को लेकर, पहचान को लेकर, अलगाव को लेकर, बहुत सारे प्रश्न हमारे सबसे अहम हैं। उनकी जो पहचान है, वह प्रमुख प्रश्न हो गया है। विविधता वाले जीवन में किसी एक समूह का वर्चस्व नहीं होना चाहिए”² किंतु वास्तविकता यह है कि इस विविधता को स्वीकार करने की बजाय मुख्यधारा ने अपने प्रभुत्व को स्थापित करने का प्रयास किया, जिसके कारण पूर्वोत्तर के समाज में अलगाव और असंतोष की भावना गहराती गई। पूर्वोत्तर के लोग अपने को आज भी शेष भारत से अलग अनुभव करते हैं। पूर्वोत्तर भारत के लोगों के साथ भारत के अन्य हिस्सों में होने वाले नस्लीय भेदभाव, आपत्तिजनक संबोधन जैसे- चिंकी, चाइनीस, कोरोना वायरस आदि भी इस अस्मिता संकट के प्रमुख कारण हैं। यह स्थिति इतनी गहरी हो चुकी है कि इसकी प्रतिक्रिया पूर्वोत्तर राज्यों में भी देखने को मिलती है, वहाँ की स्थानीय भाषाओं में ‘बाहरी’ व्यक्ति के लिए विशेष संज्ञाएं प्रचलित हैं- ‘वाई’, ‘दिकु’, ‘मयांग’, ‘आउटसाइडर’

¹ वर्मा, नवारुण. (1983). जय आई असम. पृ. 98

² चौबे, कृपाशंकर. (2018). हिंदी और पूर्वोत्तर. पृ. 7

आदि। यह केवल भाषाई प्रयोग नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अलगाव की अनुभूति का प्रतीक है। वस्तुतः अपने ही देश में अपनी अस्मिता का संकट भारत की एकता और अखंडता के लिए निराशाजनक है।

‘उत्तर-पूर्व’ उपन्यास में अस्मिता का प्रश्न केवल सामाजिक या सांस्कृतिक स्तर का नहीं है, बल्कि यह एक गहन मानसिक और अस्तित्वगत संकट का द्योतक है। ‘इराबो’ जैसा पात्र इस संकट का सजीव प्रतीक बनकर उभरता है। दिल्ली जैसे महानगर में पहुँचने के बाद जब वह अपने ही देश में ‘पराया’ सिद्ध होता है, तब उसके भीतर अस्मिता के लोप का भय गहराने लगता है। वह अपने घर, अपने राज्य मणिपुर की ओर लौट जाने को विवश हो जाता है। “दिल्ली में सारे पूर्वोत्तर भारत के विद्यार्थी अपमानित होते हैं, अजनबियत के शिकार होते हैं और उन्हें दिल्ली में वैसे ही लगता है जैसे किसी दूसरी दुनिया में आ गए हो जो उनके प्रति तनिक भी सहानुभूति न रखती हो। चौराहे पर खड़े युवा सबसे पहले तो आकर्षक रोजी-रोटी वाला रास्ता चुनते हैं। कुछ संवेदनशील आदर्शवादी राहों पर भी भटकते हैं।”¹ यह घटना केवल एक व्यक्ति के अनुभव का चित्रण नहीं, बल्कि उस ‘अजनबियत की सामूहिक चेतना’ का दर्पण है, जिससे लगभग हर पूर्वोत्तरी व्यक्ति गुजरता है। दिल्ली और अन्य महानगरों में पूर्वोत्तर के युवाओं को अक्सर तिरस्कार, उपेक्षा और नस्लीय भेदभाव का सामना करना पड़ता है। इराबो के साथ हुआ अनुभव- टेंपो चालक द्वारा ठगा जाना, पुलिस द्वारा उसे ‘चीनी’ समझकर हिरासत में रखना प्रतीकात्मक रूप से उस व्यापक मानसिकता को प्रकट करता है जहाँ भारत की ‘मुख्यधारा’ अपने ही नागरिकों को पहचानने में असफल रहती है। यह केवल सामाजिक असंवेदनशीलता नहीं, बल्कि राष्ट्रीय चेतना की खंडित दृष्टि का परिणाम है।

पूर्वोत्तर और शेष भारत के बीच की दूरी केवल भौगोलिक नहीं, बल्कि मानसिक और सांस्कृतिक है। बहुत से लोगों को यह तक ज्ञात नहीं कि असम, नागालैंड, मणिपुर, मिजोरम, त्रिपुरा, मेघालय और अरुणाचल प्रदेश एवं सिक्किम- ये आठों राज्य भारत के ही अंग हैं। कुछ लोग तो अब भी मणिपुर या अरुणाचल प्रदेश को चीन से जोड़ते हैं। यह संवादहीनता और अज्ञानता पूर्वोत्तर के प्रति

¹ वर्मा, लाल बहादुर. (2002). उत्तर पूर्व. पृ. 41

उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण को जन्म देती है। “हिंदुस्तान उत्तर प्रदेश ही तो नहीं। उत्तर-पूर्व को हम कितना जानते हैं? वह हिंदुस्तान का अंग नक्शे में ही तो है। हाँ, तब हो जाता है जब हिन्दुस्तान की फ़ौज वहाँ के कुछ लोगों को देशद्रोही सिद्ध करने में कामयाब हो जाती है। बेहद अनोखा और अज्ञात है वह क्षेत्र। उसे देखूंगा और उस प्रक्रिया में हिंदुस्तान बन बैठे ज्ञात-अज्ञात क्षेत्रों की भी खोज कर लूँगा। बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझनी बाकी हैं।”¹ यह कथन भारतीय मानसिकता की विडंबना को उजागर करता है, जहाँ पूर्वोत्तर को ‘भारत का हिस्सा’ केवल नक्शे तक सीमित मान लिया गया है, जीवन और अनुभव की वास्तविकता में नहीं।

लाल बहादुर वर्मा के उपन्यास में प्रोफेसर रमेई का चरित्र पूर्वोत्तर की अस्मिता के इस द्वंद्व का उत्कृष्ट उदाहरण है। वे मणिपुर के आदिवासी समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं, पर साथ ही अपने भीतर कई परतों वाली पहचान भी धारण करते हैं। उनकी अस्मिता एक साथ स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय तीनों स्तरों पर विद्यमान है। जैसा कि लेखक लिखते हैं- “जैसे मणिपुर में ही देखें। व्यक्ति की कितनी अस्मिताएँ हैं। एक तो तुम मैतेयी हो, फिर मणिपुरी हो और भारतीय भी। स्थितियाँ सामान्य हो तो ऐसी तो हर व्यक्ति के साथ होती है। हर आदमी की कई-कई पहचान होती हैं। जैसे भारत जैसे विराट देश में अनगिनत सांस्कृतिक इकाइयाँ हैं, वैसे ही भारत के छोटे-से-छोटे राज्य में भी, मणिपुर और सिक्किम में भी, कहीं भी। प्रो. रमेई इसी का सबसे बेहतरीन उदाहरण है, क्योंकि लाल बहादुर वर्मा के अनुसार- “वह तामेंगलोंग में रमेई, इंफाल में मणिपुरी और दिल्ली में भारतीय अस्मिता के प्रतीक माने जाते थे और जहाँ जो ज़रूरी हुआ, वहाँ उसी पहचान को प्रमुखता देते थे।”² यह बहुस्तरीय पहचान पूर्वोत्तर के व्यक्ति के भीतर चल रहे निरंतर आंतरिक संघर्ष को व्यक्त करती है। एक ओर वह अपने आदिवासी और क्षेत्रीय अस्तित्व से जुड़ा रहना चाहता है, दूसरी ओर उसे भारतीय राष्ट्र की व्यापक पहचान में

¹ वर्मा, लाल बहादुर. (2002). उत्तर पूर्व, पृ. 80

² वही, पृ. 53

समाहित होना भी आवश्यक लगता है। यही द्वंद्व स्थानीय अस्मिता बनाम राष्ट्रीय अस्मिता आज भी पूर्वोत्तर की सबसे बड़ी सामाजिक-राजनीतिक चुनौती बना हुआ है।

प्रदीप सौरभ के उपन्यास 'देश भीतर देश' में मिल्की डेका द्वारा विनय को लिखा गया पत्र उसकी आत्मा की सघन पीड़ा को दिखाता है- "मैं कैसे विश्वास करूँ कि मेरा-तुम्हारा देश एक है। यदि ऐसा होता तो तुम्हारे ही देश का वासी पंजाबी कमांडो बनकर मेरे घर के भीतर नहीं घुसता। तुमने मेरे भीतर अनगिनत राग बजाए, लेकिन उन मीठे अहसासों से कहीं ज्यादा मुझे वो पंजा याद आता है, जिसने मेरे वक्षों को बेरहमी से दबाया था। मुझे नहीं भूलता है कि मेरे लोगों को तुम्हारे लोगों ने चाय की पत्ती के बदले नमक दिया। एक मीटर कपड़े को चारों तरफ से नाप कर चार मीटर की कीमत वसूली। हमारे जल, जंगल, जमीन को लूटा। हमारे बेगुनाह लोगों को तुम्हारी फौज ने बेरहमी से शहर से लेकर जंगल तक मारा। लूट और लूट ही तुम्हारा सच है। यही नहीं मेरी बहन की लाश दिल्ली से यहाँ आई थी। गुड़िया सी थी वह। भोली-भाली। उसे एक तुम्हारे यहाँ का लड़का दिल्ली ले गया था। ऊँचे-ऊँचे सपने दिखा कर। लेकिन उसने उसे दिल्ली में बेच दिया। मेरी बहन ने बहुत प्रतिरोध किया था। उसकी लाश में नाखूनों और हंटों की चोटें उसके प्रतिरोध की कहानी बता रहे थे। उसने किसी भी कीमत पर अपना शरीर भेड़ियों को सौंपने से मना कर दिया था। प्रतिरोध के दौरान वह तुम्हारे दिल्ली के जीबी रोड के एक कोठे से कूद गई थी। उसका शरीर क्षत-विक्षत था, जब उसकी लाश एक स्वयंसेवी संगठन के माध्यम से गुवाहाटी आई थी। ऐसे देश में मैं भला क्यों रहने जाती। मेरे अंदर तुम लोगों को लेकर एक गहरी अविश्वास की खाई है। बावजूद इसके मैंने तुम्हें प्यार किया। मुझे तुम औरों से अलग लगे। तुमने हमारी जीवन शैली को अपनाया। हमारी भाषा में हमसे बात की। तुमने मेरे लिए असमीया में कविताएँ लिखीं। लेकिन तुम भी यहाँ के न हो सके। औरत ही हमेशा आदमी की पिछलग्गू क्यों बने। औरत की इच्छा पर भी तो पुरुष फैसला ले सकता है। तुमसे यहाँ बसने के सिवा मैंने और कुछ भी नहीं माँगा था। तुम मेरी छोटी से इच्छा का सम्मान नहीं कर सके। तुम्हारे लिए हमेशा अपनी तरक्की की चाह सबसे

बड़ी रही।”¹ मिल्की की यह चिट्ठी विनय को अंदर तक झकझोर देती है। मिल्की की यह पीड़ा प्रतीकात्मक रूप से अस्मिता संकट और नस्लीय भेदभाव के भोगे हुए यथार्थ का प्रतिबिंब है। यहाँ मिल्की का विद्रोह एक साथ दो स्तरों पर देखा जा सकता है- एक तो पूर्वोत्तरीय निवासी के रूप में और दूसरा स्त्री के रूप में, जहाँ स्त्री को ही सारे त्याग करने पड़ते हैं।

‘प्रेमवल्लरी’ उपन्यास में जब दीपेश की कक्षा में विद्यार्थियों से संवाद के दौरान- “एक छात्रा उठ खड़ी हुई, सर, हम लोगों का भी मन होता है कि हम लोग यहाँ से निकलकर बाकी भारत के राज्यों में जाएँ। वहाँ के लोगों से मिलें-जुलें, वहाँ के संस्कारों, परंपराओं से कुछ सीखें। पर हम लोग वहाँ जाने से बहुत डरते हैं। ऐसा क्यों सर!... सर, हमारे यहाँ की कुछ लड़कियाँ बी.एड., एम.एड. या उच्च शिक्षा के लिए आगरा, दिल्ली, जयपुर कई जगह जाती हैं। पर उनके अनुभव अच्छे नहीं हैं। वे बताती हैं, हमें वहाँ चीनी माल कहा जाता है। लगभग हर जगह हमें 'चिंकी' कहकर चिढ़ाते हैं। हर जगह इतनी निगाहें हमें घूर रही होती हैं कि कई बार भूखी होने पर लड़कियाँ खाने के स्थानों पर नहीं जा पाती।” एक लड़की ने बड़े ही दुःखी स्वर में कहा।”² पूर्वोत्तर भारत के लोगों के साथ आए दिन ऐसी नस्लीय भेदभाव की खबरें देखने -सुनने को मिलती हैं, यद्यपि किसी भी व्यक्ति के साथ ऐसे व्यवहार के खिलाफ हमारे संविधान में कानून मौजूद हैं, लेकिन उस प्रक्रिया तक मनुष्य की अंतरात्मा दम तोड़ देती हैं।

‘नदी की टूट रही देह की आवाज’ में स्नेहलता बरुआ की कविता पूर्वोत्तर वासियों के अस्मिता संघर्ष को उजागर करती है-

“आप मेरे ऊपर दृष्टि डालते हैं

और देखते हैं मेरी आँखें

मेरी नाक मेरी त्वचा मेरा रंग

¹ सौरभ, प्रदीप. (2013). देश भीतर देश. पृ. 166

² राजकुमार, मलिक. (2019). प्रेमवल्लरी. पृ. 84

सुनते हैं मेरी भाषा
पूछते हैं मेरा विश्वास
करते हैं मेरे अतीत की चीड़-फाड़
विश्लेषित करते हैं मेरा वर्तमान
भविष्य को भाखते हैं
और मेरी प्रोफाइल बनाते हैं
मैं एक जिज्ञासा हूँ, एक नस्ली नमूना
राजनीति, इतिहास, नृत्य
आपका प्रभावशाली ज्ञान
सभी इस मूल प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हैं
कि एक भारतीय कैसा दिखता है?
एक भारतीय मेरी तरह दिखता है
मैं एक भारतीय हूँ।

यह कविता सुनते ही चेतिया फूकन आवेश में आ गये। बोल उठे, यह है एक असमिया का दर्द एक असमिया की छटपटाहट। भारत की मुख्य भूमि, हिंदी, हिंदू की हृद-भूमि हमें पहचानती ही नहीं। हमें पिछड़ा मानती है, गरीब मानती है, अजनबी मानती है, अन्य मानती है। पहले बंगाली कहती थी, अब 'चिकी' कहती है। हाशिये का आदमी मानती है। भारतीय राष्ट्रवाद बनाम दगाबाज आदिवासी की शब्दावली में सोचती है। भारतीय राष्ट्रवाद में हमें सम्मिलित करते समय हमें संदेह से देखती है। एक विरोधाभास मानती है। क्यों? क्योंकि हम उनसे भिन्न हैं। इसलिए वह हमें छिन्न-भिन्न कर रखना चाहती है। सच पूछिये तो वह सही करती है। हम भिन्न हैं। हमें अपनी भिन्नता को स्वीकार करना चाहिए और उसे पूरी तरह से प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।”¹ पूर्वोत्तर भारत के लोगों की यह

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2020). नदी की टूट रही देह की आवाज. पृ. 232-233

पीड़ा वास्तव में भारतीयता की परिभाषा पर प्रश्न चिह्न खड़े करती है जिसके लिए चेतिया फूकन जैसे लोग प्रयासरत हैं।

उत्तर-पूर्वी राज्यों के लोगों के साथ नस्लीय भेदभाव का एक प्रकरण 'देश भीतर देश' उपन्यास में मिलता है, जहाँ विनय दिल्ली से गुवाहाटी जाने से पहले जब अपने दोस्तों से मिलता है, "उनमें से एक और वाचाल दोस्त ने तो यहाँ तक कह दिया था- 'बच्चा, चिंकी माल एकदम चिकना होता है। ऊपर से नीचे तक। वहाँ रिश्तों की स्वच्छंदता के चलते एड्स भी खूब है। देश में सबसे ज्यादा एड्स से मरने वालों की तादाद वहीं है। सावधानी हटी और दुर्घटना घटी।'"¹ ऐसे कथन व्यक्ति की अज्ञानता और मर्दवादी सोच के धिनौनेपन को दर्शाते हैं, जहाँ स्त्री को केवल भोग की वस्तु समझा जाता है। यह बात स्पष्ट है कि आज के तथाकथित पढ़े-लिखे सभ्य समाज में लोगों को स्कूली स्तर पर ही भारतीय राज्यों के इतिहास, भूगोल और संस्कृति का बोध हो जाता है, फिर कैसे एक भारतीय दूसरे भारतीय को विदेशी कह सकता है? ऐसे में भारतीय न्याय व्यवस्था किसे दंडित करेगी? अपने ही देश में अपने नागरिकों के बीच अगर कोई भारतीय सुरक्षित नहीं है तो फिर वह कहां जाए? उपरोक्त उद्धरण इस प्रकार के कई प्रश्नों को जन्म देते हैं, जिनका समधान केवल आपसी भाईचारा और सांस्कृतिक मेल-जोल को बढ़ावा देना है।

भारत 'विविधता में एकता' का देश है। पूर्वोत्तर भारत इसका सजीव उदाहरण है। यहाँ की जनजातियाँ जैसे- नागा, मिजो, खासी, गारो, बोडो, चकमा, मिजो, न्यीशी, भूटिया आदि अपनी परंपराओं, देवी-देवताओं, लोक कथाओं और सामुदायिक जीवन के कारण आज भी अपनी विशिष्ट पहचान बनाए हुए हैं। परंतु जब इन्हें 'मुख्यधारा' की दृष्टि से देखा जाता है, तो अक्सर इन्हें 'अलग', 'पिछड़ा' या 'कम विकसित' कहा जाता है- यही वह मानसिकता है जो विविधता को डिफरेंस से डेफिसिट में बदल देती है। इस संदर्भ में गिरीश्वर मिश्र का कथन अत्यंत सार्थक है- "मुझे लगता है कि यह 'मुख्य' शब्द कहकर हम इस विविधता को अस्वीकार करते हैं। फिर वह मुख्य ही भारतीय हो जाता

¹ सौरभ, प्रदीप. (2013). देश भीतर देश. पृ. 11

है। फिर एक भाषा का ही आधिपत्य हो जाता है। एक खांचा बन जाता है। एक फ्रेमवर्क बन जाता है, जिससे हम सारी दुनिया को देखने की कोशिश करते हैं। इस विविधता के साथ कैसे चला जाए? विविधता से एक परेशानी तब पैदा होती है, जब डिफरेंस, डेफिसिट बन जाती है, जब विविधता कमी बन जाती है। हम एक तरह का कपड़ा पहनें और खाना खाएं, इससे हम परिचित हैं। दूसरा, दूसरी तरह का खाना खाए तो वह हमसे भिन्न है। इसी आधार पर हमसे कमजोर, खराब और बुरा है। ये सारी बातें हम देखने लगते हैं। ऐसे में डिफरेंस को आगे नहीं लेकर उस डिफरेंस को डेफिसिट में हम बदल देते हैं। कमजोरी में बदल देते हैं। अनेकता में एकता भारत की विशिष्ट पहचान है। सांस्कृतिक विविधता देश की पहचान है। इसी विविधता के लिए व्यापक दृष्टिकोण होना चाहिए, जिसमें दूसरे को भी जगह मिले।”¹ यह कथन भारतीय समाज की उस एकरूपताग्रस्त मानसिकता पर तीखा व्यंग्य है, जहाँ ‘मुख्यधारा’ का अर्थ धीरे-धीरे ‘एकरूप सांस्कृतिक मानदंड’ बन गया है। भारत की असली पहचान एकता में अनेकता में निहित है, जहाँ प्रत्येक समुदाय, भाषा, और संस्कृति को समान आदर मिले। पूर्वोत्तर के संदर्भ में यह दृष्टि और भी आवश्यक है, क्योंकि यहाँ की सामाजिक बनावट और जीवन-शैली शेष भारत से भिन्न होते हुए भी भारतीय संस्कृति का ही अभिन्न अंग है।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि हमें पूर्वोत्तर को ‘भारत का हिस्सा’ नहीं, बल्कि ‘भारत’ मानकर चलना चाहिए। केवल विकास योजनाएँ पर्याप्त नहीं हैं। संवाद, सम्मान और संवेदना ही वे सूत्र हैं जो उत्तर-पूर्व की अस्मिता को भारत की समग्र अस्मिता से जोड़ सकते हैं। आदिवासी अस्मिता का प्रश्न आज के भारत के संस्कृति और राष्ट्रत्व दोनों के लिए परीक्षा है। पूर्वोत्तर की अस्मिता के प्रति उपेक्षा, दरअसल भारत की आत्मा के प्रति उपेक्षा है। इसलिए ज़रूरी है कि ‘मुख्यधारा’ का अर्थ बदल दिया जाए, अब यह प्रभुत्व की नहीं, सहभागिता की धारा बने। भारत की असली ताकत उसकी विविधता है, वह विविधता जो नागा के गीतों में है, मिजो के नृत्य में है, खासी की मातृरेखीय संस्कृति

¹ चौबे, कृपाशंकर. (2018). हिंदी और पूर्वोत्तर. पृ. 125

में है और बोडो के लोक देवताओं में है। इन सबको एक साथ स्वीकार करने और उनके साथ चलने में ही भारत की एकता का सच्चा अर्थ निहित है।

5.4 सामूहिकता और साहचर्य का समष्टिबोध

जनजातीय समाजों की सामाजिकता की मूल संरचना सामूहिकता पर आधारित होती है। इन समाजों के सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक कर्तव्य सामान्यतः समूह की भावना से प्रेरित रहते हैं। किसी भी कार्य-चाहे वह कृषि, निर्माण, त्यौहार-आयोजन अथवा सुरक्षा से जुड़ा हो, में व्यक्ति से अधिक समुदाय का हित प्राथमिक माना जाता है। सामूहिक उत्तरदायित्व, परस्पर सहायता और साझेदारी जनजातीय जीवन की समष्टिगत चेतना को परिभाषित करते हैं।

उदाहरणस्वरूप आदी जनजाति की सामाजिक संरचना में गाँव-स्तरीय लोकतांत्रिक व्यवस्था स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। प्रत्येक गाँव में एक परिषद् कार्य करती है, जिसका अध्यक्ष वह व्यक्ति होता है, जिसे स्थानीय बोली में 'हेडगाम' कहा जाता है। गाँव-बूढ़ा ही उन मामलों में निर्णायक भूमिका निभाता है जो पूरे गाँव के हित से संबंधित होते हैं। आदी समाज में परिषद् को केबांग कहते हैं, केबांग के कार्यों में सहयोग देने वाले सदस्यों को 'केबांगआबू' कहा जाता है। जटिल विवादों के निपटारे तथा महत्वपूर्ण स्थानीय मामलों के समाधान के लिए केबांग के भीतर उच्च स्तर की इकाइयाँ-जैसे बांगोकेबांग और बोगुमबोकांग केबांग मौजूद रहती हैं। गाँव के विकास-कार्य, त्यौहारों की तैयारी, सामूहिक शिकार के आयोजन और सामाजिक अनुशासन की निगरानी प्रमुख जिम्मेदारियों में से हैं, जिन्हें केबांग संचालित करता है।

‘मुक्ति’ उपन्यास में सामूहिकता और साहचर्य का जीवंत प्रसंग मिलता है, जहाँ भारत-विभाजन के बाद असम के कछार वाले हिस्से में सांप्रदायिक दंगे भड़क गए थे और स्थानीय लोग अपनी जान बचाने के लिए अपने-अपने घर छोड़कर भाग रहे थे। तभी कांगला अपनी पत्नी को लेकर बुर्का पहनकर आता है और कमल को दो बुर्के देते हुए उसे अपनी बहन को लेकर भाग जाने को कहता

है। दंगे की आग शांत होने के कुछ दिन बाद जब चौधरी वलूलहक से कोई इस हिंसा की चर्चा करता है, तो वे कहते हैं- “खबरदार जो उन्हें मुसलमान कहा!- चौधरी उबल पड़े। अरे गुंडे भी क्या हिंदू-मुसलमान होते हैं? इस्लाम क्या गुंडई सिखाता है या कि हिंदू धर्म ही गुंडा बनने को ट्रेनिंग देता है ? गुंडा गुंडा होता है बस, न हिंदू, न मुसलमान। तो कुछ गुंडे असहाय पड़े लोगों की मजबूरी का फायदा उठाने लगे हैं, सीमा के दोनों ओर उनकी ही चल रही है। बँटवारे की ठीक से तैयारी किए बिना ही इस अदूरदर्शी माउंटबेटन ने अपनी फौजी बुद्धि के कारण एकाएक जो बँटवारा कर देने का फैसला करवा लिया, तो उसका लाभ तो गुंडे-चोर-उचक्के उठाएँगे ही। हिंदुस्तान में भी और पाकिस्तान में भी। तो क्या हिंदू कहेंगे कि हमें मुसलमान कत्ल कर रहे हैं? कि मुसलमान कहेंगे कि हिंदू हमारी हत्या कर रहे हैं? नहीं। दोनों तरफ बस गुंडे अपना नंगा नाच कर रहे हैं। टुकड़े-टुकड़े में बँटे योरोपियनों ने भारत के भी टुकड़े कर ही दिए। अब नंगा नाच नहीं होगा, तो कब होगा? और तुमने जो कहा हिंदू मजदूर। तो बेटे बस कुछ घंटों से ही तुम मेरे साथ बैठो हो, तुम अलग होने लगोगे, तो क्या तुम्हारे लिए मुझे या मेरे लिए तुम्हारे हृदय में कचोट नहीं होगी? और ये तो पिछले दस वर्षों से रात-दिन मेरे साथ हैं। कितनी आंधियों-तूफानों में इस मेघना की बाढ़ में इन्होंने मेरी जान बचाई है। झड़-तूफान में चूल्हा बुझा भी तो मेरे लिए और मेरी अपंग पत्नी के लिए दो रोटियाँ जरूर सेंक दी हैं, चाहे अपने भले ही भूखे पेट सो गए हैं। अल्लाह ने मुझे औलाद नहीं दी, मगर इनके रहते मुझे औलाद की फिक्र कभी नहीं हुई। इनके रहते किसकी मजाल थी कि मेरी ओर आँख उठाकर देखे। ब्याह के साल ही मेरी बीवी को जो फालिज मार गया था तो रातों-दिन इन्होंने उसकी जो सेवा की, बहन-बहन करके रात-रात भर उसके पैरों की मालिश करते रहे हैं, इनके चले जाने पर वह अकेली कैसे दिन गुजारेगी? मुझे तो इसी की चिंता है।”¹ यह उद्धरण प्रतिपादित करता है कि दंगे किसी धर्म की देन नहीं, बल्कि राजनीतिक अदूरदर्शिता, प्रशासनिक अव्यवस्था और सामाजिक अराजकता में सक्रिय असामाजिक तत्वों की परिणति होती है। माउंटबेटन द्वारा बिना समुचित तैयारी के कराया गया विभाजन सांप्रदायिक हिंसा का कारण बना, जिसका लाभ

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 69

असामाजिक तत्त्वों ने उठाया और दोनों देशों में भय व असुरक्षा का वातावरण निर्मित हुआ। यह कथन यह भी स्पष्ट करता है कि आम जनजीवन में हिंदू-मुसलमान का भेद गौण है, वास्तविक संबंध विश्वास, सेवा और सह-अस्तित्व से निर्मित होते हैं। चौधरी और उसके मजदूरों के संबंध मानवीय संवेदना, कृतज्ञता और नैतिक उत्तरदायित्व के उदाहरण हैं, जो सांप्रदायिक विभाजन की अवधारणा को चुनौती देते हैं।

समूहिकता की मिसाल हमें 'ब्रह्मपुत्र' उपन्यास में देखने को मिलती है, जहाँ दिसांगमुख में असमीया, मीरी, नेपाली और मुसलमान सभी मिलकर रहते हैं। अलग-अलग समुदायों से होने के कारण उनके बीच छोटे-मोटे झगड़े भी होते रहते हैं, पर सभी लोग एक-दूसरे के सुख-दुख के भागीदार हैं। जब अतुल फिरंगी के विरुद्ध संघर्ष करने की बात करता है तो अभिराम फूकन आपस में एक-दूसरे को राखी बांध एक होने का संकल्प करने की बात करता है, तो अतुल कहता है- “अब मौका है, हम फिरंगी को चुनौती दें। ब्रह्मपुत्र हमारा है, तो उसमें बहकर आती लकड़ी भी हमारी है।... अभिराम फूकन ने टेक लगाई, क्यों न हम एक-दूसरे को राखी बाँधें? हमारा एक संकल्प होना चाहिए।”¹ सभी दिसांगमुखवासी एकजुट होकर अंग्रेजों के खिलाफ लड़ते हैं और जब ब्रह्मपुत्र की बाढ़ से पूरा दिसांगमुख बिखर जाता है तो सब मिलकर बांध बनाते हैं और फिर से अपना गाँव बसाते हैं।

लोक संस्कृति में लोगों की सामूहिकता केवल उत्सव के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि श्रम के क्षेत्र में भी होता है। ‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ उपन्यास में झूम खेती का वर्णन है जिसमें पूरे गाँव वाले मिलकर एकसाथ खेती के काम में जुट जाते हैं- “अप्रैल में गाँव के दक्षिणी तरफ के बाँस-वन में जो दाव चले तो हहा-हहा कर पूरी बैसवार लेट गई। दूर से गहरा नीला दिखने वाला बौना पर्वत भूरा पहाड़ बन गया। कुछ दिन बाद झूम साफ करने के लिए आग लगाई गई तो जैसे लपटों का उलटा उफनता दरिया आसमान में धँस रहा हो और उसमें चटखते कच्चे बाँस और हरे पेड़ बारूद के भड़कने वाले बम हों। मर्दों ने भारी भरकम लकड़ियों का अंबार अपने-अपने हिस्से से झूम की सरहद पर लगा दिया।

¹ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 266

लड़कियों ने गुड़ाई कर दी। बच्चों ने नदीतल से बाँस के भोपड़ों में पानी भरकर सबको पिलाया। बूढ़ियों ने बनाकर सबको खिलाया। बूढ़ों ने जंगली जानवरों का शिकार किया। महिलाओं ने खेत तैयार किया। पुरुषों ने जुताई कर बीज डाला। फिर सबने मिलकर जश्न मनाया झूम के बीचोबीच एक मुट्ठा सरकंडा गाड़ दिया गया। चीड़ की पतली लकड़ियों का दीप जलाया गया। मुर्गे की बलि देकर पथियन से अधिक अन्न की कामना की गई।”¹ झूम खेती में बड़े से लेकर बच्चे, स्त्री-वृद्ध सभी मिलकर एक साथ अपना योगदान देते हैं, साथ खाते-पीते हैं और फसल की कटाई में भी साथ मिलकर अपना श्रमदान करते हैं।

अरुणाचल प्रदेश के जनजातीय जीवन में सहभागिता की अटूट भावना है। ‘मिनाम’ में मोर्जुम लोयी लिखती हैं- “गाँव की महिलाओं में एक बहुत ही अच्छी बात यह देखी गई कि वे एक-दूसरे की काफी मदद करती हैं। ‘रिगे एनाम’ के तहत वे सब मिलकर आज एक के खेत में तो कल दूसरे के खेत में काम करती हैं। इस प्रकार वे हँसी-मजाक भी करती रहती हैं और खेती का कार्य आराम से हो जाता है। वे लोकगीतों के माध्यम से अपनी जिंदगी का हाल व्यक्त करती हैं। एक गीत यामी को बहुत पसंद आया, वह है- ‘आन्ने यो आन्ना’। इस गीत में महिलाएं अपनी ज़िन्दगी की प्रत्येक उन बातों को बताती हैं जो उसके साथ बीती है। किसी पुरुष से आकर्षित महिला उस पुरुष को पाने की अपनी इच्छा व्यक्त करती है। तो कोई कहती अगर हम लड़की पैदा हुई न होती तो अपने माता-पिता के साथ सदा रहने का सौभाग्य हमें भी प्राप्त होता। बचपन में जहाँ खेली उसे यूँ छोड़कर ऐसे किसी अनजान जगह आकर न बसती।”² लोक संस्कृति में साहचर्य की भावना से ओत-प्रोत ये महिलाएँ लोकगीतों के माध्यम से अपने मन की व्यथा-कथा भी कहती हैं, जिसमें वे सामूहिक रुदन भी करती हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों में जनजातीय समाजों की सामूहिक चेतना को सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक संदर्भों में विश्लेषित किया गया है। यह स्पष्ट होता है कि जनजातीय जीवन की आधारशिला

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2011). जहाँ बाँस फूलते हैं. पृ. 120-121

² लोयी, मोर्जुम. (2020). मिनाम. पृ. 36-37

व्यक्ति-केंद्रित न होकर समुदाय-केंद्रित है, जहाँ प्रत्येक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधि सामूहिक उत्तरदायित्व से संचालित होती है। आदी जनजाति की 'केबांग' व्यवस्था स्थानीय लोकतंत्र, सहभागिता और सामुदायिक न्याय का सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करती है। साहित्यिक कृतियाँ 'मुक्ति', 'ब्रह्मपुत्र', 'जहाँ बाँस फूलते हैं' और 'मिनाम' के प्रसंग यह दर्शाते हैं कि सामूहिकता केवल श्रम-साझेदारी तक सीमित नहीं, बल्कि संकट, संघर्ष और भावनात्मक साहचर्य में भी सक्रिय रहती हैं। सांप्रदायिक दंगों के प्रसंग में मानवीय संबंधों की प्रधानता धर्म आधारित विभाजन को नकारती है। झूम खेती और 'रिंगे एनाम' जैसी प्रथाएँ श्रम, उत्सव और संवेदना के सामूहिक स्वरूप को उजागर करती हैं। इस प्रकार, यह अंश जनजातीय लोक-संस्कृति को सामाजिक समरसता, सहयोग और मानवीय मूल्यों की जीवंत परंपरा के रूप में स्थापित करता है।

युवागृह परंपरा-

भारत की अनेक जनजातियों में 'युवागृह' की परंपरा प्रचलित रही है। यद्यपि इनकी संरचना, नाम और संगठन-प्रणाली में क्षेत्रीय विविधता मिलती है, तथापि इनका उद्देश्य एक समान था- समुदाय के युवाओं को सामाजिक, सांस्कृतिक और व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करना। इन युवागृहों को भावी पीढ़ी के लिए प्रशिक्षणशाला कहा जा सकता है, जहाँ युवाओं में अनुशासन, सामूहिकता, परिश्रम, साहस और लोक-संस्कृति के प्रति सम्मान जैसे गुणों का विकास होता था।

मिजो जनजाति में इस प्रकार की संस्था को 'जालबुक' कहा जाता था। लुशाई भाषा में प्रयुक्त यह शब्द युवागृह की ही संज्ञा है। जालबुक का कार्य भी सामुदायिक सहयोग, अनुशासन और सामाजिक एकता को बनाए रखना था। गाँव के सभी युवाओं से अपेक्षा की जाती थी कि वे आपात स्थिति में या सार्वजनिक कार्यों के समय जालबुक में उपस्थित रहें। श्रेष्ठ शिकारी या परिश्रमी युवाओं को पुरस्कार देकर सम्मानित किया जाता था ताकि दूसरों को प्रेरणा मिल सके। जालबुक में रहने वाले युवकों की दैनिक दिनचर्या अत्यंत अनुशासित होती थी। सुबह उपस्थिति ली जाती और प्रत्येक को कार्य सौंपा जाता। कार्य में लापरवाही पर दंडस्वरूप अतिरिक्त कार्य दिए जाते थे। जालबुक में रहने वाले

बच्चों को 'नौपंग' कहा जाता था, जो बड़े युवकों के लिए लकड़ी और अन्य आवश्यक सामग्री जुटाते थे। जालबुक के नेता को 'त्लान्गवालाउपा' कहा जाता था। लुशाई और पावी गांवों में जालबुक की यह परंपरा व्यापक थी, जबकि अन्य मिजो उप-जनजातियों में यह प्रथा कम प्रचलित रही। बाद में लुशाईयों के प्रभाव से राल्ते जनजाति में भी युवागृह की यह परंपरा विकसित हुई।

‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ उपन्यास में मिजो संस्कृति में युवागृह की चर्चा की गई है- “जो बातें उन फाइलों में नहीं हैं, उनमें से एक यह भी है कि गाँव की निरंतर दयनीय होती जा रही दशा को देखकर रुआलखूमा और मलसोमा के दिमाग में कोई पचास वर्ष से निष्क्रिय हो गए जालबुक को पुनर्जीवित करने की भावना उपजी। अतीत में जालबुक गाँव की रक्षा करता था, युवकों की शक्ति और गाँव के सामूहिक जीवन को दिशा देता था तथा उनके उत्साह को आनंद में तब्दील करता था। उन्हें उम्मीद थी कि जालबुक के इर्द-गिर्द गाँव की जिंदगी एक ढेर पर लगेगी और यह कुछ वर्षों से आया हुआ संकट अनंत काल तक टिका न रह पाएगा। वह मार्च की एक शाम थी, जब रुआलखूमा व मलसोमा ने युवकों और युवतियों की एक सभा बुलाई और सभा में मिजो-अतीत को दोहराया। नुलाओं (लड़कियों) का एक संगठन बनाकर कामी को सौंप दिया और युवकों का संगठन अपने नेतृत्व में रखा। देखते-ही-देखते बाँस काट लाए गए, सरपत-खर काट लाए गए। गाँव के बीचोबीच जालबुक घर बना दिया गया। गाँव के पुराने घरों को नया कर दिया गया। जिनका कोई न था, उनका पूरा गाँव हो गया।”¹ जालबुक की सामाजिक उपयोगिता बहुत अधिक थी। गाँव पर कभी कोई आक्रमण हो तो जालबुक से ही योद्धा जाते, कोई मांगलिक कार्यक्रम हो तो जालबुक से ही युवा जाकर सहायता करते थे। इस प्रकार जालबुक युवाओं के लिए अनुशासन और जीवन मूल्यों को आत्मसात करने का एक संस्थागत ढांचा था, जहाँ से वे भावी जीवन की जिम्मेदारियों के लिए तैयार होते थे।

नागा जनजातियों में इस प्रकार के युवागृह को ‘मोरंग’ कहा जाता था। हालांकि विभिन्न उप-जनजातियों में इसके भिन्न-भिन्न नाम हैं- अंगामी जनजाति में इसे किचुकी, आओ जनजाति में अरिचु,

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2011). जहाँ बाँस फूलते हैं. पृ. 120

लोथा में चाम्पो, और जेमी नागाओं में पुरुषों के युवागृह को इखुइची तथा स्त्रियों के युवागृह को इलोइची कहा जाता था। नागाओं में मोरंग केवल आवासीय केंद्र नहीं था, बल्कि यह एक बहुआयामी संस्था थी- सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का केंद्र। यह युवाओं के लिए शिक्षा-प्रशिक्षण का स्थान था, जहाँ उन्हें युद्ध-कला, परंपरागत नियम, नैतिक मूल्य, लोक-इतिहास और सांस्कृतिक परंपराओं की शिक्षा दी जाती थी।

मोरंग से जुड़े युवा गाँव के सामुदायिक कार्यों में भी सक्रिय रूप से भाग लेते थे, जैसे त्योहारों का आयोजन, सड़कों और पगडंडियों का निर्माण, गाँव की सफाई, अथवा संकट की स्थिति में सामूहिक रक्षा। इन कार्यों का निर्देशन गाँव के मुखिया और परिषद द्वारा किया जाता था। किशोर अवस्था में लड़कों का प्रवेश मोरंग में अनिवार्य था और विवाह तक वे वहीं निवास करते थे। दिन में वे कार्यों में संलग्न रहते और रात को मोरंग में विश्राम करते। इन युवागृहों में लड़कियों का प्रवेश वर्जित था।

मोरंग गाँव के सामाजिक जीवन का केंद्र था। यह केवल शैक्षिक संस्था नहीं, बल्कि सैन्य प्रशिक्षण केंद्र और कभी-कभी शस्त्रागार के रूप में भी प्रयुक्त होता था। यहाँ युद्ध में काटे गए शत्रुओं के सिर (मानव-मुंड) भी रखे जाते थे। गाँव में विवाद या सामूहिक निर्णय की स्थिति में पंचायत भी प्रायः यहीं बैठती थी। अतः मोरंग गाँव की रक्षा और निर्णय प्रणाली दोनों का केंद्र था।

मोरंग के माध्यम से ही लोककथाएँ, लोकगीत, नृत्य, इतिहास और कला जैसी परंपराएँ पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती थीं। यह संस्था जनजातीय संस्कृति की निरंतरता का माध्यम थी। यद्यपि नागा समाज में लोकतांत्रिक चेतना विद्यमान थी, फिर भी इन संस्थाओं में पितृसत्ता का प्रभाव स्पष्ट था- यही कारण था कि मोरंग में स्त्रियों का प्रवेश वर्जित माना जाता था। युवागृह केवल सामाजिक संस्था नहीं, बल्कि जनजातीय जीवन की रीढ़ थे। ये गाँव के युवाओं को न केवल शारीरिक रूप से सक्षम बनाते थे, बल्कि उन्हें सांस्कृतिक, सामाजिक और नैतिक दृष्टि से भी समुदाय के प्रति उत्तरदायी नागरिक बनाते

थे। इन संस्थाओं ने जनजातीय समाजों में अनुशासन, सामूहिकता और पारस्परिक सहयोग की परंपरा को संरक्षित रखा और भावी पीढ़ियों को सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध कराया।

वस्तुतः लोक संस्कृति में समाज के प्रत्येक वर्ग में सामूहिकता और साहचर्य की भावन देखने को मिलती है। लोक और जनजातीय समाजों में यह समिष्टबोध जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया में दिखाई देता है, चाहे वह कृषि, श्रम-विभाजन, पर्व-त्यौहार, संकट-प्रबंधन या सामाजिक संघर्ष हो। व्यक्ति अकेला नहीं, बल्कि समुदाय का अंग बनकर कार्य करता है और सुख-दुःख को साझा करता है। इस बोध के कारण सामाजिक विश्वास, सह-अस्तित्व और मानवीय संवेदना सुदृढ़ होती है। इस प्रकार, सामूहिकता और साहचर्य का समिष्टबोध समाज को विघटन से बचाकर एकजुट और मानवीय बनाता है।

अध्याय: 6

औपन्यासिक संरचना में लोक की अभिव्यक्ति

6.1 लोक भाषा का नया वितान और आंचलिकता

6.2 किस्सागोई, कहावतें और लोकगीत

6.3 शैली का अभिनव प्रयोग

6.1 लोक भाषा का नया वितान और आंचलिकता

लोक-संस्कृति भारतीय समाज की सामूहिक चेतना का मूल आधार है, जो समय के साथ निरंतर परिवर्तित और विस्तृत होती रही है। आधुनिक संदर्भों में यह परंपरा और आधुनिकता के संवाद को अभिव्यक्त करती है। आंचलिकता लोक-वितान का महत्वपूर्ण गुण है, जो किसी क्षेत्र विशेष की भाषा, जीवन-दृष्टि और संघर्षों को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करती है। इस प्रकार लोक भाषा और आंचलिकता अपने अर्थ में एक-दूसरे से विशिष्ट और पूरक हैं, जो संयुक्त रूप में लोक समाज की सांस्कृतिक विविधता, गतिशीलता और समकालीन चेतना को गहराई प्रदान करते हैं।

पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में चित्रित लोक संस्कृति का आस्वादन उसके स्थानीय भाषा के शाब्दिक रूप से मिलता है। 'ब्रह्मपुत्र' में देवेंद्र सत्यार्थी ने उपन्यास की भूमिका ही 'ब्रह्मपुत्र की भाषा' शीर्षक से लिखा है, जिसमें उन्होंने असमीया जनमानस और ब्रह्मपुत्र के संबंध को दर्शाया है- "असम में अनेक स्थानों पर 'ओ मोर सोनार असम' (ओ मेरे सोने के असम!) गान सुना। इसका रस लेते हुए ऐसा प्रतीत हुआ मानो असम सचमुच सोने का देश है। इसकी वेगवती नदियाँ, छोटे-छोटे गाँव, धान के पके हुए सुनहरे खेत, झिलमिलाते पोखर, गाँव की गली में कै-कै करती बतखें, पोखरों में तैरते राजहंस; केले, सुपारी और बांस के कुंज- ये सब सोने के देश के प्रतीक थे। असमीया यथासंभव मर्यादा को नहीं छोड़ता है, पर यदि कहीं उसके आत्मसम्मान को ठेस लगी, तो वह बाढ़ के समय का ब्रह्मपुत्र बन जाता है। आतिथ्य में उसका जवाब नहीं। आज काम चल रहा है तो कल की चिंता क्यों की जाये? आने वाली विपत्ति आएगी तो देख लेंगे। बीते संकट का क्यों स्मरण किया जाये? पुरानी कहावत है- बाघ की सवारी करने वाले को बाघ से उतरने का गुर नहीं आता, पग-पग पर अनुभव हुआ कि असमीया को यह गुर भी आता है। ब्रह्मपुत्र गारा काटता हुआ और इधर को आएगा तो दिसांगमुख और पीछे हट

जाएगा।”¹ ये पंक्तियाँ असमीया जनजीवन में ब्रह्मपुत्र की अंतरंगता का प्रतीक है, जहाँ मनुष्य और नदी का परस्पर मानवीकरण हो गया है।

‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास में ब्रह्मपुत्र किसी नदी के रूप में नहीं बल्कि एक पात्र के रूप में चित्रित हुआ है, जहाँ लोग सुख में ब्रह्मपुत्र का आशीर्वाद भी लेते हैं और दुःख में उसे कोसते भी हैं। यथा जब धनसिंह की दुकान पर दिसांगमुखवासी चाय पीते हैं- “अच्छा, तो चाय पिलाओ! धनसिंह चाय बनाते हुए रतन की ओर यों देखता है जैसे बकरी अपने नवजात शिशु की ओर निहारती है। सूखे होंठों पर जबान फेरते हुए कहता है, कलकत्ता से आता है डब्बा लिपटन का। यह समझो कि लड़की ससुराल से दोबारा मायके में आई! वाह, धनसिंह भाई! अच्छा रूपक बाँधा है। असम की चाय पहले कलकत्ता जाती है, फिर कलकत्ता से अँग्रेज कंपनी डब्बों में भरकर भेजती है जगह-जगह।”² असमीया संस्कृति में चाय का प्रचलन बहुतायत है, किंतु यह लोक भाषा की खूबसूरती ही है, जहाँ निर्जीव वस्तुओं में भी मानवीय संबंधों जैसी आत्मीयता आ जाती है।

‘ब्रह्मपुत्र’ में स्थानीय अंचल के असमीया एवं अन्य आंचलिक शब्दों का भाषायिक प्रयोग देखने को मिलता है, जैसे- मिशमी भाषा से ‘लू-हित’- तारों की राजकुमारी, असमीया भाषा से ‘बड़ डिकडारी’- बड़ी मुसीबत, ‘आलीसीगा’- टूटी हुई सड़क, ‘गोहाली’- गौशाला, ‘खबर कागज’- अखबार, ‘लाओ पानी’- स्थानीय शराब, ‘गाँवबूढ़ा’- गाँव का मुखिया, ‘भराल’- अनाज रखने की जगह आदि।

बलभद्र ठाकुर कृत ‘मुक्तावती’ उपन्यास मणिपुर की पृष्ठभूमि पर केंद्रित है, यद्यपि पूरा उपन्यास हिंदी में है, किंतु कुछ स्थानों पर पात्रानुकूल स्थानीय भाषा का प्रयोग देखने को मिलता है, जैसे जब चंद्रावत की माँ शैलेंद्र को भोजन कराती है तो कहती है- “चाओ इबुडो! चाओ!”³ अर्थात् खाओ बेटा! खाओ! यह उद्धरण माता के स्नेह और बूढ़े लोगों में हिंदी के कम प्रचलन को दिखाता है। उपन्यास में

¹ सत्यार्थी, देवेंद्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 24

² वही, पृ. 29

³ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 11

अन्यत्र एक जगह जब लड़कियाँ होली के लिए चंदा इकट्ठा करती हैं, तो उनमें से एक लड़की यह जानकार कि शैलेंद्र बंगाली है अपनी टूटी-फूटी बांग्ला में उससे चंदा मांगती हैं- “बोंगाली मोशाइ! ऐमोन कोरे कैनो देखछेन! आमरा दान चाई, दान!!”¹ यह प्रसंग दर्शाता है कि तत्कालीन मणिपुरी समाज में बांग्ला का प्रभाव था और यह लोक संस्कृति की सरसता है, जहाँ एक व्यक्ति दूसरे की संस्कृति का सम्मान करते हुए उसकी भाषा में बात करने लगता है।

‘मुक्तावती’ उपन्यास में स्थानीय शब्दों का प्रसंगोचित प्रयोग हुआ है, स्थानीय मणिपुरी भाषा के अर्थबोध हेतु लेखक ने उसका हिंदी अर्थ भी लिख दिया है, मसलन- ‘लाइ हराउबा’, लाइ- देवता, हराउबा- मनोरंजन (देवताओं का मनोरंजन नृत्य), ‘चिड नुड हुत्’ अर्थात् चिड- पर्वत, नुह- भीतर, हुत्- छेद, ‘सना’- स्वर्ण, ‘तोंबी- सबसे छोटी कन्या, ‘मैत्राबाक’- मइतेइयों का राज्य अथवा देश, ‘मणिपुर लाइशेम्बा’- मणिपुर की सृष्टि, ‘चेक्ला’- नर पक्षी, ‘पोन्बि’- मादा पक्षी, ‘वाइनू’- सारस, ‘लमजाउ- बड़ा मैदान, ‘फनिक’- लुंगी, ‘इनफी’- ओढनी, ‘याउक’- भेड़, ‘छड ’- झोपड़ी, ‘इबुडो’- पुत्र, ‘इबेमा’- पुत्री, ‘कोनुड’- राजमहल, ‘फुंगा’ एक प्रकार का मणिपुरी चूल्हा आदि।

‘रक्तयात्रा’ की पृष्ठभूमि नागालैंड पर केंद्रित हैं, उक्त उपन्यास में नागालैंड के नागा, लोथा, अंगामी एवं अन्य जनजातियों का जीवन दर्शन प्रस्तुत हुआ है। ‘रक्तयात्रा’ उपन्यास में नागाओं के शौर्य तथा उनकी जीवन-शैली का वर्णन करते हुए बलभद्र ठाकुर लिखते हैं- “सामने वाला कमरा किलोह तो पशु धन से भरा रहता। उसी में गायें बंधतीं और उसी में कुत्ते और सूअर रहते। वहां रखी टोकरियों में मुर्गियां अंडे देतीं। चूजे और मुर्गे भी उस कमरे में भरे रहते। ये सभी भक्ष्य थे। गायों का दूध उनके बछड़े या बछड़ियां भर पीतीं। आदमी भी उनका दूध पी सकता है, तब यह कोई नागा सोच भी नहीं सकता था। आसाम के मैदानों से लौटकर आया कोई नागा अपने गांव वालों को कहीं यह बताता कि वहां लोग गाय का दूध पीते हैं तो वे अविश्वास के साथ हंस पड़ते। भला जानवर का दूध कोई आदमी कैसे पी सकता है। जिनके लिए कोई भी पशु-पक्षी अभक्ष्य नहीं था, जो चूहे से लेकर हाथी तक खा जाते,

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 7

जिन्हें न बिल्ली खाने से परहेज था और न चील-कौवे खाने से, उन्हें गाय भैंस का दूध पीने वाले आदमी कुछ निराले ही लगते।”¹ ‘रक्तयात्रा’ उपन्यास में नागा और अंगामी भाषा के कुछ स्थानीय शब्दों का प्रयोग हुआ है- ‘निनो’- जवान लड़कियों को प्यार से पुकारने के लिए आम संबोधन, ‘पो’- पिता, ‘जू’- स्थानीय शराब, ‘शै’- बड़ी और गही टोकरी, ‘पित्से’- ओझा, ‘हुथु’- उल्लू, ‘इलोछी’- लड़कियों का मोरंग, ‘इखूछि’- लड़कों का मोरंग, ‘निकेतुजो’- माता-पिता का प्रिय, ‘रेडिओ-फै’- धान-कटाई का महीना, ‘जेरियो’- बड़ा भाई आदि।

‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ मिजोरम पर केंद्रित उपन्यास हैं, लेखक श्रीप्रकाश मिश्र ने मिजो भाषा के कई शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे उपन्यास में पात्र तथा परिवेश का चित्रण प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त हुआ है, जैसे- ‘मामाते अडाईरो ओ’- बच्चो रुको, ‘कपू’-श्रीमान, ‘वाई’- गैर मिजो, ‘पुआन’- कपड़ा, ‘कनू’- मेरी माँ, ‘वेड’- गली, ‘बाईरामा’- गैर मिजो भूमि, ‘माउतम’- अकाल, ‘नुथलुई’- विधवा या परित्यक्ता, ‘जालबुक’- युवागृह, ‘क पा’- मेरे पिता, ‘तुइखुर’- जलस्रोत, ‘हउसा’- धनी, ‘डाइजोड’- प्रेमी, ‘वान हुआई’- भूत, ‘थ्लूम’- मीठा एवं ‘कलोम’- धन्यवाद आदि।

‘रूपतिल्ली की कथा’ उपन्यास में मेघालय की पृष्ठभूमि है, इसमें लेखक ने उपन्यास को आंचलिकता का रंग देने के लिए खासी भाषा के शब्दों का बखूबी उपयोग किया है तथा पाठकों की सुगमता के लिए पाद टिप्पणी के रूप में उसका हिंदी अर्थ भी लिखा है, जैसे- ‘का ब्लेड’- देवी, ‘ड’खार’- गैर खासी, ‘खोडर’- जिस वंश के पुरुष राजा बनते हैं, ‘लिडदोह’- पुजारी, ‘खुब्लेई’- आभार का शब्द, ‘ददनी’- खेती करने के लिए अग्रिम पैसा, ‘माडलाड’- ढोलकिया, ‘उ थ्लेन’- सर्प देवता, ‘जिम्पिन’- एक प्रकार का वस्त्र, ‘सियेम’- राजा, ‘जाईसेन’- अंगवस्त्र, ‘तुहना’- स्थानीय हथकरघा, ‘खारमुखी’- गैर खासी सुंदरी, ‘का सुह प्डुड’- एक तरह की घास, ‘उ फान किरपद’- कृपा के देवता, ‘क्वाय’- कच्ची सुपारी, ‘मुगा खाउरा’- बलि का जीव, ‘खिरम ब्लाड’- बलि का पशुशाला आदि।

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1978). रक्तयात्रा. पृ. 10

नवारुण वर्मा कृत 'जय आई असम' उपन्यास असम आंदोलन पर केंद्रित है, अतः इसमें कथावस्तु की मार्मिकता हेतु असमीया शब्दों एवं वाक्यों का प्रसंगानुकूल प्रयोग किया गया है, जिसका उदाहरण निम्नवत है- 'जय आइ असम'- असम माता की जय, 'आह ओइ आह, ओलाइ आह'- आरे आ निकल आ, 'खेद ओइ खेद'- भगा रे भगा, 'विदेशीक खेद'- विदेशी को भगा, 'कौने कय मूला नाइ, हेजार मूला आगुवाइ'- कौन कहता है मूला नहीं है, हजारों मूला आगे बढ़ रही हैं, (यहाँ मूला शब्द का अर्थ है- मूलागाभरू) 'देशर बाबे तेज दिम'- देश के लिए खून दूंगी, 'इंराज भारत एरा'- अंग्रेजों भारत छोड़ो, 'असम कार? असमीयार'- असम किसका? असमीयाओं का, 'देशतकै मोमाइ, डाडर नहय'- देश से मामा बड़ा नहीं है, 'कोलाखार'- केले का पौधा जलाकर बनाया गया नमक, 'देशतकै चाकरी डाडर नहह्य'- देश से नौकरी बड़ी नहीं है आदि।

दयाराम वर्मा कृत 'सियांग के उस पार' अरुणाचल प्रदेश पर केंद्रित है, इस उपन्यास में संवाद के रूप में अरुणाचली हिंदी का प्रयोग किया है, जो इसे वास्तविकता के अधिक निकट लाता है। जैसे- 'तो फिर तो तुम्हें दोवरी देना होगा', 'इधर का लरका, लरकी लोग अब तो बाहर भी जाता है। ईतानगर भी जाता है', 'पेट भर गया कि नहीं?', 'वे तरह-तरह का चाँदी का जेवर और रंग बिरंगे मनकों का माला सदा गला और शरीर पर पहनता है और खास फेस्तीवल के समय बहुत मन से तरह-तरह का मेकअप करता है', 'तेज रंग का कपरा, जानवर की खाल से बना ड्रेस और छोटा-बरा तोपी पहनता है', 'मिनी कैसे मोर गया?', 'हम नया जेनरेशन का पधने वाला लरका लरकी लोग का यह सब पसंद नहीं है' आदि।

अरुणाचल प्रदेश की पृष्ठभूमि पर केंद्रित 'मिनाम' उपन्यास में अरुणाचली हिंदी के माध्यम से आंचलिकता का बड़ा सुंदर चित्रण हुआ है, उदाहरण- 'पोरके क्या कोरेगा?', 'नो को (तुमको) मालूम नाई है क्या?', 'मेरा आबो इस बोस्ती (बस्ती) का सबसे धनी आदमी है?', 'हम तो बोस्ती में कोई दोस्त नाइ है बोलके स्कूल आता है', 'मैडम नो तू हमको ही दाउट (शक) करता होगा', 'बेटी हमलुग लारकी है', 'मोरोद (मर्द) लुग का बात मानना हमलुग का द्युती (ड्यूटी) है', 'आबो, हम नाई पोरगा',

‘तुम देखो, हम शादी करेगा, बार-बार शादी करेगा’, ‘उस लारकी का हिम्मत। मेरा बच्चा पोरके क्या करेगा?’ आदि। अरुणाचल प्रदेश की जनजातीय समाज में अत्यधिक भाषायिक विविधता होने के कारण सभी लोग आपस में संपर्क के लिए हिंदी का प्रयोग करते हैं, किंतु अरुणाचली हिंदी में लिंगभेद की अवधारणा नहीं है। इस संदर्भ में लेखिका मोर्जुम लोयी लिखती हैं- “अरुणाचल प्रदेश में लगभग छब्बीस मुख्य जनजातियां हैं, जिनकी अपनी-अपनी बोलियां हैं। यह आश्चर्य की बात है कि सभी जनजातियां सभी वर्गों के लोग यहाँ हिंदी बोलते और समझते हैं। राजधानी में तो हिंदी ही सम्पर्क भाषा है। यहाँ की हिंदी अलग है। स्त्री हो या पुरुष यहाँ आता, जाता है, जैसे- ‘मैं बाजार जा रही हूँ’ इसके लिए दोनों वर्ग के लोग ‘हम बाजार जाएगा’ से काम चलाते हैं। स्त्री हो या पुरुष यहाँ आता, जाता है, जैसे- ‘मैं बाजार जा रही हूँ’ इसके लिए दोनों वर्ग के लोग ‘हम बजार जाएगा’ से काम चलाते हैं। इसे अरुणाचली हिंदी कहते हैं।”¹

‘मिनाम’ उपन्यास में गालो भाषा के शब्दों का भी प्रयोग देखने को मिलता है, जो उपन्यास की भाषा को स्थानीयता का रंग प्रदान करता है, यथा- ‘तिर्काक’- एक प्रकार का बर्तन, ‘पोका’- स्थानीय शराब, ‘हिलेक’- बाँस का मटका, ‘नासू’- धान का गोदाम, ‘पिजी’- चम्मच, ‘ताके’- अदरक, ‘पाकू’- बाँस से बनी थाली, ‘कोबा’- सीढ़ियाँ, ‘देकी’- ओखली, ‘ओसी’- बास्केट, ‘दोसी गिनसी’- टोकरी, ‘बेसेक या गाले’- एक प्रकार का वस्त्र, ‘इगिन’- टोकरी, ‘किते’- मामा, ‘मातेम’- एलिमोनी, ‘मोई’- मौसी, ‘आबो’- पिता, ‘काबेन जिबो’- शादी के गीत, ‘उगी’- कमरबंद, ‘कोजी’- कड़ा, ‘रूबीन’- कान की बाली आदि।

‘मुक्ति’ उपन्यास का कथा-परिवेश असम पर केंद्रित है, तत्कालीन परिवेश, आंचलिकता एवं सामासिक संस्कृति के प्रभाववश इस उपन्यास में हिंदी के साथ-साथ बांग्ला, भोजपुरी और किंचित मणिपुरी भाषा के संवाद भी दृष्टव्य हैं, चूंकि असम का कछार प्रांत बांग्ला बहुल क्षेत्र है इसीलिए ऐसे संवाद तर्कसंगत भी लगते हैं, उदाहरण- “थेमे जाओ दीदी। थेमे जाओ। निजेर चोख दिया देखो ना

¹ लोयी, मोर्जुम. (2020). मिनाम. पृ. 39

आमियो हिंदू कोनो भय नाई थेमे जाओ। माइमून भाई आमार निजेर दादार मतो। एइ थाम ना। कखन थेके डाक दिच्छी, थामछो ना केनो? (ओ बहन रुक जाओ। रुको भी। तुम अपनी आँखों से खुद ही देख लो, मैं भी हिंदू ही हूँ। डरने की कोई बात नहीं। अब रुक भी जाओ। माइमून भाई मेरे अपने भाई की तरह ही हैं। अरे ओ छोकरी रुक ना। कितनी देर से पुकार रहा हूँ। रुकती क्यों नहीं?)”¹ इसके अतिरिक्त उपन्यास में आगे भोजपुरी में भी संवाद मिलते हैं-“पंडी जी पूजा कर भइलैं जलील भाई। अब अस्तुति शुरू कय दिहलें। थौरियै देर में खाली हो जइहैं। तँ उनकारा के ही लेके चलि जा। आज हम नाहीं जा सकत हैं। आज फर्जैरै (भोर) से ही मेहरू (मेहरुन्निसा) के पीर उठ रहल बा। हमार जायल न हो पाई हाँ, अगर पंडी जी ई बेला में बस्ती में रहतैं, त हम जरूर जइतीं। हमरा पीठि पर अंग्रेज दरोगा के कोड़ा क डोंड़हा साँप अस जऊन तीन गो सट उभरल बा, ओकरा बदलै जब अंग्रेज का यूनियन जैक उतार फेंक के, आज पंडित जवाहरलाल नेहरू हमार तिरंगा झंडा आसमान में उड़ैहैं, त ओके देखे-सुने के हमार केतना तबीयत हैं, ई तोकों का बताई?”² प्रस्तुत उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि सिलचर अथवा बराक घाटी का हिस्सा बांग्लादेश से नजदीक होने के कारण वहाँ बांग्ला का प्रचलन अधिक है तथा भोजपुरी भाषियों की उपस्थिति स्वाधीनता संग्राम के समय के प्रवास और सांस्कृतिक समन्वय को रूपायित करती है।

प्रस्तुत उद्धरणों से यह प्रतिपादित होता है कि पूर्वोत्तर भारत पर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में लोक-संस्कृति का सजीव और प्रामाणिक चित्रण मुख्यतः स्थानीय भाषाओं, आंचलिक शब्दों और बहुभाषिक संवादों के माध्यम से संभव हुआ है। इन उपन्यासों में भाषा केवल कथ्य की वाहक नहीं, बल्कि लोक-जीवन की संवेदना, सामाजिक व्यवहार और सांस्कृतिक दृष्टि की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनकर उभरती है। ‘ब्रह्मपुत्र’ में असमीया जनमानस और नदी के बीच मानवीकृत संबंध लोक-संस्कृति की आत्मीयता और प्रकृति-केंद्रित जीवन-दृष्टि को उद्घाटित करते हैं। ‘मुक्तावती’ में मणिपुरी,

¹ दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 43

² वही, पृ. 11

बांग्ला और हिंदी का समन्वय तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक बहुलता को रूपायित करता है, जहाँ भाषा पारस्परिक सम्मान और सांस्कृतिक सहअस्तित्व का प्रतीक बनती है। 'रक्तयात्रा' नागालैंड की जनजातीय जीवन-शैली, खान-पान और मूल्यों को स्थानीय शब्दावली के माध्यम से प्रामाणिकता प्रदान करता है। मिजोरम और मेघालय की पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यासों में मिजो और खासी भाषाओं के शब्द लोक-आस्था, अनुष्ठान और सामाजिक संरचना को सजीव बनाते हैं।

असम आंदोलन तथा अरुणाचल प्रदेश पर केंद्रित उपन्यासों में असमीया भाषा, अरुणाचली हिंदी और अन्य भाषाओं का प्रयोग यह दर्शाता है कि बहुभाषिकता पूर्वोत्तर समाज की मौलिक विशेषता है। वस्तुतः इन हिंदी उपन्यासों में आंचलिक भाषिक प्रयोग लोक-संस्कृति के सौंदर्य, विविधता और यथार्थ को उभारते हुए हिंदी कथा-साहित्य को एक व्यापक तथा बहुसांस्कृतिक आयाम प्रदान करते हैं।

6.2 किस्सागोई, कहावतें और लोकगीत

‘किस्सागोई’ मानव सभ्यता की प्राचीनतम अभिव्यक्तियों में से एक है, जो अनुभव, स्मृति और सामूहिक चेतना को कथा के रूप में संरक्षित करने की प्रक्रिया से जुड़ी है। किस्सा मूलतः घटनाओं, पात्रों और भावनाओं का ऐसा कथात्मक संयोजन है, जो मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक अर्थों को भी संप्रेषित करता है। किस्सागोई की अवधारणा केवल कहानी कहने तक सीमित नहीं, बल्कि यह संवाद, कल्पना और श्रोता-वक्ता के संबंध पर आधारित एक जीवंत परंपरा है। परंपरागत समाजों में किस्सागोई मौखिक संस्कृति का अनिवार्य अंग रही है। लोककथाएँ, दंतकथाएँ, वीरगाथाएँ और धार्मिक आख्यान इन सभी में किस्सागोई का मूल स्वरूप विद्यमान है। यह परंपरा सामूहिक बैठकों, चौपालों, उत्सवों और अनुष्ठानों में विकसित हुई, जहाँ कथावाचक अपनी वाणी, हाव-भाव और कल्पनाशीलता से कथा को जीवंत बनाता था। इस प्रक्रिया में कथा स्थिर न होकर समय, स्थान

और श्रोताओं के अनुसार परिवर्तित होती रहती थी, यही कारण है कि प्रायः एक ही प्रकार के किस्से व लोककथाएं भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अलग पात्रों-संदर्भों के साथ लोकप्रिय रहते हैं।

आधुनिक साहित्य में किस्सागोई ने लिखित रूप धारण किया, किंतु उसका मौलिक लोकस्वर यथावत बना रहा। उपन्यास, कहानी, कविता, आत्मकथा जैसी समस्त साहित्यिक विधाओं में किस्सागोई कथात्मक प्रवाह, संवादात्मक शैली और मानवीय संवेदना के रूप में दृष्टिगोचर होती है। अतः किस्सागोई केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक अनुभवों, सांस्कृतिक मूल्यों और ऐतिहासिक स्मृतियों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संप्रेषित करने वाली एक सशक्त और समृद्ध परंपरा है।

लोक में विन्यस्त किस्सागोई-

‘रूपतिल्ली की कथा’ उपन्यास में मेघालय की खासी जनजातीय समाज का चित्रण हुआ है, जिसमें खासी रीति-रिवाज, मिथक और लोक मान्यताओं से संबंधित लोक कथाओं का वर्णन मिलता है। उपन्यास में एक प्रसंग आता है, जहाँ चांद में दाग होने को लेकर खासी समाज में प्रचलित एक लोककथा का उल्लेख मिलता है- “किसी जमाने में एक स्त्री की तीन बेटियाँ और एक बेटा था। उनके नाम थे ‘का सडी’ (सूरज), ‘का उम’ (पानी), ‘का डिङ’ (आग) और ‘उ बिनाई’ (चंद्रमा)। उनका परिवार धनी था और गाँव के लोग सम्मानित थे। लेकिन चंद्रमा बदजात निकला। अपनी बड़ी बहन सूरज से प्यार करने लगा। तब वह सूरज की ही तरह चमकीला और भव्य था। लेकिन सूरज को उसका प्यार पसंद नहीं था। उल्टे वह क्रोध दिखाती थी। एक दिन वह हाथ में राख लेकर बोली, तुम्हें शर्म नहीं आती अपनी बड़ी बहन से प्यार जताते, जो तुमसे उम्र में बड़ी है और जिसने अपनी गोद में तुम्हें खिलाया है और पीठ पर कपड़े से बाँधकर घुमाया है माँ की तरह। चंद्रमा बड़ा ढीठ था। बोला, तब माँ की तरह कभी दूध तो पिलाया नहीं। आज पिलाओ, कहकर उसके स्तन को अपने मुँह में डाल लिया। उससे छुड़ाने के लिए उसने उसके चेहरे को दूर ठेला। हाथों में राख लगी थी, जो उसके चेहरे पर पुत गई।

उससे उसका तेज जाता रहा। उल्टे कालिख चमकने लगी।”¹ इस कथा में गौरतलब है कि सूरज, पानी और आग स्त्री हैं तथा चंद्रमा पुरुष है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें तो चांद पर दिखने वाले दाग असल में गहरे गड्ढे (क्रेटर) और प्राचीन लावा के जमे हुए मैदान (मारिया) हैं, जो अरबों साल पहले विशाल क्षुद्रग्रहों और उल्कापिंडों के टकराने से बने थे; इन टक्करों से निकली धूल और लावा जम कर सतह को काला बना देते हैं, जो हमें काले धब्बों की तरह दिखते हैं, क्योंकि चांद पर कोई वायुमंडल नहीं है, इसलिए ये निशान मिटते नहीं हैं। चांद में दाग को लेकर भारतीय लोकमानस में कई कहानियाँ मौजूद हैं, जिनमें अधिकांश कथाओं में इसे गणेश देवता के श्राप से जोड़ा जाता है। खासी लोककथा में इसमें थोड़ी सी अश्लीलता का मिश्रण मिलता है, किंतु इस कथा में चांद-सूरज को किसी देवता के रूप में चित्रित न कर मनुष्य के रूप में कथा बुनी गई है। अतः मनुष्य के दुर्गुणों के आधार पर कथा-संयोजन लोकस्वीकृत लगता है, ताकि मनुष्य इस कहानी से प्रेरणा ले और ऐसे कुकृत्य से बचे।

‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास में ब्रह्मपुत्र नदी की उत्पत्ति के संबंध में एक लोककथा मिलती है- “बहुत पहले की बात है जब संसार की रचना हो रही थी। देवताओं ने देखा कि चाँद है, सूरज है और चाँद-सूरज की जोड़ी के साथ अनगिनत तारे हैं। फिर देवताओं ने धरती को रूप दिया, धरती पर पर्वत बनाए, बड़े-बड़े पेड़ उगाए। पेड़ों पर फूल खिले, फल लगे। देवताओं ने पशु बनाए, पंछी बनाए। किसी वस्तु की कमी फिर भी खटकती ही रही। और यही सोचकर देवताओं ने आदमी की रचना की। अब आदमी के रूप में देवता धरती पर उतरने लगे। जब राक्षसों ने देवताओं को देखा तो उन्हें बहुत क्रोध आया। एक राक्षस ने, जो सबमें महाबली था, धरती पर लात चलाई। धरती फट गई और जलधारा फूट निकली। देखते-देखते सारा मैदान पानी में डूब गया। देवताओं में भी एक देवता महाबली थे। वह थे हमारे भगवान बुद्ध, जिन्होंने अनगिनत बार जन्म धारण किया। पर वह था हमारे भगवान का पहला जन्म, पहला रूप। तो जब हमारे भगवान् ने जल-थल एक होता देखा, वह नीचे उतरे। नीचे उतरकर भगवान ने धरती पर अपना मंत्र फूँका। पानी को परे हटाती, आँचल सँभालती, मुँह पर हाथ फेरती धरती बाहर

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 307

निकल आई। धरती ऊँची उठती गई। पानी नीचे रह गया। राक्षसों ने लाख चाहा कि पानी ऊँचा उठकर धरती पर छा जाए, पर यह तो असंभव था। धरती ऊँची थी, पानी नीचा था। अब भगवान् ने देखा कि वह शुभ घड़ी आ गई जब पानी को अपनी डगर पर चलने की आज्ञा दी जाए। भगवान के संकेत करने-भर की देर थी कि पानी अपनी डगर पर चल पड़ा। यही था हमारा ब्रह्मपुत्र। उस समय तो ब्रह्मपुत्र ने भगवान् की बात मान ली और शांत गति से अपनी डगर पर चल पड़ा। लेकिन अब तो हमारे भगवान् धरती पर विराजमान नहीं हैं। इसलिए ब्रह्मपुत्र कभी-कभी राक्षसों की बातों में आकर बरबादी फैलाता है और महाबली भगवान की संतान से बदला लेता है। ब्रह्मपुत्र की जन्म-कथा तिब्बत के बड़े-बूढ़े अलाव के इर्द-गिर्द बैठकर सुनाते हैं।¹ ब्रह्मपुत्र की यह कथा लोक में प्रकृति के नायकत्व को दर्शाती है।

‘मुक्तावती’ उपन्यास में मणिपुर की प्रसिद्ध लोककथा ‘खंब थोइबी’ का उल्लेख मिलता है, ‘खंब थोइबी’ मणिपुर की चर्चित प्रेम-कथा है। आज भी मणिपुर के लोक जीवन में महासती ‘खंब थोइबी’ एक आदर्श के रूप में विद्यमान है। ‘मुक्तावती’ में चंद्रावत अपने मित्र शैलेंद्र को मणिपुर की संस्कृति से परिचय कराते हुए यह कथा कहता है- “संक्षेप में वह घटना यो थी- उन दिनों मणिपुर की मुख्य राजधानी, आज की राजधानी इम्फाल से करीब सताईस मील दक्षिण ‘मोयराड’ में थी। अर्थात् उन दिनों मणिपुर के अनेक राजाओं में मोयराड के राजा की प्रधानता थी। राजा स्वयं निःसंतान था, पर अपनी परम सुंदरी भतीजी ‘थोइबी’ को वह संतान के स्नेह से ही पाल-पोस रहा था। थोइबी द्वितीया की चांद की तरह दिनों-दिन रूप और गुण से समृद्ध होती जा रही थी। फूल की वह कली जब यौवन-वसंत में खिल कर अपना सौरभ बिखेरने लगी, तो अनेक धनवान राजवंशी युवक भौरों की तरह उसकी सौरभ-माधुरी से आकृष्ट हो-हो कर उसके आस-पास मँडराने लगे। पर थोइबी उदासीन बनी रही। किंतु उसकी यह उदासीनता सदा बनी न रह सकी। आखिर एक उपयुक्त भौर ने स्वयं उसे आकृष्ट किया। ‘खंब’ नामक एक नवयुवक ने उसके दिल पर बड़ा गहरा अधिकार जमा लिया। खंब बड़ा बलवान था, पर साथ ही बड़ा गरीब भी। वह ‘मुकना’ (एक प्रकार की कुश्ती) ओर ‘कॉजै’ (पैदल पोलो) आदि अनेक

¹ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 23

खेलों में स्वयं राजा द्वारा अनेक बार पुरस्कृत भी हो चुका था। किंतु जब राजा को मालूम हुआ कि उसकी थोड़ी उस धनहीन कुलहीन युवक से प्रेम करने लगी है तो उसके क्रोध की सीमा न रही। राज-रक्त का अहंकार जैसे आग बन गया। राजकुमारी थोड़ी का ऐसा दुःसाहस कि वह एक सामान्य कुल के धनहीन युवक को पति रूप में स्वीकार करने का प्रयास करे! विचार करे! अपने उज्ज्वल राजवंश को कलंकित करने के पथ पर पैर रखने की धृष्टता करे! राजा चाहता था कि थोड़ी 'नोम्बाल' नामक धनी राजकुमार से विवाह करे। नोम्बाल सुंदर था, बलवान था, पर महाबली 'खंब' में आसक्त थोड़ी के मन को वह अपनी ओर मोड़ने में किसी प्रकार भी सफल न हो सका जैसे चाँद से कोई चाँदनी को अलग नहीं कर सकता। मानो थोड़ी की असाधारण निष्ठा की चट्टान से टकरा कर नोम्बाल के सारे प्रणय-प्रयास व्यर्थ हो गए। फलतः नोम्बाल खंब से खूब ईर्ष्या करने लगा, खूब घृणा भी। और तरह-तरह के षड्यंत्रों से खंब को विनष्ट करने के प्रयत्न में वह लग पड़ा। किसी सुंदरी से संबद्ध प्रेम की प्रतिद्वंद्विता बड़ी ही क्रूर होती है! बड़ी ही जघन्य! उन दिनों एक महाबलशाली जंगली साँड के आतंक से सारा मोयरंग कांप उठा था। भयभीत हो उठा था। साँड जब किसी भी अन्य उपाय से काबू में न लाया जा सका तो राजा ने मानो राजा जनक की तरह इस शर्त की घोषणा की- खंब और नोम्बाल दोनों में से जो भी उस साँड को वश में करेगा अथवा उसे पकड़ कर दरबार में हाजिर करेगा, सुंदरी थोड़ी के पाणि-ग्रहण का वही अधिकारी होगा! राजा की छिपी जालसाजी थी कि खंब साँड द्वारा मार डाला जाए और थोड़ी का नोम्बाल से विवाह कर दिया जाय। पर राजा का षड्यंत्र सफल न हो सका। खंब ने साँड को वश में कर लिया। उसे राजा के समक्ष उपस्थित भी किया। पर राजा अपने वचन से मुकर गया। राजा मन-ही-मन और भी क्रुद्ध हो उठा। असफलता का पिशाच मानो और भी उग्र हो उठा। अब निश्चित रूप से 'खंब' को पार-बाट लगाने का प्रबल संकल्प उस पिशाच के मन को आंदोलित करने लगा। फलस्वरूप एक दिन उसने उसे धोखे से पकड़वाकर अपने महाबली मद-मत्त गजराज के पैरों में बंधवा कर कुचलवा देना चाहा। ऐसा उसने किया भी। उसी दशा में अर्थात् हाथी के पैरों से बंधे मूर्छित खंब को सरे-आम घुमाया गया, घसीटा गया। और जब थोड़ी को इस दुर्घटना का पता चला तो वह

क्रोध और शोक में जैसे पागल हो स्वयं तलवार ले कर खंब की रक्षा के निमित्त दौड़ पड़ी। जैसे स्वयं उसके प्राण संकट में पड़ चुके हो। वह खंब को छुड़ाने में सफल हुई। पर वह बुरी तरह घायल था! बेहोश था। अब थोड़ीबी राजा के क्रोध की जरा भी परवाह न कर खंब के घायल बेहोश शरीर को अपने कंधे पर लाद कर चली गई उस गरीब की झोपड़ी में। उस सती की अथक सेवा और सुश्रूषा से खंब आखिर मृत्यु के मुख से बाहर आ गया। जैसे सावित्री ने सत्यवान को मृत्यु के मुख से छीन लिया हो! थोड़ीबी अब खंब की पत्नी बन कर सदा के लिए उसके घर में रह गई। बस गई। और तब से 'महासती थोड़ीबी' की अमर प्रेम-गाथा से मणिपुर की लोक-गाथा महिमान्वित हो उठी! जैसे जन-जन के मन की प्रेरणा का वह स्रोत बन गई।¹ मणिपुर की यह लोककथा न केवल प्रेम अपितु जीवन के हर क्षेत्र में नैतिक शिक्षा देती है कि मनुष्य अगर सच्चे मन और कड़े परिश्रम से अपने लक्ष्य-प्राप्ति हेतु प्रयास करे तो कुछ भी असंभव नहीं।

‘रक्तयात्रा’ उपन्यास में आदमी और कुत्ते की दोस्ती के संदर्भ में एक लोक कथा मिलती है, उपन्यास में वर्णित नागा समाज में लोग कुत्ता खाते थे, किंतु शिकारी कुत्ते को मारकर खाना वर्जित था, वह इसीलिए भी क्योंकि वह शिकार में उनकी सहायता करता था, कदाचित इसी कारण यह लोककथा नागा समाज में प्रचलित हुई हो। उक्त उपन्यास में यह कथा क्रेलेनु ने बचपन में अपनी माँ से सुनी थी, जिसे वह मोरङ में सभी लड़कियों को सुनाती है- “माँ ने कहानी सुनाते हुए कहा था, 'बहुत पुराने जमाने की बात है। तब सभी जीव जमीन में बने बिलों में रहते थे। पर कुत्ते के पास कोई बिल नहीं था। वह जिस किसी बिल में रहने जाता, उसमें रहने वाला जानवर उसे खदेड़ देता। तब उसने एक चीते से दोस्ती की और उसी के साथ रहने लगा। दोनों साथ-साथ शिकार पर जाते। मगर चीते को कुत्ते की एक आदत कतई पसंद नहीं थी। वह शिकार की गंध पाते ही भौंकने लगता था इससे शिकार होशियार हो जाता और भाग खड़ा होता। जब कई बार ऐसा हुआ तो चीते ने गुस्से में आकर उसे अपने घर से निकाल दिया। कुत्ता फिर बेघर हो उठा। कितने ही दिनों तक भटकने के बाद उसे एक हाथी मिला। हाथी की

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 256-257

चिघाड़ से उसे लगा कि कम से कम वह तो उसके भौंकने का बुरा नहीं मानेगा। उसने हाथी से कहा, तुम मुझे अपने साथ रख लो। मैं तुम्हारे बिल की निगरानी करूंगा। पर हाथी उसके भौंकने की आदत जानता था। उसे चीते का डर भी बना रहता था। चीते से उसकी पैदायशी दुश्मनी थी। चीता अपने आपको जंगल का राजा समझता था, जबकि हाथी का कहना था कि धरती पर पहाड़ के बाद सबसे बड़ा वही है, इसलिए उसी को जंगल का राजा होना चाहिए। तो उसने कुत्ते से कहा, ना भाई, तेरा मेरा साथ नहीं हो सकता। तू भौंके बिना नहीं रह सकता और इस तरह मैं मुसीबत में पड़ जाऊंगा। चीते को मेरा पता लगते देर न लगेगी। इसलिए तुम कोई और ठौर ढूँढो। हाथी से नाउम्मीद होकर कुत्ते ने नये दोस्त की तलाश में जंगलों में भटकना शुरू कर दिया। तभी उसकी मुलाकात एक जंगली कुत्ते से हुई। उसे लगा कि जंगली कुत्ता तो उसका भाईबंद है। वह जरूर उसे अपने साथ रख लेगा। शुरू में ऐसा हुआ भी। दोनों साथ-साथ रहने लगे। साथ-साथ छोटे-छोटे जानवरों का शिकार करते। जंगली कुत्ता शिकार के वक्त भौंकता नहीं था। पर वह कुत्ता तो भौंके बिना नहीं रह सकता था। उसके भौंकने से जंगली कुत्ते को शिकार पकड़ने में मुश्किल पड़ने लगी। वह कड़ी मेहनत के बावजूद कभी-कभार ही कोई शिकार पकड़ पाता। यह सोचता कि नये कुत्ते का साथ दिया तो वह भूखों मर जाएगा। बस उसने भी उसे अपने घर से निकाल दिया। अपनी जात वाले से भी निराश होकर वह कुत्ता एक हिरन के पास गया। पर उससे भी उसकी ज्यादा दिन नहीं निभी। जब हिरन ने देखा कि एक तो वह जरूरत से ज्यादा भौंकता है और दूसरे खूब उसके ही बच्चों को मार कर खाने के फिराक में रहता है तो उसने भी उसकी छुट्टी कर दी। इस तरह हर किसी से नाउम्मीद होकर वह आखिर में आदमी के पास आया। उसे देखते ही आदमी को लगा कि वह तो बड़े काम का है। उसने उसे शिकार करना सिखाया। उस कुत्ते को लेकर शिकार पर जाता तो कुत्ता दूर से ही शिकार की गंध पाकर भौंकने लगता। इससे आदमी को उसके भौंकने से मदद ही मिलती। बस दोनों में दोस्ती हो गई और तब से आज तक कुत्ता आदमी का सबसे अच्छा दोस्त है।¹

यह कहानी सामाजिक अनुकूलन, स्वभावगत भिन्नता और उपयोगिता-बोध की शिक्षा प्रदान करती है।

¹ भिक्षु, कृष्णचंद्र शर्मा. (1978). रक्तयात्रा. पृ. 55-56

कथा का मूल संदेश यह है कि हर प्राणी या व्यक्ति का अपना एक स्वाभाविक गुण होता है, जिसे बदला नहीं जा सकता, बल्कि उचित संदर्भ में समझकर स्वीकार किया जाना चाहिए। कुत्ते का भौंकना उसकी सहज प्रवृत्ति है, जो पशु-जगत में उसके अस्वीकार का कारण बनती है, पर वही गुण मानव समाज में उसकी उपयोगिता का आधार बन जाता है। कहानी यह भी सिखाती है कि सामाजिक संबंध केवल समानता या निकटता से नहीं बनते, बल्कि पारस्परिक लाभ, सहयोग और समझ से स्थायित्व प्राप्त करते हैं।

लोककथा की प्रकृति केवल नीतिपरक ही नहीं होती, उसमें इतिहास, पौराणिकता, रहस्य, तथा मनोरंजन आदि का भी समावेश रहता है। 'प्रेमवल्लरी' उपन्यास में अरुणाचल प्रदेश की एक विनोदपूर्ण लोककथा का वर्णन दृष्टव्य है- “हाँ रेबोम बात चल रही थी अलग रीति-रिवाज के चलन की। उस बात को इस तरह समझो कि आपके घर में एक पालतू बिल्ली है। घर में विवाह के लिए संबंधी बच्चों के साथ आए हैं। बिल्ली बीच में उछल-कूद रही है। उसकी उछल-कूद रोकने के लिए उसे टोकरे के नीचे बंद कर दिया ताकि उछलकर बाहर न निकल जाए तो पास पड़ी सिल या लोहे को उसके ऊपर रख दिया। ... उन्होंने समझा कि यह भी विवाह की कोई रस्म होगी। जब उनके घर विवाह हुआ तो उन्होंने भी यही किया, बिल्ली को टोकरे के नीचे बंद करके सिल या लोहा ही ऊपर रखा। देखने वालों में से अगर किसी ने पूछा तो उसने सीधा-सादा उत्तर दिया। हम लोगों का रिवाज है, शादी पर बिल्ली को टोकरे के नीचे रखकर ऊपर सिल या लोहा रखा जाता है। ऐसा मुझे मेरे फलाँ रिश्तेदार के घर फलाँ के विवाह पर पता चला था। और रेबोम, ग़ज़ब यह भी देखो कि जिसके घर बिल्ली पाली हुई न हो वह किसी पड़ोस के घर से बिल्ली मँगवाकर यह रीति अवश्य अपनाता है।”¹ प्रस्तुत लोककथा मानव स्वभाव और मनोविज्ञान की दो बातों को इंगित करता है, पहला कि मनुष्य किसी भी चीज का सरलता से अनुसरण कर लेता है और दूसरा जब वह पहले से ही किसी कार्य के प्रति सकारात्मक रहता है तो वह कार्य अवश्य पूरा हो जाता है।

¹ मलिक, राजकुमार. (2019). प्रेमवल्लरी. पृ. 99

कहावतों का प्रयोग-

कहावतें लोकभाषा की सशक्त, संक्षिप्त और अर्थगर्भित अभिव्यक्तियां हैं, जिनका विकास सामूहिक जीवन-अनुभवों से हुआ है। ये पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होकर समाज की व्यवहारिक बुद्धि, नैतिक दृष्टि और सांस्कृतिक चेतना को संरक्षित करती हैं। कम शब्दों में गहन अर्थ व्यक्त करना कहावतों की विशिष्ट पहचान है। ये सामाजिक आचार-विचार, नैतिक मूल्यों, श्रम-संस्कृति और मानवीय संबंधों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रतिबिंबित करती हैं तथा इनमें लोकमानस की सामूहिक सोच, अनुभव और जीवन-दर्शन समाहित रहता है।

‘कामरूपा’ उपन्यास में एक गालो कहावत का वर्णन है- “‘काकेन-ए मेनामे आपुके जिज्जा’ सुंदर रूप का कोई अस्तित्व नहीं, महत्त्व है हृदय की सच्चाई का।”¹ यह कहावत भौतिक सांसारिक जगत के मिथ्यावरण को नकार हृदय के आंतरिक मर्म को जानने पर बल देता है।

‘मुक्ति’ में एक कार्बी कहावत का उल्लेख है- “एक बात इनकी लोक कथाओं में बड़ी मजेदार पाई जाती है कि प्रायः सभी लोक कथाओं में एक कहावत कही जाती है ‘नलर आग चिचा। सकलो कथा मिछा।’ अथवा ‘छालत परे फेंचा। मोर साधू कथा मिछा।’ अर्थात् नर-कद नीचे चाहे जितना मोटा हो उसका ऊपरी भाग तो पतला कमजोर सा ही न होता है।”²

मिजो जनजीवन पर केंद्रित ‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ में एक कहावत है- “मिजो जल्दी कोई बात नहीं कहता। पर कहता है तो उस पर टिकता है।”³ यह कहावत मिजो समुदाय की सोच-समझकर बोलने की प्रवृत्ति, वचनबद्धता और निर्णय में दृढ़ता को रेखांकित करती है।

‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास में एक असमीया कहावत का उल्लेख है- “अपने गाँव में मुरगे की तरह बाँगो, ससुराल में मुरगी की तरह कड़कड़ाओ!”⁴ यह एक विनोदपूर्ण कहावत है, जो बताती है कि

¹ त्रिपाठी, रमानाथ. (2013). कामरूपा. पृ. 105

² दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). मुक्ति. पृ. 43-44

³ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2011). जहाँ बाँस फूलते हैं. पृ. 140

⁴ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 63

व्यक्ति का व्यवहार स्थान और सामाजिक संबंधों के अनुसार बदल जाता है। अपने गाँव में वह निडर, मुखर और अधिकारपूर्ण होता है, जबकि ससुराल जैसे पराए वातावरण में वही व्यक्ति संकोची, संयमित और विनम्र हो जाता है। यह सामाजिक मर्यादा और परिस्थिति-सापेक्ष आचरण को उजागर करती है।

असम पर केंद्रित उपन्यास 'देश भीतर देश' में कहावत है- “असम में कहावत है कि जो एक बार ब्रह्मपुत्र पार करता है उसे कम-से-कम सात बार इसे पार करना पड़ता है।”¹ यह कहावत असम के नदी केंद्रित जीवन की अनिश्चितता को दर्शाती है। ब्रह्मपुत्र पार करना केवल भौगोलिक क्रिया नहीं, बल्कि इसके अद्भुत सौंदर्य, बाढ़, विस्थापन और संघर्ष का प्रतीक है। जहाँ एक बार नदी से जुड़ने पर मनुष्य को जीवन में अनेक बार उससे जूझना पड़ता है।

‘जंगली फूल’ उपन्यास में वर्णित कहावत के अनुसार- “एक ही बिल में रहते हुए भी कुछ सर्प जहरीले नहीं होते। बल्कि वे आदमी को बचाते हैं। वे किसी और को खाने के बजाय जहरीले सर्पों को ही खा जाते हैं।”² अर्थात् समाज में सभी लोग हानिकारक नहीं होते। कुछ व्यक्ति बुराई के बीच रहते हुए भी परोपकारी और रक्षक होते हैं। वे स्वयं किसी को नुकसान नहीं पहुँचाते, बल्कि समाज को हानि पहुँचाने वालों का विरोध करते हैं। यह कहावत बुरे मनुष्य में भी अच्छाई की मौजूदगी की ओर संकेत करती है।

लोकगीतों की रचनात्मकता-

‘लोकगीत’ लोक-संस्कृति की मौखिक परंपरा से उपजी वह सृजनात्मक अभिव्यक्ति है, जो सामान्य जनजीवन के अनुभवों, भावनाओं और विश्वासों को सहज रूप में प्रस्तुत करती है। इसकी अवधारणा सामूहिक स्मृति, परंपरा और लोकानुभव पर आधारित होती है। लोकगीतों का महत्त्व इस बात में निहित है कि वे समाज के सुख-दुःख, श्रम, पर्व-त्यौहार, प्रेम, विरह और प्रकृति से जुड़ी संवेदनाओं को पीढ़ी दर पीढ़ी संजोकर रखते हैं। सरल शब्दावली, सहज ताल-लय, सामूहिक गायन

¹ सौरभ, प्रदीप. (2013). देश भीतर देश. पृ. 20

² नाबाम, जोराम यालाम. (2019). जंगली फूल. पृ. 37

और स्थानीय रंग लोकगीतों की प्रमुख विशेषताएं हैं, जो इन्हें लोक संस्कृति का आवश्यक अंग बनाती हैं।

‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास में बिहू गीत का प्रयोग दृष्टव्य है, जिससे असमीया लोक समाज के आनंद और उत्सवधर्मिता की झलक मिलती है- “नया धान घर आए डेढ़-दो मास ही हुए होंगे, अब नया धान रोपने में थोड़े दिन शेष थे। बोहाग बिहू तो वस्तुतः नए धान का त्यौहार था। प्रत्येक घर का भराल नए धान से भरपूर था, प्रत्येक प्राणी नूतन उल्लास का प्रतीक था। युवतियों ने एक गान आरंभ किया:

बिहू मारि थाकिवार, मने ओई लगरी

बिहू मारि थाकिवार मन

बिहू मारि थाकोते, पुलुवाई निनिवा

भरिबो लागिबो धन

(बिहू गाती चली जाऊं, यही जी चाहता है प्रियतम, बिहू गाते रहने को जी चाहता है। बिहू गाते-गाते मुझे भगाकर न ले जाना, धन भरना पड़ेगा।)”¹

‘मुक्तावती’ उपन्यास में मणिपुरी लोकगीत का प्रसंग आता है- “धान कूटते कूटते ही तोम्बी सना ने थम्बाल को आदेश दिया-हाँ भई, थम्बा! तू ही क्यों चुपचाप बैठी रहेगी? तेरा गला बड़ा मीठा है! कोई गीत सुना और हमारी मेहनत को हलका कर! और थम्बाल ने इस आमंत्रण पर अपने मीठे सुरीले स्वर में धीरे-धीरे गाना शुरू कर दिया-

“ममाग लइकाइ थम्बाल शात्ले

खोइमुना इल्ल खोइराबा।

शाबि लाओ लाश्रो चारेश लाओ,

कल्लक्पा यामइ कजाओब,

यामइ मागदा थारो लाओ।”

¹ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 104-105

अर्थात् “सामने के मुहल्ले मे कमल खिल रहे हैं! पुरुष भ्रमर मौजूद है यहाँ! प्यारी (प्यारे), आओ आओ! हम चले चलें! यहाँ बड़े ईर्ष्यालु लोग है! मेरे सामने आ जाओ!”¹

‘जय आई असम’ उपन्यास में ज्योतिप्रसाद आगरवाला का गीत उल्लेखित है-

“जननीर संतान-

जागा-

जागा मुक्ति प्राण।

जागा नव जोवान।

अर्थात् जननी की संतान, जाग उठो, जागो मुक्ति प्राण, जागो नौ जवान।”² यह गीत असम आंदोलन के युवाओं का उद्घोष बना।

असम पर आधारित ‘लोहित’ उपन्यास के आरंभ में भूपेन हजारिका का गीत दृष्टव्य है-

“अतीतर बुरंजी लिखेक लिखिछेले

राजा महाराजार कथा

आजिर बुरंजी लिखेक लिखिछे

मानुह मुकुतिर कथा।

(अतीत के इतिहास रचयिता ने लिखी थी, राजा महाराजाओं की कथा, आज के इतिहास रचयिता लिखते हैं, मानव मुक्ति की कथा।)”³

‘मेरी आवाज सुनो’ उपन्यास में आयि अपने प्रेमी आलुक के विरह में ‘आन्ने यो आन्ना’ (विरह- गीत) गाती है-

“आन्ना आन्ने गोले आन्ना

... आन्ने यो आन्ना !

¹ ठाकुर, बलभद्र. (1958). मुक्तावती. पृ. 289

² वर्मा, नवारुण. (1983). जय आई असम. पृ. 11

³ सभरवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 7

दीते योरि-ए योपेन रोदो बेसीन,
कोन्ने गे आयि-ए बीघेन रोदो बेसीन
गुमीन गे हिप्पो पुपेन रूदो बेसीन,
होयिन गे रेन्नो मेन्पेन रोदो बेसीन...

(दुनिया हमसे ईर्ष्या करके हमारे बारे में अफवाह फैला रही है। फिर भी हे प्रेमी! हमारे बीच अनगिनत पर्वत-पहाड़, नद-नदी, दीवार बाधक के रूप में खड़े हो गए हैं।... तो क्या हुआ, हमारे हृदय-नदी की प्रेम-धारा बहकर, गिरकर, उठकर एक लंबी यात्रा कर ही लेगी। हम दोनों की प्रेम-लहरें अनंत समुद्र में ही मिलेंगी।)

‘मिनाम’ उपन्यास में लोकगीतों के माध्यम से अरुणाचल प्रदेश के जनजातीय जीवन की विविध पहलुओं को दर्शाया गया है। एक विवाह का दृश्य है, जिसमें वर-वधू को ‘कोपु जिलिक’ (एक प्रकार के विशेष पत्ते का आदान-प्रदान) की रस्म करनी पड़ती है। “वधू अपने हाथ से कोपु वर को देती है और वर की ओर से उसकी बहन या माँ वधू को देती है। यह एक प्रकार का आशीर्वाद होता है, जिसे काबेन जिबो यानी शादी के गीत गाने वाली अपने गीत के माध्यम से इस प्रकार कहती है-

“कोपु गे रिलगे, कोते गे रिलगे,
कोपु ने दारदा, दारेंप ए कायो,
कोते ने दारदा, दारेंप ए कायो,
कोपु नाम दुमतु नाम, कोते नाम दुमतु नाम,
कोपु ने मुमपी पीजी तामा जिलो,
कोते ने मुमपी पीजी तामा जिलो...

कोपु की तुलना वधू या युवती से की जाती है। यह आगे बढ़ने की संभावना को व्यक्त करती है। रास्ते की सभी प्रकार की गंदगी को, बाधाओं आदि को सफलतापूर्वक लांघकर अग्रसर होने का प्रतीक है।”¹

‘रूपतिल्ली की कथा’ में लोकगीत का अर्थपूर्ण वर्णन मिलता है। यहाँ रचनाकार ने खासी लोकगीत को हिंदी रूपांतरण प्रस्तुत किया है, जहाँ लिङ्दोह ढोल बजते हुए गाता है-

“पड़ोस के जंगल में बास करने वाले
उ लेई शिलाड
कि तब तुम्हारा नाम अनाम था कि
जिसने तुम्हें खोजा
उसी के नाम पर चल पड़ा तुम्हारा नाम
शिलाड कि आज भी तुम्हारा नाम अज्ञात है
कि वही विस्तार देता है
तुम्हारी स्थिति का
तुम्हारी शक्ति का.....

उसी क्षण राली सोच रहा था कि हो न हो शिलाड शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'शिला' शब्द से हुई हो।”² यह गीत खासी लोककथा की व्याख्या करता है, जिसके अनुसार शिलांग का नाम स्थानीय देवता ‘उ लेई शाईलॉंग’ के नाम पर पड़ा।

6.3 शैली का अभिनव प्रयोग

किसी रचना की शैली उसका प्राणतत्त्व होती है। शैली ही वह माध्यम है जिसके सहारे विचार एवं संवेदना पाठक तक पहुंचती है। शैली ही भाषा, संवाद, वर्णन, प्रतीक, बिंब और शिल्प के माध्यम

¹ लोयी, मोर्जुम. (2020). मिनाम. पृ. 19-20

² मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). रूपतिल्ली की कथा. पृ. 60-63

से कथा को जीवंत बनाती है। उपन्यास की शैली पाठक और रचना के बीच सेतु का कार्य करती है। आंचलिक, यथार्थवादी, प्रतीकात्मक या प्रयोगशील शैली के माध्यम से लेखक समाज, संस्कृति और मनुष्य के आंतरिक संघर्षों को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करता है। विशेषतः लोक-जीवन या जन-संघर्ष आधारित उपन्यासों में शैली कथ्य को प्रामाणिकता और विश्वसनीयता प्रदान करती है।

‘ब्रह्मपुत्र’ उपन्यास असम के परिवेश पर केंद्रित है। उपन्यास का मुख्य नायक ब्रह्मपुत्र नदी है। पूरे उपन्यास के तमाम हिस्सों में ब्रह्मपुत्र की उपस्थिति रहती है। इस उपन्यास में आंचलिक लोक शैली का प्रयोग मिलता है। इसके सभी उदाहरण एवं उपमाएं ब्रह्मपुत्र पर ही केंद्रित हैं, जैसे- ‘धनवान की नाव तो रेत पर भी चल जाती है, पर निर्धन की नाव ब्रह्मपुत्र में भी नहीं चलती!’, ‘ब्रह्मपुत्र जानता है कि चप्पू कितना गहरा जाता है’, ‘हमारी खेती तो पानी पर ही होती है। मछलियाँ ही हमारी खेतियाँ हैं’, ‘तुम्हारी तो वह बात है- ब्रह्मपुत्र में जितना बाँध लगाओ, उल्टा और भी चढ़ने लगता है’, ‘सुना नहीं- कभी ब्रह्मपुत्र की नाव बैलगाड़ी पर, तो कभी बैलगाड़ी ब्रह्मपुत्र की नाव पर। दूसरों की खिल्ली उड़ाने से पहले सोच-समझ लो कि कोई हमारा भी उल्लू बना सकता है।’ उपर्युक्त उद्धरण ब्रह्मपुत्र को आंचलिक रंग प्रदान करते हैं।

‘ब्रह्मपुत्र’ में कथात्मक-वर्णनात्मक शैली का चित्रण मिलता है- “बहुत पहले की बात है जब संसार की रचना हो रही थी। देवताओं ने देखा कि चाँद है, सूरज है और चाँद-सूरज की जोड़ी के साथ अनगिनत तारे हैं। फिर देवताओं ने धरती को रूप दिया, धरती पर पर्वत बनाए, बड़े-बड़े पेड़ उगाए। पेड़ों पर फूल खिले, फल लगे। देवताओं ने पशु बनाये, पंछी बनाये। किसी वस्तु की कमी फिर भी खटकती ही रही। और यही सोचकर देवताओं ने आदमी की रचना की।”¹ यहाँ एक कथा के माध्यम से उपन्यास का आरंभ होता है। लेखक नदी, गाँव, बाढ़, बाजार, बिहू, माझुली, सापरी आदि का विस्तारपूर्ण वर्णन करता है। वर्णन में काव्यात्मकता है, पर वह कथा-प्रवाह को बाधित नहीं करती। ब्रह्मपुत्र स्वयं एक जीवित पात्र की तरह उपस्थित है।

¹ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 23

उपन्यास में दृश्यात्मकता, प्रतीकात्मकता, बिंब, एवं संवाद शैली का भी प्रयोग हुआ है- “लोग ब्रह्मपुत्र को माँ भी समझते हैं और बापू भी। अब तो उन्हें ब्रह्मपुत्र में कोई अवगुण दिखाई नहीं देता।”¹ उपन्यास में कई पात्र हैं, जैसे- अतुल, जूनतारा, आरती, देवकांत, धर्मानंदी, नीलमणि आदि किंतु, इनमें नीरद लेखक का प्रतिनिधि पात्र जान पड़ता है जो ब्रह्मपुत्र पर पुस्तक लिख रहा है। उपन्यास के अंत में रानी गाइडालो के वर्णन से उपन्यास में ऐतिहासिकता का भी समावेश हो गया है।

‘रूपतिल्ली की कथा’ वर्णनात्मक शैली में लिखा उपन्यास गया है। इसमें लेखक ने हिंदी के अतिरिक्त खासी और अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। खासी शब्दों के अर्थ स्पष्टीकरण के लिए पाद टिप्पणी दी गई है। लोक विश्वास, बलि प्रथा, पर्व-त्यौहार आदि के वर्णन में स्मृतिपरक शैली का उल्लेख हुआ है, लेकिन पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग नहीं हुआ है। खासी गीतों का उल्लेख तो हुआ है पर उसका हिंदी अनुवाद ही लिखा गया है, जिस कारण वह उतना प्रभावी नहीं लगता। उपन्यास में बीच-बीच में भोजपुरी-अवधी के शब्दों का प्रयोग है- ‘दबइल सिंह को अपनी दशा याद आयी। बिसूरने का समय नहीं था।’, ‘दोनों पुजारियों ने हाथ माथे के ऊपर ले जाकर आँखें मूँद लीं और उ फान किरपद’ को गोहरा कर कहा कि हे देव!’, ‘भँक-भूक कर, कार काट कर, चहेँट-चहेँट कर दुष्टात्माओं को भगाता रहा।’ यहाँ बिसूरने, गोहरा और चहेँट- चहेँट जैसे शब्द और खासी को खसिया कहना जैसे प्रयोग अवधी/भोजपुरी के हैं। उपन्यास में कुल 29 परिच्छेद हैं, जिसमें कथा लेखक के विवरण द्वारा ही आगे बढ़ती है। उपन्यास में कई लोक कथाओं की चर्चा है, डिडेई या सुरतरु का पेड़, महीरुह का फूल जैसी बातें काल्पनिक लगती हैं, पर उ तिरोत सिंह और अंग्रेजों के साथ संघर्ष जैसे प्रसंग उपन्यास में काल्पनिकता और यथार्थ का सम्मिश्रण करते हैं।

‘जंगली फूल’ उपन्यास वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है। उपन्यास के आरंभ में पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग मिलता है- “तानी स्मृतियों में खो गया है। उस बीते हुए वक्त में वापस लौट गया है। एक-एक कर दृश्य उभरने लगे हैं- पिताजी की चार पत्नियाँ थीं। जिसकी जितनी पत्नियाँ-वे उतना ही

¹ सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. पृ. 293

धनवान और शक्तिशाली माने गए। एक से अधिक विवाह करो और बच्चे जितना हो सके पैदा करो- अपना कबीला छोटा है। जनसंख्या जितनी अधिक हो, उतना अच्छा। जिन कबीलों में लोगों की संख्या अधिक होती, वे शक्तिशाली भी उतने ही होते। जिन परिवारों में अधिक लोग होते, वे परिवार भी शक्तिशाली माने जाते। जरूरत थी यह उस समय। हर कोई स्वयं को जिंदा रखना चाहता था।”¹ इसके बाद उपन्यास वर्णनात्मक शैली में आगे बढ़ता है। उपन्यास में काव्यात्मक शैली का भी प्रयोग हुआ है-

कब से ये बूँदें ढँकती है तुझको प्यारे
मिलने को रूह से तेरे, तरसता है कौन
स्वरों में, शब्दों में, गीत घोलता है कौन
बिखर गया है तू, बिखरा हूँ मैं भी देख कौन
आँखों से तेरी, मेरी बरसता है देख”²

‘जंगली फूल’ उपन्यास की भाषा में दार्शनिक-रहस्य और भावनात्मक भाषा का भी प्रयोग है- “भाव मन से ही तो पैदा हुए...और तुम अब तक उसी में चल रहे हो? पानी के बुलबुले हैं ये। क्षण-भर रहे... फिर सब खत्म। ज्ञात-अज्ञात पूर्वज हुम्म... यह दिलचस्प हैं!”³ यहाँ बुलबुलों का प्रतीकार्थ , डॉट्स..., विस्मयादिबोधक चिह्न तथा हुम्म जैसे बातचीत के लहजे वाले शब्दों का शैलीगत प्रयोग है।

‘मिनाम’ उपन्यास की कथावस्तु विवरणात्मक शैली में लिखी गई है। यह उपन्यास 21 अध्यायों में लिखित है। पूरे उपन्यास में कोई एक नायक/नायिका नहीं है और न ही इसमें एक अध्याय का दूसरे अध्याय से कोई क्रमबद्ध संबंध है। लेखिका ने इसमें किसी प्रकार की भूमिका नहीं लिखी है, लेकिन विभिन्न परिच्छेदों- अरुणाचल प्रदेश, गालो जनजाति में बच्चों के नामकरण, मेरा बचपन, दिल्ली यात्रा और ताकोप की माँ आदि शीर्षकों से कथा-संयोजन किया गया है। इस उपन्यास में मुख्यतः यामी, यापी, याजुम और मिनाम की कथा है। यद्यपि उपन्यास का पूरा नाम ‘मिनाम : एक

¹ नाबाम, जोराम यालाम. (2019). जंगली फूल. पृ. 10

² वही, पृ. 27

³ वही, पृ. 50

आदिवासी स्त्री की संघर्ष कथा' है, अतः इन चारों आदिवासी स्त्री पात्रों को स्त्री प्रतीकार्थ के रूप में लिया गया है। 'मिनाम' में गालो लोकगीतों का पर्याप्त प्रयोग है, साथ ही कई स्थानों पर काव्यात्मक शैली का प्रयोग भी दृष्टव्य है-

देखे थे कई सपने, क्या हसीन वो लम्हे थे
प्यार बेशुमार था, जमाने से बेगाने थे
कल की क्या खबर थी, बस आज में मग्न थे..."¹

'मिनाम' उपन्यास में अधिकांश कथन व्याख्यामूलक तथा स्मृतिपरक शैली में लिखे गए हैं, बीच-बीच में संवाद और पूर्वदीप्ति शैली का भी प्रयोग है।

'जहाँ बाँस फूलते हैं' वर्णनात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास में 37 परिच्छेद हैं। उपन्यास में मिजो भाषा के शब्दों का पात्रानुकूल प्रयोग हुआ है। उपन्यास में वर्णनात्मक शैली के साथ विवरणात्मक और संवाद शैली का भी प्रयोग हुआ है। माउतम की घटना और मिजो विद्रोह के वर्णन से उपन्यास में ऐतिहासिकता का पुट भी शामिल हो गया है। उपन्यास की भाषा में दृश्यात्मकता का जीवंत वर्णन है- "फिर उन्होंने कृष्णन् को पकड़ लिया। बाँस काटकर बीच चौराहे पर सूली बनाई गई। उसमें कृष्णन् की गर्दन फँसा सड़क पर टाँग दिया गया। जो भी क्रोध से भरा आता था अपने पाँव से वार कर देता था। कृष्णन् कई घंटों में तड़फ कर मरा। उसकी आँतें गृह्यद्वार से बाहर निकल आई थीं, जीभ मुँह से बाहर आ गई थी, सीने तथा गर्दन से खून बाहर आ गया था।"² उपन्यास में काव्यात्मक शैली का भी चित्रण है, जिसमें परिशिष्ट के रूप में रुआलखूमा की नौ कविताएं दी गई हैं-

“एक नदी है तुईवाई
जिसकी टूटी लहरें जलगीत गाती हैं

¹ लोयी, मोर्जुम. (2020). मिनाम. पृ. 105

² मिश्र, श्रीप्रकाश. (2011). जहाँ बाँस फूलते हैं. पृ. 264

एक किरात है लालहेया
जिसकी अग्नि-वाणी रक्तबीज बोती है
एक देश है मिजोरम...”¹

‘लोहित’ उपन्यास की भाषा सरल और परिनिष्ठित हिंदी युक्त है, बीच-बीच में असमीया शब्दों का उल्लेख करते हुए उसे हिंदी में वर्णित किया गया है। लोहित उपन्यास में लोहित नदी को एक पात्र के रूप में चित्रित किया गया है- “जोय तो चली गई लेकिन आप सोच रहे होंगे कि मैं उससे भला कैसे बातें कर सकता हूँ? एक वही तो है जो समझती है मेरी भाषा, मेरी बात। मैं तो सदियों से बहुत कुछ कहने का प्रयास कर रहा हूँ, लेकिन सब अपने लिए ही जी रहे हैं। कभी किसी ने रुककर मुझे कभी देखा तक नहीं। मेरे सीने पर से निकलती नावों से उतरते ही बढ़ जाते हैं आगे। एक नज़र देखते भी नहीं। धन्यवाद भी नहीं। मुझे जाना-समझा तो बस जोय ने। जो उससे कहा, आपसे भी कहता हूँ। मैं लोहित हूँ। लौहित्य हूँ। दिहांग, सियांग भी हूँ। ब्रह्म-पुत्र तो हूँ ही। कई नाम हैं मेरे पर मैं अपनी बात लोहित बनकर कहूँगा।”² उपन्यास की भाषा पात्र एवं प्रसंगानुकूल है, बीच में जहाँ जोय अपने बचपन को याद करती है वहाँ पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग हुआ है। उपन्यास का आरंभ भूपेन हजारिका के गीत से होता है और अंत में लोहित नदी द्वारा भूपेन हजारिका का यह गीत-

“मइ एटि जाजाबर धरार दिहिंगे दिपांगे लबरो निबिचरी निजा घर।

बारे-बारे बाटर मनुहो आपोन इइ छे बंर सेये मइ जाजाबर।

मनर मनुह बहुतेई देखो घरने हइछे पर सेये मइ जाजाबर।

¹ मिश्र, श्रीप्रकाश. (2011). जहाँ बाँस फूलते हैं. पृ. 287

² सभारवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 7

(मैं एक यायावर धरती के चारों ओर घूमूँ नहीं ढूँढ़ा अपना घर। बार-बार महसूस करूँ कि राहों में मिलने वाले भी अपने बन जाते हैं इसलिए मैं यायावर। बहुतों को देखा, घर में ही हुए वे पराए, इसीलिए मैं यायावर।)''¹ गाकर उपन्यास की समाप्ति करना शिल्प की दृष्टि से लेखिका का अभिनव प्रयोग है।

‘देश भीतर देश’ उपन्यास की भाषा सरल एवं वर्णनात्मक है। इस उपन्यास के मुख्य पात्र विनय और मिल्की के अलावा कई अन्य पात्रों के संयोजन से कथा एकल और समानांतर दोनों रूपों में चलती है। उपन्यास में बीच-बीच में कुछ असमीया शब्दों का भी उल्लेख हैं। वर्णनात्मक शैली के साथ-साथ उपन्यास में काव्यात्मक शैली का भी प्रयोग हुआ है-

“मैंने उससे कहा

गुलाब

उसने मुझसे कहा

तुम्हारी माँ की तबीयत अब कैसी है। मैंने उससे कहा

वसंत...”²

उपन्यास के बीच-बीच में संवाद, मनोवैज्ञानिक, दृश्य, डायरी शैली का प्रयोग है तथा उपन्यास के अंत में मिल्की द्वारा लिखा पत्र और उसमें लिखी कविता भाषा की संवेदना को अधिक गहराई व विस्तार देता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में शैली केवल अभिव्यक्ति का साधन नहीं, बल्कि रचना की वैचारिक, सांस्कृतिक और संवेदनात्मक आधारशिला है। विशेषतः ‘ब्रह्मपुत्र’ जैसे उपन्यासों में शैली लोक-जीवन, प्रकृति और मानव-संघर्ष को जोड़ने वाली सृजनात्मक कड़ी के रूप में उभरती है। आंचलिकतापूर्ण लोक-शैली के माध्यम से भाषा,

¹ सभारवाल, अनिता. (2016). लोहित. पृ. 232

² सौरभ, प्रदीप. (2013). देश भीतर देश. पृ. 112

उपमा, लोकोक्ति और बिंब उस भौगोलिक क्षेत्र की जीवन-दृष्टि को प्रामाणिकता प्रदान करते हैं, जिससे पाठक रचना के परिवेश में सहज रूप से प्रवेश करता है।

कथात्मक-वर्णनात्मक शैली कथा प्रवाह को जीवंत बनाए रखती है और प्रकृति, नदी, बाढ़, पर्व-त्यौहार तथा सामाजिक संरचनाओं का संवेदनशील चित्रण प्रस्तुत करती है। प्रतीकात्मकता और बिंबात्मकता के सहारे नदी को जीवित पात्र के रूप में प्रतिष्ठित करना शैली की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है, जो मनुष्य और प्रकृति के सह-अस्तित्व, संघर्ष और निर्भरता को गहराई से उद्घाटित करती है। संवादात्मक शैली लोकबोध और सामाजिक यथार्थ को सशक्त बनाती है, जबकि ऐतिहासिक प्रसंगों का समावेश रचना को समय और समाज के व्यापक संदर्भों से जोड़ता है।

अन्य उपन्यासों जैसे 'रूपतिल्ली की कथा', 'जंगली फूल', 'मिनाम', 'लोहित' 'जहाँ बाँस फूलते हैं' और 'देश भीतर देश' में प्रयुक्त वर्णनात्मक, स्मृतिपरक, पूर्वदीप्ति, काव्यात्मक और प्रयोगशील शैलियाँ यह प्रमाणित करती हैं कि शैली कथ्य के अनुरूप बदलते हुए भी लोक-संवेदना और संघर्ष-चेतना को केंद्र में रखती है। निष्कर्षतः इन उपन्यासों की शैली न केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति रचती है, बल्कि पूर्वोत्तर भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ का विश्वसनीय और शोधपरक दस्तावेज भी निर्मित करती है।

निष्कर्ष

पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त लोक संस्कृति का अध्ययन न केवल साहित्यिक दृष्टि से आवश्यक है, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, वैचारिक एवं अनुसंधान की दृष्टि से भी अत्यंत प्रासंगिक है। इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्वोत्तर भारत किसी एकल सांस्कृतिक इकाई के रूप में नहीं, बल्कि विविध प्रांतों की भाषाओं, जनजातियों, परंपराओं, मिथकों, मान्यताओं और जीवन-पद्धतियों की बहुल संरचना की धारा के रूप में विद्यमान है। यही बहुलता उसकी लोक संस्कृति की मूल पहचान है, जिसे हिंदी उपन्यासों ने विविध रूपों में अभिव्यक्त किया है। पूर्वोत्तर भारत ऐतिहासिक, पौराणिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय सभ्यता का अभिन्न अंग रहा है, किंतु आधुनिक काल में वह लंबे समय तक सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक उपेक्षा का शिकार रहा। मुख्यधारा से यह दूरी केवल भौगोलिक नहीं, बल्कि मानसिक और सांस्कृतिक भी रही है। हिंदी साहित्य में पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यास इस दूरी को पाटने का प्रयास करते हैं और लोक संस्कृति को माध्यम बनाकर वहाँ के जनजीवन, अस्मिता-बोध और संघर्षों को अभिव्यक्त करते हैं। इस दृष्टि से लोक संस्कृति केवल परंपराओं का संग्रह नहीं, बल्कि पहचान और प्रतिरोध की चेतना का आधार बनती है।

पूर्व शोध-कार्यों की समीक्षा के उपरान्त यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि पूर्वोत्तर भारत पर हिंदी साहित्य में पर्याप्त रचनात्मक लेखन उपलब्ध है, किंतु अधिकांश शोध कार्यों का केंद्र राजनीतिक, सामाजिक, अस्मिता-विमर्श, आदिवासी जीवन या ऐतिहासिक संदर्भ रहे हैं। लोक संस्कृति को स्वतंत्र और केंद्रीय विषय बनाकर किया गया समग्र अध्ययन अपेक्षाकृत दुर्लभ है। अतः प्रस्तुत शोध अपने विषय चयन की दृष्टि से मौलिक है और पूर्ववर्ती शोध की सीमाओं को दृष्टिगत रखते हुए एक नई शोध-दिशा प्रस्तावित करता है। प्रस्तुत अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि लोक संस्कृति किसी भी समाज की प्रधान अस्मिता होती है। भाषा, नामकरण, रहन-सहन, खान-पान, पर्व-त्यौहार, कृषि, वेश-भूषा, लोक कला, लोक विश्वास, मिथक, पूजा-पद्धति और सामाजिक संरचना ये सभी लोक संस्कृति के अभिन्न

घटक हैं। शोध-समस्या के कथन से यह निष्कर्ष सामने आता है कि हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर की लोक संस्कृति केवल यथार्थ का चित्रण नहीं करती, बल्कि वह अपने आदिम स्वरूप और आधुनिक परिवर्तनों दोनों को साथ लेकर चलती है। उपन्यासों में लोक संस्कृति एक गतिशील प्रक्रिया के रूप में उभरती है, जो समय, परिस्थिति और बाहरी प्रभावों के साथ निरंतर रूपांतरित होती रहती है। शोध-प्रश्नों के विश्लेषण से यह तथ्य सामने आता है कि लोक संस्कृति और साहित्य के बीच द्वंद्वात्मक संबंध है। उपन्यासों के पात्र और घटनाएँ लोक संस्कृति से प्रभावित भी होती हैं और उसे प्रभावित भी करती हैं। जनजातीय समाज अपनी परंपराओं और मान्यताओं को जीवित रखने का प्रयास करता है, किंतु आधुनिकता, विज्ञान, तकनीक, शिक्षा, बाहरी संपर्क, घुसपैठ और विस्थापन जैसी प्रक्रियाएँ लोक संस्कृति के स्वरूप में परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। यह परिवर्तन कहीं लोक संस्कृति को समृद्ध करता है, तो कहीं उसके मूल स्वरूप के क्षरण का कारण भी बनता है।

पूर्वोत्तर भारत के अनेक जनजातीय समाजों में मातृवंशीय व्यवस्था, स्त्री की सामाजिक स्वतंत्रता और उसकी केंद्रीय भूमिका दिखाई देती है। किंतु, उपन्यासों में यह भी उजागर होता है कि आदर्श और यथार्थ के बीच अंतर बना हुआ है। लोक संस्कृति स्त्री को सम्मान भी देती है और कई बार परंपरा के नाम पर उसे सीमित भी करती है। यह अंतर्विरोध लोक संस्कृति की जटिलता को दर्शाता है। शोध-उद्देश्यों के आलोक में यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रस्तुत शोध केवल लोक संस्कृति के वर्णन तक सीमित नहीं है, बल्कि उसके स्वरूप, प्रवृत्ति और संरक्षण की प्रक्रिया का भी विश्लेषण करता है। पूर्वोत्तर तथा पूर्वोत्तर से बाहर के रचनाकारों द्वारा लोक संस्कृति के चित्रण में दृष्टिगत अंतर यह सिद्ध करता है कि स्थानीय अनुभव और बाहरी दृष्टि दोनों मिलकर हिंदी उपन्यासों को बहुआयामी बनाते हैं। शिल्प के स्तर पर लोकभाषा की बुनावट तथा सांस्कृतिक विन्यास का अध्ययन उपन्यास की अंतर्वस्तु को भाव एवं कला दोनों मानकों पर विचारणीय बनाता है। शोध-प्रविधि और शोध-सीमा के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि निगमनात्मक, विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग इस शोध को वैचारिक संतुलन प्रदान करता है। प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतों के समुचित उपयोग से शोध

की प्रामाणिकता सुनिश्चित होती है। वर्ष 2020 तक प्रकाशित मूल हिंदी उपन्यासों तक सीमित रहने से शोध का क्षेत्र स्पष्ट और केंद्रित बना है, जिससे प्राप्त विवरण अधिक सुसंगत और विश्वसनीय बनाते हैं।

लोक संस्कृति मानव सभ्यता की सबसे मूल, व्यापक और जीवंत अभिव्यक्ति है, जिसे किसी भाषायिक परिभाषा या सामाजिक वर्ग में सीमित नहीं किया जा सकता। 'लोक' और 'संस्कृति' दोनों अवधारणाएँ परस्पर संबद्ध हैं और इनके समन्वय से निर्मित लोक संस्कृति मानव समाज की सामूहिक चेतना, अनुभव और जीवन-दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती हैं। 'लोक' की अवधारणा के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि लोक केवल ग्रामीण या अशिक्षित समाज का पर्याय नहीं है, बल्कि वह समस्त जनसमुदाय है जो अपने अनुभवजन्य ज्ञान, परंपराओं और व्यवहारों के माध्यम से जीवन को संचालित करता है। लोक की परिधि में मनुष्य के साथ-साथ प्रकृति, जीव-जंतु, वस्तुएँ, विश्वास और व्यवहार भी सम्मिलित हैं। वैदिक काल से लेकर आधुनिक हिंदी साहित्य तक 'लोक' शब्द का प्रयोग यह प्रमाणित करता है कि 'लोक' भारतीय चिंतन परंपरा का केंद्रीय तत्त्व रहा है। विद्वानों की विभिन्न परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि लोक एक स्थिर सत्ता नहीं, बल्कि समय और परिस्थिति के अनुसार निरंतर विकसित होने वाली प्रक्रिया है। पाश्चात्य अवधारणा के 'Folk' शब्द के साथ तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय 'लोक' का अर्थ और मूल्यबोध पाश्चात्य 'Folk' से मूलतः भिन्न है। जहाँ पाश्चात्य दृष्टि में Folk को प्रायः असंस्कृत या हाशिये के समाज से जोड़ा गया है, वहीं भारतीय दृष्टि में 'लोक' सभ्यता का आधार और सांस्कृतिक चेतना का स्रोत है। इसलिए Folk को लोक का पूर्ण पर्याय मानना समीचीन नहीं है।

'संस्कृति' की अवधारणा के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति मनुष्य की अर्जित और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होने वाली सामाजिक विरासत है। संस्कृति केवल बाह्य आचार-व्यवहार या कला-साहित्य तक सीमित नहीं रहती, बल्कि वह मनुष्य के आंतरिक भाव, मूल्य, नैतिकता और जीवन-दर्शन को भी समाहित करती है। विद्वानों के मतों से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति एक दीर्घकालिक, सतत और परिवर्तनशील प्रक्रिया है, जो मानव समाज को संतुलन, सामंजस्य और

पहचान प्रदान करती है। लोक और संस्कृति के समन्वय से निर्मित 'लोक संस्कृति' के संदर्भ में यह तथ्य सामने आता है कि वह समाज की सामूहिक स्मृति, अनुभव और व्यवहार का जीवंत दस्तावेज है। लोक संस्कृति के माध्यम से ही भाषा, मिथक, लोकविश्वास, अनुष्ठान, कला, गीत और नृत्य आदि सुरक्षित रहते हैं। यह न केवल अतीत की विरासत को संरक्षित करती है, बल्कि वर्तमान की चुनौतियों और भविष्य की संभावनाओं से भी संवाद स्थापित करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि लोक संस्कृति किसी समाज की वह आत्मा है, जो उसे उसकी पहचान, निरंतरता और संवेदनात्मक गहराई प्रदान करती है।

लोक और साहित्य का संबंध मूलतः जैविक, सहजीवी और परस्पर रूप से आश्रित है। लोक समाज की आधारभूत इकाई है और साहित्य उसी लोक की चेतना, संवेदना और अनुभवों की कलात्मक अभिव्यक्ति है। इस प्रकार लोक केवल साहित्य का विषय ही नहीं, बल्कि उसकी प्रेरणा और ऊर्जा का भी मूल स्रोत भी है। लोक और साहित्य का प्रथम और सर्वाधिक प्रभावशाली संबंध भाषा के स्तर पर स्थापित होता है। लोकभाषा जनमानस की सहज, स्वाभाविक और अनुभवसिद्ध अभिव्यक्ति होती है। जब साहित्य लोक भाषा, मुहावरों, लोकोक्तियों और लोक प्रचलित शब्दावली को आत्मसात करता है, तब वह अधिक जीवंत, संप्रेषणीय और प्रभावशाली बनता है। लोक भाषा साहित्य को कृत्रिमता से मुक्त कर उसे जीवन के यथार्थ धरातल से जोड़ती है। यही कारण है कि लोकधर्मी साहित्य समाज में अधिक स्थायी और व्यापक प्रभाव छोड़ता है। दूसरे स्तर पर लोक और साहित्य का संबंध सांस्कृतिक आधार से जुड़ा हुआ है। लोक-संस्कृति में निहित लोकगीत, लोकगाथाएँ, लोककथाएँ, लोकनाट्य, लोकपर्व और मिथक साहित्य को कथ्य, कथावस्तु और सांस्कृतिक अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। ये लोकविधाएँ समाज की सामूहिक स्मृति, ऐतिहासिक चेतना और जीवन-दर्शन को संरक्षित रखती हैं। साहित्य इन्हीं लोकतत्त्वों को रूपायित कर उन्हें नई पीढ़ी तक पहुँचाने का कार्य करता है। इस प्रकार साहित्य लोक-संस्कृति के संरक्षण और प्रसार का एक प्रभावशाली माध्यम बन जाता है।

‘पूर्वोत्तर भारत’ भारतीय लोक-संस्कृति की बहुलतावादी चेतना का अत्यंत समृद्ध और जीवंत क्षेत्र है। यह क्षेत्र केवल भौगोलिक दृष्टि से विशिष्ट नहीं, बल्कि अपनी भाषिक, जनजातीय, सांस्कृतिक और धार्मिक विविधताओं के कारण भारतीय सांस्कृतिक संरचना में एक विशिष्ट स्थान रखता है। पूर्वोत्तर भारत का लोकवृत्त सामूहिकता, प्रकृति-पूजन और सह-अस्तित्व की चेतना पर आधारित है। पर्व-त्यौहार, लोकगीत, लोक नृत्य, कृषि-आधारित अनुष्ठान और पारंपरिक विश्वास सभी में प्रकृति के प्रति सम्मान और जीवन के सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति मिलती है। पर्वतीय भौगोलिक संरचना, नदियाँ, वन, झीलें और वर्षा यहाँ के लोक जीवन को गहराई से प्रभावित करते हैं, जिससे संस्कृति और प्रकृति के बीच एक स्वाभाविक सहजीवी संबंध विकसित हुआ है।

अरुणाचल प्रदेश, असम, नागालैंड, मणिपुर, मिज़ोरम, मेघालय, सिक्किम और त्रिपुरा इन सभी राज्यों में भिन्न-भिन्न जनजातीय समुदाय अपनी विशिष्ट भाषा, वेश-भूषा, खान-पान, लोक-कला और सामाजिक संरचना के माध्यम से अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को बनाए हुए हैं। आधुनिक शिक्षा, तकनीकी विकास, पर्यटन, बाज़ार व्यवस्था और वैश्वीकरण के प्रभाव से यहाँ के लोक जीवन में परिवर्तन आए हैं, किंतु इसके बावजूद मूल लोक तत्त्व आज भी जीवित हैं। लोक नृत्य, लोक गीत, हस्तशिल्प, पारंपरिक उत्सव और स्थानीय भोजन अब केवल सांस्कृतिक पहचान के प्रतीक ही नहीं, बल्कि आजीविका और आर्थिक सशक्तिकरण के साधन भी बनते जा रहे हैं। पूर्वोत्तर भारत का लोकवृत्त भारतीय राष्ट्रीय अस्मिता में ‘विविधता में एकता’ की अवधारणा को मजबूती प्रदान करता है। विभिन्न भाषाएँ, धर्म, रीति-रिवाज़ और जीवन-पद्धतियाँ होते हुए भी यह क्षेत्र सांस्कृतिक सहिष्णुता, सामूहिकता और सामाजिक संतुलन का उदाहरण प्रस्तुत करता है। यही लोकवृत्त जब साहित्य, विशेषतः पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त होता है, तो वह न केवल क्षेत्रीय जीवन को स्वर देता है, बल्कि राष्ट्रीय साहित्यिक विमर्श को भी अधिक व्यापक, समावेशी और बहुसांस्कृतिक बनाता है।

हिंदी उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत का चित्रण केवल भौगोलिक अथवा प्राकृतिक सौंदर्य तक सीमित नहीं है, बल्कि वह सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक और मानवीय संघर्षों के बहुआयामी यथार्थ को समेटे हुए है। वर्ष 1956 से 2020 तक प्रकाशित उपन्यासों का क्रमिक विकास इस तथ्य का प्रमाण है कि पूर्वोत्तर भारत हिंदी साहित्य में एक हाशिए का क्षेत्र न रहकर, धीरे-धीरे एक सशक्त और अर्थपूर्ण साहित्यिक परिदृश्य के रूप में स्थापित हुआ है। अध्याय में प्रस्तुत उपन्यासों का वर्गीकरण- (1) स्थानीय रचनाकारों द्वारा लिखित हिंदी उपन्यास और (2) अन्य रचनाकारों के उपन्यासों में उत्तर-पूर्व की अभिव्यक्ति, अध्ययन को एक स्पष्ट संरचना प्रदान करता है। स्थानीय रचनाकारों के उपन्यासों में आंचलिकता, लोक-संस्कृति, जनजातीय जीवन, सामाजिक रूढ़ियाँ, स्त्री-संघर्ष और ऐतिहासिक स्मृति अधिक आत्मीयता और प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। इसके विपरीत, अन्य रचनाकारों की कृतियों में पूर्वोत्तर भारत का व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण उभरता है, जहाँ यह क्षेत्र भारतीय समाज की सांस्कृतिक बहुलता, समन्वय और अंतर्विरोधों का उदाहरण बन जाता है।

स्थानीय रचनाकारों के उपन्यासों का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि उनमें 'देखे हुए यथार्थ' के बजाय 'जिये हुए यथार्थ' की अभिव्यक्ति मिलती है। 'राह और रोड़े' जैसे प्रारंभिक उपन्यास में असम की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार के माध्यम से सामने आती है, जहाँ नैतिकता, आदर्शवाद और मानवीय मूल्यों को केंद्रीय स्थान दिया गया है। वहीं 'खंब-थोइबी' जैसी लोककथा-आधारित कृति मणिपुरी समाज की सांस्कृतिक स्मृति, प्रेम, त्याग और लोकविश्वास को हिंदी साहित्य में प्रतिष्ठित करती है। यह उपन्यास सिद्ध करते हैं कि हिंदी भाषा केवल आधुनिक कथ्य की ही नहीं, बल्कि लोक गाथाओं और परंपरागत आख्यानों की भी सशक्त संवाहक बन सकती है।

'जय आइ असम' और 'मुक्ति' जैसे उपन्यास पूर्वोत्तर भारत के राजनीतिक और ऐतिहासिक संकटों, जैसे- असम आंदोलन, विभाजन, शरणार्थी समस्या और भाषायी अस्मिता को गहनता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इन कृतियों में यह स्पष्ट होता है कि पूर्वोत्तर भारत की समस्याएँ केवल क्षेत्रीय नहीं, बल्कि राष्ट्रीय स्तर की हैं। 'मुक्ति' विशेष रूप से इस तथ्य को रेखांकित करता है कि स्वतंत्रता के बाद

भी सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय स्तर पर 'मुक्ति' अधूरी रह गई। इस उपन्यास में बहुभाषिकता, सांप्रदायिक सौहार्द और मानवीय करुणा पूर्वोत्तर समाज की विशिष्ट पहचान के रूप में उभरती है।

सिक्किम और त्रिपुरा जैसे अपेक्षाकृत कम चर्चित राज्यों को केंद्र में रखने वाले उपन्यास 'अरण्य रोदन' और 'देवी माँ' पूर्वोत्तर भारत की आंतरिक सामाजिक संरचनाओं और ऐतिहासिक त्रासदियों को उद्घाटित करते हैं। यद्यपि कुछ कृतियों में स्थानीय भूगोल और संस्कृति का विस्तार अपेक्षाकृत सीमित है, फिर भी वे हिंदी साहित्य के विस्तार और क्षेत्रीय विविधता को रेखांकित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

अरुणाचल प्रदेश केंद्रित उपन्यास 'मातमुर जामोह', 'उस रात की सुबह', 'जंगली फूल', 'मिनाम' और 'मेरी आवाज़ सुनो' इस अध्याय का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि समकालीन हिंदी उपन्यास में जनजातीय अस्मिता और स्त्री-विमर्श एक केंद्रीय विमर्श के रूप में उभर रहा है। इन कृतियों में आदिवासी समाज की परंपराएँ, मिथक, विवाह-प्रथाएँ, स्त्री पर होने वाली हिंसा और सामाजिक बदलाव की आकांक्षा अत्यंत सशक्त रूप में व्यक्त हुई है। विशेष रूप से स्त्री पात्र केवल सहनशील पीड़िता नहीं रह जातीं, बल्कि वे सामाजिक प्रश्नों को उजागर करने वाली चेतना का माध्यम बनती हैं। यह प्रवृत्ति हिंदी उपन्यास को समकालीन विमर्शों से जोड़ती है।

अन्य रचनाकारों द्वारा लिखित उपन्यासों जैसे 'ब्रह्मपुत्र' में पूर्वोत्तर भारत का चित्रण एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में हुआ है। इन कृतियों में यह क्षेत्र प्रकृति, लोक जीवन और बहुजातीय समाज के सहअस्तित्व का प्रतीक बन जाता है। बाह्य दृष्टि से लिखे गए ये उपन्यास कभी-कभी आंचलिक सूक्ष्मताओं से चूक जाते हैं, किंतु वे राष्ट्रीय पाठक वर्ग को पूर्वोत्तर भारत से परिचित कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन रचनाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य में पूर्वोत्तर भारत एक अपरिचित परिदृश्य न रहकर, एक जीवंत सामाजिक-सांस्कृतिक इकाई के रूप में प्रतिष्ठित होता है। प्रारंभिक कृतियों में जहाँ बाह्य दृष्टि और सामान्यीकृत चित्रण अधिक है, वहीं समकालीन उपन्यासों में स्थानीय चेतना, आत्मकथात्मक अनुभव और प्रतिरोध के स्वर अधिक मुखर हुए हैं। यह परिवर्तन न

केवल हिंदी भाषा के विस्तार का संकेत है, बल्कि पूर्वोत्तर भारत के लेखकों की बढ़ती साहित्यिक भागीदारी और साहित्यिक प्रतिनिधित्व का भी प्रमाण है।

पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में लोक संस्कृति केवल पृष्ठभूमि या सहायक तत्त्व के रूप में नहीं, बल्कि कथा-संरचना, वैचारिक दृष्टि और सामाजिक विमर्श की केंद्रीय धुरी के रूप में उपस्थित है। लोक मान्यताएँ, परंपराएँ, मिथकीय संदर्भ, स्त्री-जीवन, मातृवंशीय सामाजिक संरचना, लोक-पर्व, अनुष्ठान तथा सांस्कृतिक समन्वय ये सभी तत्त्व मिलकर पूर्वोत्तर भारत के समाज की विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान को साहित्यिक रूप प्रदान करते हैं। अध्याय में विश्लेषित उपन्यास यह प्रमाणित करते हैं कि लोक संस्कृति किसी स्थिर या जड़ अवधारणा का नाम नहीं, बल्कि वह समय, समाज और परिस्थितियों के साथ निरंतर गतिशील और परिवर्तनशील रहती है। लोक मान्यताओं, परंपराओं और मिथकीय संदर्भों का अवलोकन करने से यह तथ्य उभरता है कि पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय समाजों में लोक विश्वास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गहराई तक रचे-बसे हैं। प्रकृति, देवता, आत्मा, शुभ-अशुभ संकेत, जन्म-मृत्यु और विवाह आदि ये सभी लोक मान्यताओं के माध्यम से अर्थ ग्रहण करते हैं। हिंदी उपन्यासों में इन विश्वासों का चित्रण केवल अंधविश्वास के रूप में नहीं, बल्कि सामूहिक स्मृति और सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक के रूप में हुआ है। 'रूपतिल्ली की कथा' जैसे उपन्यास खासी समाज के मिथकीय विश्वासों साँप, बलि-प्रथा, मानव-देवता संबंध और प्रकृति-पूजन को जिस विस्तार और संवेदनशीलता से प्रस्तुत करते हैं, उससे यह स्पष्ट होता है कि लोक विश्वास भय और आस्था के द्वंद्व से उत्पन्न होकर सामाजिक अनुशासन और नैतिक चेतना का भी निर्माण करते हैं। लोक कथाओं के माध्यम से समाज अपने अनुभवों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संरक्षित करता है और इन्हीं कथाओं के सहारे वह अपने वर्तमान को समझने का प्रयास करता है।

प्रस्तुत अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मिथकीय संदर्भ पूर्वोत्तर भारतीय समाज में केवल अतीत की स्मृति नहीं, बल्कि वर्तमान सामाजिक संरचनाओं और कुप्रथाओं को वैधता देने या उनसे संघर्ष करने का माध्यम भी बनते हैं। गालो समाज में 'नेप्प-न्यीदा' जैसी कुप्रथा को मिथकीय कथा के

सहारे उचित ठहराने का प्रयास किया जाता है, वहीं समकालीन उपन्यासकार उसी मिथक की पुनर्व्याख्या कर उसके भीतर छिपे स्त्री-विरोधी तत्त्वों को उजागर करते हैं। इस प्रकार पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यास मिथक को जड़-विश्वास न मानकर, उसे आलोचनात्मक दृष्टि से पुनर्पाठ करने का साहस दिखाते हैं। ‘जंगली फूल’ जैसे उपन्यासों में मिथकीय तत्त्वों का पुनर्विश्लेषण मूल मिथकीय उद्देश्यों की भ्रामक जड़ता को तोड़ती है। यह प्रवृत्ति लोक संस्कृति के भीतर मौजूद मानवीय और अमानवीय दोनों पक्षों को सामने लाती है।

लोक संस्कृति के अध्ययन में स्त्री-जीवन और मातृवंशीय समाज का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण तथ्य के रूप में उभरता है। पूर्वोत्तर भारत के अनेक समाजों, विशेषतः खासी, डिमाशा और कुछ अन्य जनजातियों में मातृवंशीय व्यवस्था विद्यमान है, जहाँ वंश, संपत्ति और सामाजिक पहचान स्त्री के माध्यम से चलती है। हिंदी उपन्यासों में इस व्यवस्था का चित्रण यह दर्शाता है कि मातृवंशीय होना अनिवार्यतः मातृसत्तात्मक होना नहीं है। स्त्री को वंश-परंपरा का केंद्र मानने के बावजूद, कई बार धार्मिक, सामाजिक और अनुष्ठानिक अधिकार उससे धीरे-धीरे छीन लिए जाते हैं। ‘रूपतिल्ली की कथा’ में पुजारिन के अधिकार का केवल प्रतीकात्मक रह जाना, इसी विडंबना को उजागर करता है। इससे स्पष्ट होता है कि लोक संस्कृति में स्त्री की स्थिति सम्मान और उपेक्षा दोनों के द्वंद्व से निर्मित होती है। दूसरी ओर ‘जंगली फूल’, ‘मिनाम’ और ‘मेरी आवाज़ सुनो’ जैसे उपन्यास स्त्री को केवल परंपरा की वाहक नहीं, बल्कि परिवर्तन की संवाहक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन कृतियों में आदिवासी स्त्री का संघर्ष, उसका प्रतिरोध और उसकी आत्मचेतना स्पष्ट रूप से उभरती है। लोक परंपराओं के भीतर रहते हुए स्त्री जिस प्रकार अपने लिए स्पेस तलाशती है, वह यह संकेत देता है कि लोक संस्कृति स्थिर नहीं, बल्कि परिवर्तन की अनुगामी है, जिसमें पुरानी और गैर-जरूरी परंपराओं का उन्मूलन भी शामिल है। अतः पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में स्त्री-जीवन लोक संस्कृति की सबसे संवेदनशील और परिवर्तनशील कड़ी के रूप में उभरता है।

लोक-पर्व, रीति-रिवाज और लोक कलाओं के संदर्भ में यह स्थापना मिलती है कि पर्व और उत्सव केवल आनंद या धार्मिक कर्मकांड नहीं, बल्कि सामुदायिक एकता, सामाजिक अनुशासन और सांस्कृतिक प्रवाह के प्रतीक हैं। बिहू, दबूर पूजा, मोपिन एवं खासी अनुष्ठान आदि इन सबका वर्णन हिंदी उपन्यासों में जीवंत रूप में हुआ है। लोक नृत्य, लोक गीत और पारंपरिक कलाएँ इन उत्सवों के माध्यम से समाज की सामूहिक स्मृति को जीवित रखती हैं। हालांकि, आधुनिकता, धर्मांतरण और बाहरी सांस्कृतिक प्रभावों के कारण इन लोक कलाओं में परिवर्तन और ह्रास भी देखने को मिलता है। उपन्यासकार इन परिवर्तनों को केवल सांस्कृतिक क्षरण के रूप में नहीं, बल्कि संघर्ष और समन्वय की प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

संस्कार, अनुष्ठान और लोक प्रथाएँ पूर्वोत्तर भारत के समाज में जन्म से मृत्यु तक के जीवन में गहराई से अपने लोकाचारों के साथ संपृक्त हैं। मृत्यु-संस्कार, आत्मा की अवधारणा, शव-दाह या दफ़नाने की परंपराएँ ये सभी समाज की दार्शनिक दृष्टि को प्रकट करती हैं। खासी समाज में आत्मा और नरक की अवधारणा का अभाव, कार्बी समाज में स्वर्ग-नर्क का विश्वास, नागा और मोनपा समुदायों में शव-संस्कार की भिन्न पद्धतियाँ जैसी विविधता भारतीय लोक संस्कृति की बहुलता को रेखांकित करती हैं। हिंदी उपन्यास इन संस्कारों का चित्रण करते हुए यह संकेत देते हैं कि लोक प्रथाएँ केवल धार्मिक कर्मकांड नहीं, बल्कि जीवन के प्रति सामाजिक दृष्टि का प्रतिबिंब हैं। जिससे स्पष्ट होता है कि लोक-विश्वास की प्रासंगिकता तभी है, जब हम अपनी सांस्कृतिक वैविध्य और सांस्कृतिक पहचान को बचाकर रखेंगे अन्यथा लोक-विश्वास की प्रासंगिकता तभी खत्म हो जाती है जब हम अपनी संस्कृति-पहचान को भूलकर किसी अन्य की संस्कृति-पहचान को अपना लेते हैं। यह प्रवृत्ति आधुनिकता और बाजरवाद के प्रभाव को दर्शाती है। लोक विश्वास केवल धार्मिक आस्था नहीं बल्कि सांस्कृतिक पहचान और सामूहिक स्मृति का प्रतीक है। यदि किसी समाज की परंपराएँ और लोक विश्वास नष्ट हो जाएँ, तो उसके अस्तित्व की जड़ें भी कमजोर पड़ जाती हैं।

पूर्वोत्तर भारत की लोक संस्कृति मूलतः समावेशी और बहुसांस्कृतिक है। विभिन्न जनजातियाँ, भाषाएँ, धर्म और परंपराएँ यहाँ सहअस्तित्व में पाई जाती हैं। पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में यह समन्वय कहीं सहज रूप में तो कहीं संघर्ष के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। ब्रह्मपुत्र घाटी, पहाड़ी और मैदानी समाज, आदिवासी और गैर-आदिवासी समुदाय इनके बीच सांस्कृतिक संवाद निरंतर चलता रहता है। यह संवाद कभी लोक विश्वासों के टकराव में, कभी विवाह-संबंधों में और कभी पर्व-उत्सवों में प्रकट होता है। उपन्यासों में यह स्पष्ट है कि लोक संस्कृति किसी समुदाय विशेष के एकाधिकार तक सीमित एक नहीं, बल्कि साझा और समन्वित जीवनानुभवों की परिणति है।

पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में लोक संस्कृति एक जीवंत, बहुआयामी और संघर्षशील सत्ता के रूप में उपस्थित है। यह लोक संस्कृति न तो केवल अतीत की स्मृति है और न ही मात्र रूढ़ियों का संग्रह, बल्कि यह वर्तमान की चुनौतियों से जूझते हुए भविष्य की दिशा भी तय करती है। हिंदी उपन्यासकारों ने लोक मान्यताओं, मिथकों, स्त्री-जीवन, पर्वों, संस्कारों और सांस्कृतिक समन्वय को कथा में पिरोकर यह सिद्ध किया है कि लोक संस्कृति भारतीय साहित्य की मूल चेतना है। पूर्वोत्तर भारत की लोक परंपराएँ हिंदी साहित्य को न केवल विषयगत विस्तार प्रदान करती हैं, बल्कि उसे सांस्कृतिक और साहित्यिक रूप से समृद्ध भी करती हैं।

पूर्वोत्तर भारत में कृषि-आधारित जीवन लोक-संस्कृति का मूल आधार है। यहाँ कृषि केवल आजीविका का साधन नहीं है, बल्कि ऋतुओं की समझ, प्रकृति के प्रति सम्मान और सामूहिक श्रम की भावना से जुड़ी हुई है। धान की विभिन्न किस्में, उनके बोने, पकने और काटने के समय की जानकारी यह दर्शाती है कि लोक समाज में ज्ञान 'अनुभव' के माध्यम से अर्जित होता है। यह अनुभवजन्य ज्ञान पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोक विद्या के रूप में आगे बढ़ता है और आज भी व्यावहारिक रूप से उपयोगी बना हुआ है। वेश-भूषा और आभूषण लोक-संस्कृति की बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में सामने आते हैं। ये केवल पहनने या सजने की वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, आयु, लिंग, अनुष्ठान विशेष और धार्मिक मान्यताओं की पहचान भी कराते हैं। प्रस्तुत अनुसंधान से यह स्पष्ट होता है कि

आधुनिकता और बाहरी सांस्कृतिक प्रभावों के बावजूद पारंपरिक परिधान पूरी तरह समाप्त नहीं हुए हैं। समय के अनुसार उनमें परिवर्तन आया है, किंतु वे नए रूपों में आज भी समाज में प्रचलित हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह परिवर्तन सांस्कृतिक बिखराव नहीं, बल्कि निरंतरता और समन्वय का प्रतिफल है।

नृत्य, गीत और पारंपरिक वाद्ययंत्र पूर्वोत्तर के लोक-जीवन के अत्यंत महत्वपूर्ण अंग हैं। ये केवल मनोरंजन के साधन नहीं हैं, बल्कि सामूहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति, श्रम के बाद उल्लास और प्रकृति के प्रति कृतज्ञता का माध्यम हैं। पर्वों और उत्सवों के अवसर पर इनका सामूहिक रूप से प्रयोग समाज में सहयोग और आपसी एकता की भावना को प्रबल करता है। इसी प्रकार लोक कथाएँ और पौराणिक आख्यान समाज की ऐतिहासिक स्मृति और सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनमें मिथक, इतिहास और लोकविश्वास एक-दूसरे से जुड़े हुए दिखाई देते हैं। खान-पान की परंपराएँ भी लोक-जीवन और सांस्कृतिक समन्वय का एक आवश्यक पक्ष हैं। यहाँ भोजन केवल शारीरिक आवश्यकता नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवहार और अतिथि-सत्कार का माध्यम है। अलग-अलग जनजातियों की भोजन संबंधी आदतें भिन्न हो सकती हैं, किंतु उनमें प्रकृति और स्थानीय संसाधनों के प्रति सम्मान की भावना समान रूप से विद्यमान रहती है। पारिवारिक मूल्य और सामाजिक उत्तरदायित्व पूर्वोत्तर के जनजातीय समाजों की विशिष्ट विशेषता हैं। परिवार यहाँ सामाजिक व्यवस्था की मूल इकाई के रूप में कार्य करता है, जहाँ सामूहिक अनुशासन, सहयोग और परस्पर उत्तरदायित्व को विशेष महत्व दिया जाता है। यद्यपि आधुनिक जीवन-शैली और धार्मिक परिवर्तनों के कारण कुछ परंपरागत मूल्यों में बदलाव आए हैं, फिर भी पारिवारिक निष्ठा, सामुदायिकता और सामाजिक जिम्मेदारी की भावना आज भी सुदृढ़ बनी हुई है।

पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में सांस्कृतिक अस्मिताबोध के तहत लोक-संस्कृति में प्रकृति और वैज्ञानिकता के संबंध को विश्लेषित किया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वोत्तर के लोक समाज में प्रकृति केवल भौतिक पर्यावरण नहीं, बल्कि जीवन-दृष्टि का मूल आधार है।

कृषि, पर्व-त्यौहार, अनुष्ठान, लोक कथाएँ और दैनिक व्यवहार सभी प्रकृति के साथ साहचर्य में विकसित हुए हैं। लोक जीवन में वर्षा, नदी, वन, पर्वत और पशु देवत्व का रूप ग्रहण करते हैं, जो मनुष्य और प्रकृति के द्वंद्व को नहीं, बल्कि सहअस्तित्व की भावना को अभिव्यक्त करता है। यह लोक-बोध आधुनिक वैज्ञानिक चेतना से भिन्न होते हुए भी अनुभवजन्य ज्ञान पर आधारित है, जो प्राकृतिक संतुलन और सतत जीवन की अवधारणा को पुष्ट करता है। अतः लोक-संस्कृति में निहित प्रकृति-बोध वैज्ञानिकता के साथ सांस्कृतिक अस्मिता का एक मूल स्तंभ बनकर उभरता है।

धर्म, दर्शन और लोक विश्वास के अंतर्संबंधों का विश्लेषण यह संकेत देता है कि पूर्वोत्तर भारत में धार्मिक चेतना एकरूप या स्थिर नहीं रही है। शैव, तांत्रिक और वैष्णव परंपराओं के संक्रमण ने इस क्षेत्र की धार्मिक संस्कृति को निरंतर रूपांतरित किया है। लोकविश्वासों में तंत्र-साधना, देवी-पूजा और प्रकृति-पूजन के रूप मिलते हैं, जिनमें स्त्री को शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। यह तथ्य दर्शाता है कि लोकधर्म केवल अंधविश्वास नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना, नैतिकता और सांस्कृतिक अनुशासन का आधार रहा है। साथ ही, वैष्णव आंदोलन जैसे धार्मिक परिवर्तनों ने विकृत साधनाओं का प्रतिरोध कर सांस्कृतिक परिष्कार की भूमिका निभाई। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म और दर्शन पूर्वोत्तर समाज में अस्मिताबोध के निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में सांस्कृतिक अस्मिता का प्रश्न केवल सांस्कृतिक गौरव तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों से भी जुड़ जाता है। नस्लीय भेदभाव, पहचान का संकट और 'तथाकथित मुख्यधारा बनाम हाशिए का समाज' जैसी अवधारणा एवं अनुभव उपन्यासों में प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त हुए हैं। यह पीड़ा केवल व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामूहिक अस्मिता के आघात का रूप ले लेती है। उपन्यासों में यह प्रश्न उभरता है कि यदि राष्ट्र अपने ही नागरिकों को पहचानने में असफल हो जाए, तो राष्ट्रीय चेतना की परिभाषा क्या रह जाती है। इस संदर्भ में सांस्कृतिक अस्मिताबोध एक प्रतिरोधी चेतना के रूप में सामने आता है, जो अपनी भिन्नता को स्वीकार करने और उसे सम्मान दिलाने का आग्रह करता है।

पूर्वोत्तर की संस्कृति संरक्षण और अस्मिताबोध का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि लोकसंस्कृति का संरक्षण केवल अतीत के प्रति नॉस्टैल्जिया नहीं है, बल्कि वर्तमान और भविष्य की पहचान से जुड़ा हुआ प्रश्न है। लोक गीत, लोक कथाएँ, अनुष्ठान और परंपराएँ समाज की सामूहिक स्मृति को जीवित रखती हैं। इनका लोप केवल सांस्कृतिक हानि नहीं, बल्कि अस्मिता-बोध के क्षरण का संकेत है। हिंदी उपन्यासों में यह चिंता बार-बार उभरती है कि आधुनिकता और बाहरी प्रभावों के दबाव में यदि लोक संस्कृति समाप्त हो गई, तो समाज अपनी जड़ों से कट जाएगा। अतः संस्कृति संरक्षण को आत्मरक्षा के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सामूहिकता और साहचर्य का समष्टिबोध मूलतः पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय समाजों की सामाजिक संरचना पर आधारित है। कृषि, सुरक्षा, निर्माण और उत्सव सभी कार्य सामूहिक सहयोग से संपन्न होते हैं। यह सामूहिक चेतना सामाजिक अनुशासन, परस्पर सहायता और साझेदारी की भावना को मजबूत करती है। हिंदी उपन्यासों में यह समष्टिबोध आधुनिक व्यक्तिवादी संस्कृति के विपरीत एक वैकल्पिक सामाजिक मॉडल प्रस्तुत करता है, जहाँ मानवीय संबंध बाजार या स्वार्थपरक नहीं, बल्कि सहयोग और सहभागिता पर आधारित होते हैं। यहाँ स्पष्ट होता है कि लोक जीवन में भूख, अभाव और संघर्ष जैसी स्थितियाँ सामाजिक संरचनाओं की परीक्षा लेती हैं, जब संसाधनों की कमी चरम पर पहुँचती है, तो नैतिक और सामाजिक नियम टूटने लगते हैं। उपन्यासों में कई ऐसे प्रसंग यह दर्शाते हैं कि मनुष्य की जीवित रहने की प्रवृत्ति कभी-कभी अमानवीय रूप भी ग्रहण कर लेती है। यह यथार्थ लोक जीवन के आदर्शवादी चित्रण को संतुलित करता है और उसे अधिक प्रामाणिक बनाता है। पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में सांस्कृतिक अस्मिताबोध केवल भावनात्मक या सांस्कृतिक आग्रह नहीं है, बल्कि वह एक गहन सामाजिक-दार्शनिक विमर्श के रूप में उपस्थित है। प्रकृति-बोध, लोकविश्वास, धार्मिक संक्रमण, संस्कृति संरक्षण और सामूहिकता ये सभी तत्व मिलकर एक ऐसी सांस्कृतिक चेतना का निर्माण करते हैं, जो अपनी भिन्नता के साथ भारतीयता की व्यापक अवधारणा को समृद्ध करती है। वस्तुतः आज साहित्य में जिस स्त्री, पर्यावरण, आदिवासी जैसे विमर्शों पर बहस हो रही है पूर्वोत्तर

भारत के लोकजीवन में वे सभी बहुत पहले से ही उन्नत अवस्था में हैं, क्योंकि वहाँ स्त्री, प्रकृति और आदिवासी परंपरा का हनन नहीं हुआ इसीलिए पूर्वोत्तर के साहित्य में विमर्श के संकटग्रस्त पहलुओं पर लेखन कम मिलता है।

पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी उपन्यासों में लोक की अभिव्यक्ति शिल्पगत दृष्टि से केवल विषयवस्तु तक सीमित नहीं है, बल्कि वह औपन्यासिक संरचना के प्रत्येक स्तर- भाषा, कथा-विन्यास, शैली, प्रतीक, किस्सागोई, कहावतों और लोकगीतों में गहराई से अंतर्निहित है। इस अध्ययन से पता चलता है कि 'लोक' इन उपन्यासों में किसी बाह्य तत्त्व की तरह आरोपित नहीं है, बल्कि वह रचना की आंतरिक ऊर्जा और संवेदनात्मक आधार है। इन उपन्यासों में हिंदी किसी एकरूप, मानकीकृत भाषा के रूप में उपस्थित नहीं है, बल्कि वह असमीया, मणिपुरी, मिजो, खासी, नागा, अरुणाचली और अन्य स्थानीय भाषाओं के संपर्क से एक नया रूप ग्रहण करती है। हिंदी में स्थानीय गीतों का लेखन पूर्वोत्तर के स्थानीय लोकगीतों का दस्तावेजीकरण है। यह भाषिक बहुलता न केवल क्षेत्रीय जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति है, बल्कि हिंदी को एक बहुसांस्कृतिक और संवादधर्मी भाषा के रूप में भी प्रतिष्ठित करती है। स्थानीय शब्दावली, वाक्य-विन्यास और बोलचाल के प्रयोग से पात्रों का सामाजिक परिवेश, मानसिक संरचना और सांस्कृतिक पहचान अधिक विश्वसनीय बनती है। इस प्रकार लोक भाषा का 'नया वितान' हिंदी उपन्यास को केंद्रीय भारतीय अनुभवों से बाहर निकालकर एक व्यापक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक आयाम प्रदान करता है।

पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में किस्सागोई केवल कथानक को आगे बढ़ाने का साधन नहीं है, बल्कि वह लोकस्मृति और सामूहिक अनुभव को संरक्षित करने वाली एक जीवंत परंपरा है। लोक कथाएँ, दंत कथाएँ और मिथकीय आख्यान इन उपन्यासों में इतिहास, प्रकृति और समाज को जोड़ने का कार्य करते हैं। इनमें निहित नैतिकता बोध, सामाजिक मानदंड और जीवन-दर्शन लोकमानस की सामूहिक चेतना को उजागर करते हैं। इसी प्रकार कहावतें संक्षिप्त होते हुए भी गहन अर्थवत्ता लिए होती हैं और समाज की व्यावहारिक बुद्धि, अनुभव और दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती हैं। लोकगीतों के

प्रयोग से श्रम, उत्सव, प्रेम, विरह और संघर्ष जैसी मानवीय संवेदनाएँ सांगीतिक लय में ढलकर कथा को भावात्मक गहराई प्रदान करती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि लोकगीत और किस्सागोई उपन्यासों में सौंदर्यात्मक अलंकरण नहीं, बल्कि कथ्य और संवेदना के प्रतिरूप वाहक हैं।

पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों में शैली एकात्मक नहीं है, बल्कि वह कथ्य और लोक जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप निरंतर रूपांतरित होती रहती है। आंचलिक, वर्णनात्मक, कथात्मक, स्मृतिपरक, पूर्वदीप्ति, संवादात्मक और काव्यात्मक शैलियों का मिश्रण इन उपन्यासों को बहुस्तरीय बनाता है। विशेष रूप से प्रकृति और नदी को पात्र के रूप में प्रस्तुत करना शैलीगत दृष्टि से एक महत्वपूर्ण प्रयोग है, जिससे मनुष्य और प्रकृति के सह-अस्तित्व, संघर्ष और निर्भरता को गहनता से अभिव्यक्त किया गया है। शैली के माध्यम से लोक जीवन की सहजता, संघर्ष और सौंदर्य एक साथ सामने आते हैं, जिससे पाठक केवल कथा नहीं पढ़ता, बल्कि पूरे सांस्कृतिक परिवेश का अनुभव करता है। भाषायिक त्रुटियाँ कुछ उपन्यासों की शिल्पगत कमजोरियों को उजागर करते हैं, लेकिन मूल संवाद और आधुनिक बोल-चाल की हिंदी के अनुरूप वे यथार्थ के ज्यादा निकट हैं।

इन उपन्यासों में लोकाभिव्यक्ति केवल अतीत की स्मृति या रोमानी कल्पना नहीं है। लोक यहाँ वर्तमान सामाजिक यथार्थ, ऐतिहासिक संघर्ष और सांस्कृतिक परिवर्तन के साथ संवाद की भूमिका में उपस्थित है। आंचलिक भाषा, लोक कथाएँ और गीत आधुनिक सामाजिक प्रश्नों जैसे- विस्थापन, सांस्कृतिक अस्मिता, बाहरी हस्तक्षेप और पहचान के संकट से जुड़कर नए अर्थ ग्रहण करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि लोक परंपरा स्थिर नहीं, बल्कि समय के साथ पुनर्संरचित होती हुई एक सतत गत्यात्मक सांस्कृतिक प्रक्रिया बन जाती है। पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यास लोक की अभिव्यक्ति के माध्यम से हिंदी साहित्य की तथाकथित मुख्यधारा को चुनौती भी देते हैं और उसे समृद्ध भी करते हैं। ये उपन्यास भाषा, शैली और कथ्य के स्तर पर यह प्रश्न उठाते हैं कि हिंदी साहित्य का केंद्रीय अनुभव क्या है और किन क्षेत्रों तथा समुदायों की आवाज़ अब तक हाशिए पर रही है।

औपन्यासिक संरचना में लोक की अभिव्यक्ति पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता है। लोक भाषा, किस्सागोई, कहावतें, लोकगीत और शैलीगत प्रयोग ये सभी मिलकर उपन्यास को केवल साहित्यिक कृति नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक दस्तावेज़ का रूप देते हैं। यह दस्तावेज़ न केवल पूर्वोत्तर भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ को दर्ज करता है, बल्कि हिंदी साहित्य की सीमाओं का विस्तार भी करता है। अतः कहा जा सकता है कि लोक के बिना पूर्वोत्तर केंद्रित हिंदी उपन्यासों की संरचना अधूरी है। लोक ही वह तत्त्व है जो भाषा को जीवन देता है, शैली को अर्थ प्रदान करता है और कथ्य को सामाजिक-सांस्कृतिक गहराई प्रदान करता है। इस दृष्टि से ये उपन्यास हिंदी साहित्य में लोक-संवेदना, आंचलिकता और बहुसांस्कृतिक चेतना के सशक्त प्रतिनिधि बनकर उभरते हैं और भविष्य के साहित्यिक एवं शोधात्मक विमर्श के लिए एक ठोस आधार प्रस्तुत करते हैं।

पूर्वोत्तर भारत को केंद्र में रखकर लिखी जा रही साहित्यिक रचनाएँ समकालीन हिंदी साहित्य में एक सशक्त और स्वतंत्र विमर्श के रूप में उभरती हैं। पूर्वोत्तर भारत केंद्रित हिंदी साहित्य के संदर्भ में लोक, मिथक, इतिहास, संघर्ष जैसे तमाम मुद्दे हैं, जिन पर और अधिक लिखे जाने की आवश्यकता है। ऐसे बहुत से तथ्य हैं जो लिखित माध्यम में दर्ज नहीं होने के कारण न केवल अन्य पाठक वर्ग, अपितु स्वयं पूर्वोत्तर के पाठक समाज से भी अनभिज्ञ हैं। हिंदी साहित्य में पूर्वोत्तर विषयक कविताएँ, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत, निबंध एवं नाटक आदि समस्त विधाओं पर वृहत्तर फलक पर लेखन हो रहा है, जो पाठक तथा शोधार्थियों हेतु अध्ययन-विश्लेषण के नए सोपान प्रस्तुत करता है। लोक विषयक दृष्टि से देखें तो पूर्वोत्तर के लोक विश्वास, लोककथाएँ, मिथक, पौराणिकता एवं लोकगीत आदि में शोध की अपार संभावनाएँ हैं। प्रत्येक रचना एवं शोध की अपनी एक सीमा होती है, जिससे पाठक सहमत अथवा असहमत हो सकता है। प्रस्तुत शोध भी इसी कड़ी में एक लघु प्रयास है, यदि यह अध्ययन भावी शोधकर्ताओं के लिए सहायक सामग्री उपलब्ध करा पाता है, तो इसका अभीष्ट स्वतः सार्थक हो जाएगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ :

ठाकुर, बलभद्र. (1958). *मुक्तावती*. इलाहाबाद : हिंदी भवन.

त्रिपाठी, रमानाथ. (2013). *कामरूपा*. नई दिल्ली : ग्रंथ अकादमी.

दुबे, महेंद्रनाथ. (1999). *मुक्ति*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

नाबाम, जोराम यालाम. (2021). *जंगली फूल*. दिल्ली : अनुज्ञा बुक्स.

नीनो, जुमसी सिराम. (2021). *मेरी आवाज सुनो*. दिल्ली : अनुज्ञा बुक्स.

पाण्डेय, श्रीधर. (2008). *आहुति*. पटना : जानकी प्रकाशन.

भिक्षु, कृष्णचंद्र शर्मा. (1978). *रक्तयात्रा*. नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस.

मिश्र, श्रीप्रकाश. (2011). *जहाँ बाँस फूलते हैं*. दिल्ली : यश प्रकाशन.

मिश्र, श्रीप्रकाश. (2019). *रूपतिल्ली की कथा*. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.

राजकुमार, मलिक. (2019). *प्रेमवल्लरी*. नई दिल्ली : विद्या विहार.

'लिली', तुम्बम रीबा जोमो. (2018). *उस रात की सुबह*. नई दिल्ली : पृथ्वी प्रकाशन.

लोयी, मोर्जुम. (2020). *मिनाम*. जयपुर : बोधि प्रकाशन.

वर्मा, दयाराम. (2018). *सियांग के उस पार*. चेन्नई : नोशन प्रेस.

वर्मा, नवारुण. (1983). *जय आई असम*. इलाहाबाद : स्मृति प्रकाशन.

वर्मा, लाल बहादुर. (2004). *उत्तर पूर्व*. इलाहाबाद : इतिहासबोध प्रकाशन.

सत्यार्थी, देवेन्द्र. (1992). ब्रह्मपुत्र. दिल्ली : ज्ञान गंगा.

सभरवाल, अनिता. (2019). लोहित. दिल्ली : परमेश्वरी प्रकाशन.

सौरभ, प्रदीप. (2013). देश भीतर देश. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

सहायक ग्रंथ :

अटल, पंकज मिश्र. (2020). साक्षात्कार : संभावना और यथार्थ. जयपुर : बोधि प्रकाशन.

अनिल, स्वर्ण. (2012). पूर्वोत्तर की लोककथाएँ. नई दिल्ली : ग्रंथ अकादमी.

अनिल, स्वर्ण. (2012). सात बहनों की लोकगाथाएँ. नई दिल्ली : ग्रंथ अकादमी.

अनिल, स्वर्ण. (2020). पूर्वोत्तर भारत के स्वातंत्र्य वीर. नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग.

अनुशब्द. (संपा.) (2017). पूर्वोत्तर भारत का जनजातीय साहित्य. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

उनियाल, राजेश्वर. (2014). हिंदी लोक साहित्य का प्रबंधन. दिल्ली : कल्पना प्रकाशन.

उपाध्याय, कृष्णदेव. (1957). लोक-साहित्य की भूमिका. इलाहाबाद : साहित्य भवन.

उपाध्याय, कृष्णदेव. (1991). भारतीय लोक-विश्वास. इलाहाबाद : हिंदुस्तानी एकेडमी.

उपाध्याय, कृष्णदेव. (2009). लोक संस्कृति की रूपरेखा. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.

उपाध्याय, कृष्णदेव. (2013). लोक साहित्य की भूमिका. इलाहाबाद : साहित्य भवन (प्रा.) लिमिटेड.

उप्रेती, कुंदन लाल. (2017). लोकसाहित्य के प्रतिमान. मथुरा : जवाहर पुस्तकालय.

एस. एन. गुहा ठाकुरता. अनुवाद. संजय सिंह. (2021). त्रिपुरा. नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास,
भारत

- कंडवाल, दिनेश. (1991). *त्रिपुरा की आदिवासी जनजातीय लोक कथाएं*. अगरतला: त्रिपुरा राज्य आदिवासी जनजाति सांस्कृतिक अनुसंधान संस्थान एवम् संग्रहालय.
- कुकरेती, हेमंत. (2018). *भारत की लोक-संस्कृति*. नई दिल्ली : प्रभात पेपरबैक्स.
- कुमार, प्रवेश. (2021). *लोक साहित्य*. नई दिल्ली : भाषा प्रकाशन.
- कुमार, शरत. (2019). *शिखर और सीमाएं*. गुड़गांव : हिंद पॉकेट बुक्स.
- कुमार, शैलेंद्र. (2021). *नामधर*. दिल्ली : सेंटर फॉर सिविलाइजेशन स्टडीज.
- कुमार, सुनील. (2017). *हिंदी यात्रा साहित्य में भारत का पूर्वोत्तर*. जयपुर : बोधि प्रकाशन.
- कौशिक, जय नारायण. (2011). *कामरूप के गलियारे*. दिल्ली : नमन प्रकाशन.
- कौशिक, जय नारायण. (2008). *लोक साहित्य और संस्कृति-दिग्दर्शन*. दिल्ली : अविराम प्रकाशन.
- खाउंद, राजलक्ष्मी. (2022). *लाचित बरफुकन*. नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत.
- गावीत, जयश्री. (2007). *लोक साहित्य : विविध आयाम और नई दृष्टि*. कानपुर : विद्या प्रकाशन.
- गुप्ता, रमणिका. (संपा.) (2017). *पूर्वोत्तर : आदिवासी सृजन मिथक एवं लोककथाएँ*. नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत.
- गुप्ता, रमणिका. (संपा.) (2022). *आदिवासी : शौर्य एवं विद्रोह (पूर्वोत्तर खंड)*. दिल्ली : राधाकृष्ण पेपरबैक्स.
- गुप्ता, रुचि. (2006). *भारतीय संस्कृति : शाश्वत जीवन दृष्टि एवं संगीत*. नई दिल्ली : कनिष्क पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स.

- गैरोला, वाचस्पति (1968). *भारत के उत्तर पूर्व सीमांत देश*. लखनऊ : हिंदी समिति, सूचना विभाग.
- गौतम, सुरेश. (2008). *लोकसाहित्य : अर्थ और व्याप्ति*. दिल्ली : संजय प्रकाशन.
- घोष, डॉ. श्याम सुन्दर. (2012). *लोक साहित्य : विविध प्रसंग*. इलाहाबाद : नवसाक्षार संस्थान.
- चंदोला, हरिश्चन्द्र. (2009). *नागाकथा*. मेरठ : संवाद प्रकाशन.
- चक्रवर्ती, एल. एन.. (2020). *अरुणाचल का आदिकालीन इतिहास*. (अनु. सच्चिदानन्द चतुर्वेदी). नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत.
- चंद्र, सुरेश. (संपा.). (2015). *श्रीप्रकाश मिश्र की साहित्य-साधना की परख*. कानपुर : क्वालिटी बुक्स पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स.
- चौबे, कृपाशंकर. (2018). *हिंदी और पूर्वोत्तर*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
- चौहान, विद्या. (2020). *लोक साहित्य*. कानपुर : सरस्वती प्रकाशन.
- जीनी, सी.इ.. (1990). *पूर्वांचल प्रदेश में हिंदी भाषा और साहित्य*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
- जेलियांग, तसिले. (2015). *वीरांगना रानी मां गाइदिन्ल्यु*. कुरुक्षेत्र : विद्या भारती संस्कृति शिक्षा संस्थान.
- जैन, छगनलाल. (1963). *राह और रोड़े*. गुवाहाटी : साहित्य सेवा सदन.
- ठाकुर, आभा गुप्ता. (2015). *संस्कृति का ताना-बाना*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
- तिवारी, प्रमोद कुमार. (2011). *उपक्रम*. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ.

त्रिपाठी, सूर्यकांत. (2021). भारतीय भक्ति आंदोलन और श्रीमंत शंकरदेव. प्रयागराज : लोकभारती प्रकाशन.

दत्ता, अरूप कुमार. अनु. गजेन्द्र राठी. (2015). ब्रह्मपुत्र. नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत.

दिघे, मधुकर. (1993). पूर्वार्चल की ओर, दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.

दिनकर, रामधारी सिंह. (2008). संस्कृति भाषा और राष्ट्र. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.

दीपक, सुवास. (2021). अरण्य रोदन. हापुड़ : संभावना प्रकाशन.

दुबे, श्यामसुंदर. (2011). लोक : परंपरा, पहचान एवं प्रवाह. दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन.

देवराज. (1999). मणिपुरी लोककथा संसार. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन.

द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2010). भाषा साहित्य और देश. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ.

निरगुणे, वसंत. (2024). लोक संस्कृति. भोपाल : मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी.

नीनो, जुमसी सिराम. (2016). मातमुर जामोह. वेस्ट सियांग. अरुणाचल प्रदेश : श्री केमबोम बागरा.

पंत, उमेश. (2020). दूर दुर्गम दुरुस्त. सार्थक राजकमल प्रकाशन : नई दिल्ली.

परमार, वीरेंद्र. (2020). उत्तर पूर्वी भारत के आदिवासी. नई दिल्ली : मित्तल पब्लिकेशंस.

परमार, वीरेंद्र. (2020). पूर्वोत्तर भारत के पर्व- त्योहार. नई दिल्ली : मित्तल पब्लिकेशंस.

परमार, वीरेंद्र. (2021). पूर्वोत्तर भारत की नागा और कुकी-चीन जनजातियां. नई दिल्ली : मित्तल पब्लिकेशंस.

परमार, श्याम. (1954). भारतीय लोक साहित्य. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.

पाठक, हरेराम. (2020). पूर्वोत्तरीय राज्यों में हिंदी साहित्यलेखन का इतिहास. दिल्ली : अनंग प्रकाशन.

पाण्डेय, त्रिलोचन. (1978). लोक साहित्य का अध्ययन. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.

पाण्डेय, मुन्ना. (संपा.) (2022). संस्कृति : विविध परिप्रेक्ष्य. दिल्ली : अनन्य प्रकाशन.

पाल, रमेश कुमार. (2000). देवी माँ. शिलचर (असम) : बालार्क प्रकाशन.

प्रसाद, दिनेश्वर. (1973). लोकसाहित्य और संस्कृति. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.

प्रसाद, माता (1998). पूर्वोत्तर भारत के राज्य. नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस.

प्रसाद, माता. (1995). मनोरम भूमि अरुणाचल. दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.

प्रसाद, माता. (2015). पूर्वोत्तर भारत और सांस्कृतिक संगम. कानपुर : अमन प्रकाशन.

भट्टाचार्य, राजीव. (अनु. रविशंकर रवि) (2020). पूर्वोत्तर भारत में उग्रवाद. दिल्ली : प्रतिभा प्रतिष्ठान.

भारती, चितरंजन लाल. (2015). पूर्वोत्तर का दर्द. पटना : यशराज पब्लिकेशन.

भारती, चितरंजन. (2021). पूर्वोत्तर राजधानी एक्सप्रेस. नई दिल्ली : सृजनलोक प्रकाशन

भूषण, चंद्र. (2022). पूर्वोत्तर भारत और अलगाववाद. दिल्ली : समय प्रकाशन.

भूषण, चंद्र. (2022). पूर्वोत्तर भारत और अलगाववाद. नई दिल्ली : समय प्रकाशन.

मल्ल, जगदंबा. (2019). हेपाउ जादोनांग. नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत

मल्ल, जगदंबा. (2020). रानी गाईदिन्यू . नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत.

मागध, कृष्ण नारायण प्रसाद. (2021). *माधवदेव व्यक्तित्व और कृतित्व*. नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत

माधवेन्द्र. (2018). *खुब्लेई शिबुन चीड़वन*. कोलकाता : मानव प्रकाशन.

मिश्र, उदयभान. (2007). *रामग्राम से कामाख्या तक*. दिल्ली : साक्षी प्रकाशन.

मिश्र, विद्यानिवास (2009). *लोक और लोक का स्वर*. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.

मिश्र, श्रीप्रकाश. (2020). *नदी की टूट रही देह की आवाज*. प्रयागराज : लोकभारती प्रकाशन.

मिश्र, सुरेंद्र कुमार एवं मिश्र, आकाश. (2007). *भारत के पूर्वोत्तर में उग्रवाद*. नई दिल्ली : मित्तल पब्लिकेशंस.

यादव, अनिल. (2014). *वह भी कोई देस है महाराज*, गाजियाबाद : अंतिका प्रकाशन.

रवि, रविशंकर. (2016). *लाल नदी नीले पहाड़*. जयपुर : बोधि प्रकाशन.

लुगुन, अनुज. (संपा.) (2015). *आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध*. दिल्ली : अनन्य प्रकाशन.

वधान, अमरसिंह. शर्मा एवं सुनीता. (संपा.). (2020). *भारतीय लोकसाहित्य*. नई दिल्ली : अभिषेक प्रकाशन.

वर्मा, हरिश्चन्द्र. (2016). *शोध-प्रविधि*. पंचकूला : हरियाणा ग्रंथ अकादमी.

वाजपेयी, आ. किशोरीदास. (2006). *हिंदी शब्द मीमांसा*. नई दिल्ली : मैत्रेय पब्लिकेशन.

वाजपेयी, आ. किशोरीदास. (2007). *संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

शर्मा, रंजना (2011). *लोकसाहित्य : चिंतन के विविध आयाम*. कोलकाता : आनंद प्रकाशन.

शर्मा, रामनिवास. (2009). लोक-साहित्य और लोक-संस्कृति. दिल्ली : पंकज बुक्स.

शर्मा, श्यामबाबू. (2019). पूर्वोत्तर की लोक-संस्कृति. दिल्ली : अनुज्ञा बुक्स.

श्रुति एवं माधवेंद्र. (2017). पूर्वोत्तर की सांस्कृतिक पहचान. कोलकाता : मानव प्रकाशन.

सत्येंद्र. (1971). लोक साहित्य विज्ञान. आगरा : शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी.

सप्रे, प्रसन्न दामोदर. (2013). भारतीय इतिहास में जनजातियों का गौरवपूर्ण स्थान. जबलपुर : वन साहित्य अकादमी.

सांकृत्यायन, कमला. (1971). सिक्किम. दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज़.

सांगानेरिया, सांवरमल. (2020). लोहित के मानसपुत्र : शंकरदेव. गुवाहाटी : हेरिटेज फाउंडेशन.

सांगानेरिया, सांवरमल. (2020). मेघों के देस में. नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत.

सिंह, अभिमन्यु. (2021). लोक - साहित्य : सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रतिमान. नई दिल्ली : भाषा प्रकाशन.

सिंह, आलोक. (संपा.). (2021). बहुआयामी पूर्वोत्तर भारत. कानपुर : अमन प्रकाशन.

सिंह, जगमल. (2019). पूर्वोत्तर भारत की विभूतियां. नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत

सिंह, जगमल. (2021). पूर्वोत्तर की जनजातीय क्रांतियाँ. नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत

सिंह, जयश्री. (2020). पूर्वोत्तर का आदिवासी समाज. दिल्ली : भारतीय प्रकाशन गृह.

सिंह, नामवर. (संपा.) (2014). हजारीप्रसाद द्विवेदी : संकलित निबंध. नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत.

सिंह, श्रीलोइतोंगबम कालाचांद. (1963). *खम्ब- थोइबी*. इंपाल : ओ. के. स्टोर.

सुतार, बिज्ञान. (2022). *भारत : सांस्कृतिक विविधता में एकता*. नई दिल्ली: NCERT.

सुदामा, देवेनचंद्र दास. (2018). *हिडिंबा*. नई दिल्ली : प्रतिभा प्रतिष्ठान.

सौमित्रम. (2021). *असम के विकास में हिंदीभाषियों का योगदान*. गुवाहाटी : लिपि कम्पोज.

अंग्रेजी पुस्तकें :

Aier, Imo Lanutemjen. (2006). *Contemporary Naga Social Formations and Ethnic Identity*. New Delhi: Akansha Publishing House.

Allen, B.C. (and others). (1979). *Gazetteer of Bengal and North-East India*. New Delhi: Mittal Publications.

Baishya, Dinesh. (2009). *Traditional Science & Material Culture of Early Assam*. Guwahati: EBH Publishers.

Bareh, U. Hamlet. (1984). *U. Tirot Singh*. Delhi: Publication Division, Government of India.

Baruah, Sanjib. (edited). (2009). *Beyond Counter-insurgency*. New Delhi : Oxford University Press.

Bhat, Sudhakar. (1975). *The Challenge of the North-East*. Bombay : Bombay Popular Prakashan.

Bhattacharyya, N.N. (1995). *Religious Culture of North-Eastern India*. New Delhi : Manohar Publishers & Distributors.

D. Nath (editor). (2011). *Religion and Society in North-East India*. Guwahati : DVS Publishers.

Datta, P.S. (edited). (1995). *The North-East and the Indian State*. New Delhi : Vikas Publishing House.

Karotemprel, Sebastian. (edited). (1998). *The Tribes of North-East India*, Shillong : Centre for Indigenous Cultures.

Uppal, Shveta. (edited.). *North East India : People, History and Culture*. New Delhi : NCERT.

पत्र-पत्रिकाएँ एवं वेब लिंक-

सागर, शैलेंद्र. (संपा.). कथा क्रम. जुलाई-सितंबर 2017, वर्ष : 19, अंक : 17.

जाधव, सुनील. (संपा.). शोध-ऋतु. अप्रैल-जून 2023, खंड : 6, अंक : 32.

चतुर्वेदी, त्रिलोकी नाथ. (संपा.). साहित्य अमृत. अगस्त 2017, वर्ष : 23, अंक : 1.

शर्मा, हरीशकुमार. (संपा.). अरुण प्रभा. जनवरी-दिसंबर 2018, अंक : 11-12.

भारद्वाज, शशि (संपा.). भाषा. जुलाई-अगस्त 2003, वर्ष : 42, अंक : 6.

चौबे, संतोष. (संपा.). विश्वरंग संवाद. जनवरी-मार्च 2025, अंक : 11.

वैद्य, हेमचंद्र. (संपा.). राष्ट्रभाषा. जुलाई-अगस्त 2024, अंक : 61.

वैश्य, रीतामणि. (संपा.). शोध-चिंतन पत्रिका. जुलाई-दिसंबर 2020, वर्ष : 1, अंक : 1.

कुमार, चंदन. (संपा.). प्रागज्योतिका. अक्टूबर-दिसंबर 2020, खंड : 1, अंक : 1.

कोरे, सुलभा. (संपा.). यूनियन सृजन. जुलाई-सितंबर-2019, वर्ष : 4, अंक : 3.

चतुर्वेदी, पंकज. (संपा.). पुस्तक संस्कृति. जनवरी-फरवरी 2021, वर्ष : 6, अंक : 1.

सिंह, प्रमथ राज. (संपा.). नई धारा. फरवरी-मार्च 2022, वर्ष : 72, अंक : 11-12.

अग्निहोत्री, बृजेंद्र. (संपा.). मधुराक्षर. अप्रैल-जून 2017, वर्ष : 09, अंक : 02.

शङ्कीया, क्षीरदा कुमार. (संपा.). (जनवरी-फरवरी 2025). द्विभाषी राष्ट्रसेवक. गुवाहाटी: असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति.

शुक्ल, अश्विनीकुमार. (संपा.). नूतनवाधारा. मार्च 2019, वर्ष : 12, अंक : 37.

मार्तण्ड, कुँवर वीर सिंह (संपा.). साहित्य त्रिवेणी. जनवरी-जून 2020, वर्ष : 18, कुलांक : 69.

अहमद, एम. फ़ीरोज़. (संपा.). वाङ्मय. अप्रैल-सितम्बर 2022, वर्ष : 18.

दिवाकर, रामधारी सिंह. (संपा.). (जुलाई, 1999). परिषद्-पत्रिका. बिहार: राष्ट्रभाषा परिषद.

शर्मा, बीना. (संपा.). समन्वय पूर्वोत्तर. अप्रैल-जून 2022, खंड : 6, अंक : 2.

त्रिपाठी, प्रदीप. (संपा.). कंचनजंघा. जनवरी-दिसंबर 2022, वर्ष : 03, अंक : 05-06.

यादव, जितेंद्र एवं माणिक. (संपा.). अपनी माटी. जनवरी-जून 2021, अंक : 35-36.

सिंह, एस. बिजेन. (2010). मणिपुर की दर्द भरी कहानी. परदेश ब्लॉग पोर्टल से उद्धृत

http://pardesh123.blogspot.com/2010/12/blog-post_31.html

कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस एण्ड एसेसमेंट (शब्दकोश) वेब पृष्ठ से उद्धृत

<https://dictionary.cambridge.org/>

सांगनेरिया, सावरमल. (2012). पौराणिकता से गुंथा पूर्वोत्तर भारत. हिंदी विवेक वेब पोर्टल से उद्धृत

<https://hindivivek.org/23399>

कुलश्रेष्ठ, मनीषा. (2016). पूर्वोत्तर की सात बहनें और लोकनृत्य. हिंदी nest के वेब पेज से उद्धृत

<https://hindinest.com/lekh/purvottar-ke-nritya/>

कोश-

आप्टे, वामन शिवराम. (1997). *संस्कृत-हिंदी कोश*. दिल्ली : ओरिएंटल बुक सेंटर.

प्रसाद, कालिका एवं अन्य (संपा.). (2012). *बृहत् हिंदी कोश*, वाराणसी : ज्ञानमण्डल लिमिटेड.

बाहरी, हरदेव. (1990). *शिक्षार्थी हिंदी शब्दकोश*. दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज.

वर्मा, आ. रामचंद्र. एवं कपूर, बदरीनाथ. (2014). *लोकभारती बृहत् प्रामाणिक हिंदी कोश*. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.

सक्सेना, राम प्रकाश. (प्रधान संपा.). (2018). *वर्धा हिंदी शब्दकोश*. नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ.

Wehmeier, Sally. (Editor). (2001). *Oxford Advanced Learner's Dictionary*.

OXFORD UNIVERSITY PRESS. Oxford: New York.

परिशिष्ट

(i) श्रीप्रकाश मिश्र से शोधार्थी (बी आकाश राव) की
पूर्वोत्तर के लोकवृत्त एवं साहित्य पर केंद्रित साक्षात्कार

(ii) 'आदिवासी दर्शन और विश्व दृष्टि' विषय पर केंद्रित साक्षात्कार

(अरुणाचल प्रदेश की चर्चित साहित्यकार जोराम यालाम नाबाम से
अभिषेक कुमार यादव की बातचीत)

**श्रीप्रकाश मिश्र से शोधार्थी (बी आकाश राव) की
पूर्वोत्तर के लोकवृत्त एवं साहित्य पर केंद्रित साक्षात्कार**

प्रश्न- मेरा पहला प्रश्न है कि- हिंदी साहित्य में पूर्वोत्तर भारत की उपस्थिति को आप किस रूप में देखते हैं?

श्रीप्रकाश मिश्र- हिंदी साहित्य में दो चीजें हैं। पूर्वोत्तर को लेकर तो पहले भी बहुत से उपन्यास लिखे गए हैं और कविताओं में भी वह रिफ्लेक्ट हुआ है। देवेंद्र सत्यार्थी जी ने इसकी शुरुआत की। उन्होंने छप्पन में ही माजुली के कल्चर को लेकर एक उपन्यास लिखा था। इसके अलावा भी कुछ लोगों ने लिखा था। इनमें दो चीजें थी- एक तो यह है कि वहाँ के जीवन में उल्लासपूर्ण जो चीजें थीं, अच्छी थी, वहाँ के ट्राइबल जीवन में जो निश्छलता है, उसके चकाचौंध को लेकर उन लोगों ने लिखा। किंतु, रचना का मतलब सिर्फ उल्लास व्यक्त करना नहीं होता है। जीवन की जो स्थितियां हैं, उनमें जो अच्छा या बुरा है, उनकी जो समस्याएं हैं, उसको भी लेकर लिखा जाना चाहिए।

प्रश्न- पूर्वोत्तर भारत केंद्रित जो साहित्य है, उसके अंतर्गत आप क्षेत्रीय भाषाओं के साथ हिंदी के स्वरूप को किस प्रकार देखते हैं?

श्रीप्रकाश मिश्र- हाँ, यह मेरे लिए थोड़ा टेक्निकल प्रश्न है। जब मेरा यह उपन्यास ‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ प्रकाशित हुआ था तो दूधनाथ सिंह ने यह कहा था कि एक संस्कृति को क्या दूसरी संस्कृति की भाषा में लिखा जा सकता है? उनका यह कहना था कि भाई जैसे असमीया की एक संस्कृति है और उसकी एक अपनी भाषा है। उस भाषा को छोड़ कर क्या दूसरी भाषा में लिखा जा सकता है? उन्होंने यह फंडामेंटल प्रश्न रोज किया था। उन्होंने स्वयं कोई उसका उत्तर नहीं दिया था, लेकिन उन्होंने अपेक्षा की थी कि मैं उसका उत्तर दूँ। मैंने उनसे कहा कि हाँ बिल्कुल लिखा जा सकता है और मेरा उपन्यास खुद ही इसका उदाहरण है। और वह इसलिए है कि दो तरह से संस्कृति को जानते हैं, एक किताबों के

माध्यम से जानते हैं कि असमीया लोग क्या है? और दूसरा आप उनके जीवन में रच-बस कर जानते हैं कि मिजो लोग क्या है? उसके लिए आप उनकी भाषा सीखे होते हैं। आप उनके बीच में रहे होते हैं, उनके सुख-दुःख में हिस्सा लिए होते हैं। आप उनकी चीजों से बावस्ता होते हैं.....तब आप ऑलरेडी जानते हैं कि उनका जीवन क्या है और उस जीवन को आप अपनी भाषा में कहते हैं, तो यह लिखा जाना बिल्कुल संभव है। यह मेरा स्टैंड है।

प्रश्न- आपने नौकरी के दौरान पूर्वोत्तर के राज्यों में लंबा समय व्यतीत किया है। बतौर लेखक सृजनात्मक दृष्टिकोण से तब और अब में आप क्या कुछ अंतर महसूस करते हैं?

श्रीप्रकाश मिश्र- नहीं देखिए, मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई क्योंकि मैं वहाँ के जीवन का हिस्सा था। जब आप जीवन का हिस्सा होकर लिखेंगे तो आप जीवन को जानते हैं। कुछ भी मुझे अलग से पढ़ने की जरूरत लिखने के लिए नहीं हुई। वह अपनी भोगी गई जिंदगी का टुकड़ा है। इसलिए कोई कठिनाई नहीं हुई और यह साफ़ जाहिर हो जाता है कि कौन आदमी किताब पढ़ करके कोई रचना लिख रहा है और कौन आदमी अपनी संवेदना के अनुरूप रचना को लिख रहा है। देखिए, रचना हमेशा एक तार्किक निर्मिति होती है। यह तार्किक निर्मिति तो वह गाँठ की तरह से दिखाई देता है। जैसे महुआ माझी का वह जो उपन्यास है...मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ। वह पढ़ कर लगता है कि यह किताबें पढ़ कर लिखी जा रही हैं। यह जीवन की असलियत के अनुरूप नहीं लिखा जा रहा है। वह बिल्कुल मतलब कि असफल वाली रचना हो जाती है। वहीं जब वे 'मैं बोरिशाइल्ला' वाला उपन्यास लिखती हैं, 'मैं बोरिशाइल्ला' बांग्लादेश के बारिशाल के रहने वाले एक आदमी के जीवन को लेकर के लिखा गया है। वहाँ पर जो विद्रोह हुआ था उस पर। उसे पढ़कर लगता है कि ओरे यह तो जीवन को उन्होंने जाना है, देखा है, तो वह स्वाभाविक रूप से आ जाता है। यही अंतर आप संजीव के 'फाँस' उपन्यास और 'सूत्रधार' उपन्यास में देख सकते हैं। सूत्रधार उपन्यास ज्यादा स्वाभाविक लगता है।

प्रश्न- आप कवि, कथाकार, आलोचक और अनुवादक भी हैं। इनमें आपकी पसंदीदा भूमिका कौन सी है?

श्रीप्रकाश मिश्र- कविता की, कवि वाली। मेरे पाँच कविता संग्रह भी छपे हुए हैं। पाँच उपन्यास छपे हैं, तो पाँच कविता संग्रह भी छपे हुए हैं और इसी तरह से दो उपन्यास या तीन उपन्यास लिखने के लिए मैं प्रयत्नशील हूँ, तो मेरे कविता संग्रह भी दो या तीन लगभग तैयार हैं। मेरे सभी उपन्यासों में कविताएं आई हैं।

प्रश्न- पूर्वोत्तर भारत पर गद्य लिखने की प्रेरणा आपको कैसे मिली?

श्रीप्रकाश मिश्र- केशव प्रसाद मिश्र जी से! उन्हें जब मैंने अपनी लेखन संबंधित रुचि और पूर्वोत्तर के अनुभव के बारे में बताया तो उन्होंने कहा बड़ी ही अद्भुत और बढ़िया बातें हैं। इसको लिखो। बहुत बढ़िया उपन्यास होगा। तो मैंने उसको लिखा। प्रसिद्ध कहानीकार मार्कण्डेय जी ने मेरा लेखन देखा, तो उन्होंने कहा कि चाहे कविता लिखना छोड़ देना पर उपन्यास लिखना नहीं छोड़ना। लेकिन यहीं पर विजयदेव नारायण साही थे, खैर उन्होंने मेरा उपन्यास नहीं देखा था पर कुछ मेरी कविताओं से वाकिफ थे। हमारा उनका संपर्क जब हुआ तो थोड़े साल भर के भीतर ही वो दिवंगत हो गए। लेकिन वो यह कहते थे कि सब काम छोड़ देना, लेकिन कविता लिखना मत छोड़ना। इस मामले में मैं बड़ा लकी हूँ कि अपने समय के तीन चार महत्वपूर्ण लोगों से मुझे एन्करेजमेंट मिला। कविता भी लिखने के लिए और उपन्यास भी लिखने के लिए।

प्रश्न- पूर्वोत्तर भारत में धर्म, प्रकृति, स्त्री और जनजातीय जीवन के बारे में अपने विचार साझा करें।

श्रीप्रकाश मिश्र- धर्म दो तरह का होता है, एक धर्म आध्यात्मिक तरीके का होता है, जिसे एक व्यक्ति अनुभव करता और चाहता है कि अन्य लोग भी अनुभव करें। यह धर्म का उच्च और आध्यात्मिक पक्ष होता है। दूसरा धर्म संस्थागत होता है, उसके जो अनुयायी होते हैं, जिसने कि पहली बार अनुभव

किया, उस रहस्यमय चीज को उस अनुभूति को और वे अनुयायी यह मानते हैं कि उस अनुभूति तक जाने का यही एकमात्र रास्ता है, जिसे कि हमारे गुरु ने या प्रथम पुरुष ने अनुभव किया। इसके लिए वे संस्था बना देते हैं और वो संस्था आध्यात्मिक कम होती है, बल्कि इकोनॉमिकल, सोशल और पॉलिटिकल तमाम तरह की चीजों का रूप ले लेती है।

ट्राइबल्स भी दो तरह के होते हैं- एक ट्राइबल्स है जो कि पहाड़ों में रहते हैं और एक ट्राइबल्स है जो की प्लेन में रहते हैं। प्लेन में रहने वाले ट्राइबल्स का जीवन और पहाड़ों में रहने वाले ट्राइबल्स के जीवन में बहुत अंतर है। जो ट्राइबल्स प्लेन में हैं वे अधिकतर हिंदुआइज़ हो चुके हैं। जैसे कि असम के अहोम लोग, कछारी लोग, बोड़ो लोग लगभग प्लेन ट्राइबल्स हैं, वे सभी हिंदू हैं। माने उनके अपने पुराने जीवन ट्राइबल्स जीवन और धर्म के अवशेष कुछ है, किंतु वे हिंदुआइज़ हो चुके हैं। या उनका इस्लामीकरण भी हो गया है जो इस्लाम के बीच में रहे हैं। उनका जीवन पहाड़ों के ट्राइबल्स से भिन्न रहा है। पहाड़ों में रहे हुए ट्राइबल्स में अभी भी आदिम अवस्था ज्यादा हैं। उनमें अगर ईसाइयत भी आई तो वो ईसाइयत उस तरह की नहीं हो पाई, जिस तरह की ईसाइयत दूसरे देशों जैसे कि यूरोपीय देशों में थीं और प्लेन के लोगों में थी। उन्होंने पूजा पद्धति का नियम, विवाह का नियम उसको वो अपना बरकरार करके चले। ‘रूपतिल्ली की कथा’ में जो समस्या आती है- वह एक संधि काल की है। जयंतिया का राजा राजा रामसिंह हिंदू हो चुके थे। खासियों का एक हिस्सा जयंतिया लोग हैं। उस समय खासी पहाड़ी को अंग्रेजों ने जीत लिया वे चाहते थे कि वो लोग ईसाई हो जाएँ। कुछ लोग चाहते थे कि वे लोग जो हैं वही बने रहे, वो क्यों हिंदू बनें, ईसाई बनें? इसको लेकर त्रिकोणीय समस्या सेंटिमेंट के स्तर पर थी, जीवन पद्धति के स्तर तथा अप्रोच के स्तर पर था, इसकी चर्चा ‘रूपतिल्ली की कथा’ में दिखाई देती है।

ट्राइबल्स जीवन में स्त्री का जीवन तो काफी मुक्त जीवन है, क्योंकि वहाँ पर बंधन नहीं है, लेकिन ‘सप्रेशन ऑफ़ वर्क’ वहाँ पर भी है। जेंडर के आधार पर काम का जो बँटवारा है। उससे जो वर्चस्व का ढंग बनता है। ‘जहाँ बाँस फूलते हैं’ में यह संदर्भ आया है, उसकी पात्र ‘कामी’ कहती है कि

प्लेन की स्त्रियों का जीवन तो ज्यादा अच्छा है, क्योंकि वहाँ पुरुष कमाता है। स्त्रियाँ घर संभालती है हमारे यहाँ क्या है? स्त्रियाँ पुरुष के साथ खेत में काम भी करती और खाना भी बनती है। पुरुष तो खाना बनाने नहीं आता, वह तो शराब का आदी हो जाता है।' ट्राइबल्स जीवन उन्मुक्त होने के बावजूद एक अपने तरह का बंधन लिए हुए है। खासी लोगों का समाज मातृवंशीय है, स्त्री को वरीयता प्राप्त है लेकिन आप पायेंगे की धीरे-धीरे पुरुष का वर्चस्व वहाँ पर भी हो गया। वहाँ की स्त्रियाँ राजनीति में हिस्सा नहीं लेती। बाँग तो मुर्गा ही देता है। राजनीति में हिस्सा लेना बाँग देना है। लेकिन एक जमाना था, स्त्रियाँ वहाँ की राजा होती थी। पूर्वोत्तर की अन्य जनजातियों में भी मातृसत्ता थी, लेकिन वो बदल गई। इसके लिए मेरी हाल में आई किताब 'स्त्री विमर्श की जमीन' को देख सकते हैं। उसमें मैंने पूर्वोत्तर भारत के ट्राइबल्स स्त्री जीवन का विवेचन किया है। उपन्यासों में उतना खुलकर नहीं है, लेकिन इसमें मेरा स्टैंड क्या है? यह दिखाई देगा कि शोषण तो सर्वत्र है।

प्रश्न- आपने पूर्वोत्तर भारत पर मेघालय, मिजोरम और असम राज्य पर तीन उपन्यास लिखे, इनमें से कौन सी रचना आपको ज्यादा प्रिय है?

श्रीप्रकाश मिश्र- माँ-बाप को हर बच्चा बराबर प्रिय होता है। तो 'जहाँ बाँस फूलते हैं' प्रिय इसलिए है क्योंकि वो मेरा पहला उपन्यास है। उसमें एक दूसरे तरह का खाँटीपन है। एक निश्चलता, प्रवाह है। उसमें बात कहने के लिए मैं नई भाषा सीख रहा हूँ। जहाँ तक मैच्योरिटी की बात है तो 'नदी की टूट रही देह की आवाज' यह ज्यादा मैच्योर उपन्यास है, क्योंकि यह मेरे पहले उपन्यास के लिखे जाने के बीस वर्ष बाद लिखा गया। तब तक मेरे जीवन अनुभव दूसरे तरह के हो गए। चीजों को सोचने का ढंग थोड़ा बदल गया। 'नदी की टूट रही देह की आवाज' में एक विविध और पात्रों का अपना व्यक्तित्व है। इसमें जटिलता ज्यादा है और रचना जितनी ही जटिल होती है, जीवन को उतने ही गहराई और अनुभव के साथ प्रस्तुत करती है। 'रूपतिल्ली की कथा' दूसरी दुनिया की कथा है। उसमें मैं समस्या भी दूसरी तरह की है।

प्रश्न- आजकल पूर्वोत्तर पर काफी लेखन और शोध हो रहे हैं। इनमें कुछ विद्वान पूर्वोत्तर और बाहर से आए लेखकों के लेखन पर टिप्पणी करते हैं। आप इसे किस प्रकार से देखते हैं?

श्रीप्रकाश मिश्र- मेरा मानना है कि पूर्वोत्तर के लेखक और पूर्वोत्तर से बाहर के लेखक की रचनाओं का मूल्यांकन साहित्य की गहराई और जीवन के सुख दुःख का वर्णन, जिसने अच्छे से किया उस आधार पर इसका निर्धारण होना चाहिए। जो नॉर्थ ईस्ट का व्यक्ति है, वह जब लिख रहा है तो अपनी आइडेंटिटी के लिए लिख रहा है, अपनी ट्राइब की पहचान के लिए लिख रहा है। लेकिन, जो बाहरी है, वो नॉर्थ ईस्ट वालों के आइडेंटिटी और प्रॉब्लमस दोनों के लिए लिख रहा है। दरअसल साहित्य तो अनुभूति की अभिव्यक्ति है, उसमें भीतरी-बाहरी जैसा कुछ नहीं होता।

प्रश्न- भविष्य में पूर्वोत्तर भारत पर लिखने की आपकी क्या योजना है?

श्रीप्रकाश मिश्र- तीन उपन्यास मैं लिख रहा हूँ। सिक्किम को लेकर मैं जो उपन्यास लिख रहा हूँ उसे मैंने पूरा कर दिया। इसके अलावा मैं एक मणिपुर की जड़ों एवं वर्तमान समस्या पर उपन्यास लिख रहा हूँ। और एक नागालैंड को लेकर भी 'सूरज का आखेट' नाम से उपन्यास लिखा रहा हूँ, जिसका एक तिहाई तो पूरा हो गया है। इधर मैं चिंतनपरक लेखन कर रहा हूँ- जैसे कि मेरी एक किताब आई 'उत्तर आधुनिक अवधारणाएं' उसे लिखने में चार-पाँच वर्ष लग गए। आजकल मैं मार्क्सवाद को लिख रहा हूँ। नाथों और सिद्धों पर भी मेरी एक किताब आ रही है और उसे मैं तंत्र की अवधारणा से लिख रहा हूँ। सिक्किम पर मैंने जो उपन्यास लिखा है, उसके दो भाग हैं- एक तो बौद्ध धर्म का प्रवेश सिक्किम में कैसे हुआ और चोग्याल का परिवार शासन करने तिब्बत से सिक्किम कैसे आए और दूसरा भाग है सिक्किम भारत में कैसे शामिल हुआ? क्योंकि उसका भी मैं चश्मदीद रहा हूँ।

प्रश्न- कोई ऐसा विषय या प्रकरण जिसपर आपको न लिख पाने का अफसोस रहा हो?

श्रीप्रकाश मिश्र- ऐसी कोई बात नहीं है। जब भी कोई बात मेरे मन में टकराई है तो चाहे मैं पूरा न लिखूँ, लेकिन उस पर मैं कुछ न कुछ लिख ही लेता हूँ जिसे आगे मैं उपयोग करूँ।

प्रश्न- पूर्वोत्तर में हिंदी के प्रचार-प्रसार अथवा पूर्वोत्तर में हिंदी के भविष्य को आप किस रूप में देखते हैं?

श्रीप्रकाश मिश्र- देखिए दो बातें हैं, प्रचार-प्रसार की दृष्टि से देखें तो पूर्वोत्तर में हिंदी का विकास बहुत अच्छे से हो रहा है। आज पूर्वोत्तर भारत में हिंदी को लेकर कहीं भी किसी प्रकार की नकारात्मक स्थिति नहीं है और दूसरी बात यह कि पूर्वोत्तर में हिंदी को लेकर क्या कुछ लिखा जा रहा है, तो आज पूर्वोत्तर में हिंदी में खूब लिखा जा रहा है और शोध भी हो रहे हैं। नॉर्थ ईस्ट के संदर्भ में तीन विमर्श एक साथ बनते हैं- एक तो बनता है ट्राइबल/जनजातीय विमर्श, दूसरा है नॉर्थ ईस्ट का अपना विमर्श (जिसे ट्राइबल से हटकर समग्रता में देखे जाने की जरूरत है) और तीसरा विमर्श बनता है, इन्सर्जेसी का या वहाँ की समस्याओं का। इन तीनों पर और अधिक लिखे जाने की जरूरत है।

प्रश्न- हिंदी के नवलेखकों को आप क्या संदेश देना चाहेंगे?

श्रीप्रकाश मिश्र- अब एक लेखक दूसरे लेखक को क्या संदेश देगा! बतख के बच्चे को कोई तैरना थोड़ी सिखाया जाता है! नवलेखकों को संदेश है कि आपके मन में जो आये वो लिखो, लेकिन उस विषय में लिखो, जिसको कि आप जानते हो। लिखने का उद्देश्य होना चाहिए, केवल कहानी कहना उद्देश्य नहीं होना चाहिए। उद्देश्य बहुत महीन होना चाहिए। वो बहुत लाउड नहीं होना चाहिए।

कंचनजंघा पत्रिका द्वारा दिनांक 9 अगस्त, 2025 को विश्व आदिवासी दिवस

के अवसर पर 'आदिवासी दर्शन और विश्व दृष्टि' विषय पर केंद्रित साक्षात्कार

(अरुणाचल प्रदेश की चर्चित साहित्यकार जोराम यालाम नाबाम से अभिषेक कुमार यादव की बातचीत)

अभिषेक कुमार यादव- यह वर्तमान समय के लिए एक अत्यंत महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न है। आधुनिकता ने मनुष्य को 'सबसे ताकतवर' और 'सृष्टि का श्रेष्ठ जीव' स्थापित किया है। इसके विपरीत, 'तानी कथाएं' में आप लिखती हैं कि मनुष्य इस सृष्टि में सबसे छोटा भाई है। तानी फिलॉसफी में, जिसे आप 'जिम्मी जमा' (शून्य अवस्था या महागर्भ) के कांसेप्ट से जोड़ती हैं, मनुष्य का प्रकृति के साथ किस प्रकार का संतुलनकारी संबंध होना चाहिए, जिसे हमने विकृत कर दिया है?

जोराम यालाम नाबाम - यह हमारी विश्व दृष्टि का मूल आधार है। 'जिम्मी जमा' वह शून्य अवस्था है, वह महागर्भ है, जिससे संपूर्ण अस्तित्व- सूर्य, चंद्र, पहाड़, पशु-पक्षी एक ही बिंदु से पैदा हुए हैं। यह सब एक ही 'तानी' की संताने हैं। इसलिए, संपूर्ण अस्तित्व के साथ हमारा पारिवारिक संबंध है। तानी दर्शन में, हम सूर्य को माँ (पालनहार) और चंद्र को पिता (ऋतुओं का नियंत्रक) मानते हैं। और सबसे महत्वपूर्ण, हम यह मानते हैं कि सभी जीव-जंतु, जल, पत्थर, पेड़-पौधे हमसे पहले पैदा हुए, और मनुष्य सबसे अंत में पैदा हुआ, इसलिए वह सबसे छोटा भाई है। सबसे छोटा होने के कारण, सारी प्रकृति उसे प्यार करती है और उसे देती भी है। जब मनुष्य अपनी यह औकात भूल जाता है, जब वह अहंकार में सब कुछ मेरा कहने लगता है और प्रकृति का अत्यधिक संग्रह (अपरिग्रह) और दोहन शुरू करता है, तो संतुलन बिगड़ जाता है। इसी संतुलन को वापस लाने के लिए प्रकृति (उयू) और मनुष्य (तानी) के बीच संघर्ष होता है, जहाँ प्रकृति मनुष्य को उसकी सीमा याद दिलाती है। हमारा दर्शन संतुलन, श्रद्धा और पारिवारिक सम्मान का है, न कि श्रेष्ठता और नियंत्रण का।

अभिषेक कुमार यादव - जनजातीय समाजों में बलि प्रथा एक ऐसा विषय रहा है जो बाहरी समाजों के लिए हिंसक प्रतीत होता है। आपने इसे 'लेन-देन' और 'आध्यात्मिक परिष्कार' के संदर्भ में व्याख्यायित किया है। बलि को एक ऐसी सीमित प्रथा के रूप में देखते हुए, जो समाज को अधिक हिंसक होने से रोकती है, आप इसके पीछे के आध्यात्मिक संवाद को कैसे स्पष्ट करेंगी? और वर्तमान में, जब शो-ऑफ के लिए मिथुन जैसे पशुओं का अधिक हनन हो रहा है, तो क्या यह प्रथा अपने मूल दार्शनिक पवित्रता से विचलित हो गई है?

जोराम यालाम नाबाम - बलि प्रथा की जड़ें हमारे पारिवारिक रिश्तेदारी के दर्शन में हैं। यह ईश्वर को 'चढ़ावा' नहीं, बल्कि प्रकृति की अदृश्य शक्ति के साथ एक 'लेन-देन' है, एक नेगोशिएशन है। हम अपनी सबसे प्रिय वस्तु देकर अपने भीतर की नकारात्मकता का परिष्कार करते हैं। यह सीमित और नियंत्रित होती है- प्रकृति (उयू) जितना माँगती है, उतना ही दिया जाता है। इसका आध्यात्मिक पक्ष यह है कि बलि से पहले पुजारी पशु की आत्मा से संवाद करता है, क्षमा माँगता है, और उसे आश्चस्त करता है कि यह उसके स्वाद के लिए नहीं, बल्कि किसी अनुष्ठान के लिए है। समाज सामने खड़े होकर उस पीड़ा को महसूस करता है, जो उन्हें पशुओं के प्रति एक संतुलन और संवेदनशीलता सिखाती है। जिन समाजों में बलि प्रथा नहीं है, वहाँ माँस खाने की मात्रा और हिंसा का भाव कहीं अधिक है, जहाँ कटे हुए पशु के प्रति कोई दर्द नहीं होता। हाँ, वर्तमान में यह प्रथा विचलित हुई है। शादियों और उत्सवों में शो-ऑफ और अहम के प्रदर्शन के लिए अत्यधिक मिथुन काटे जा रहे हैं। यह हमारे दर्शन का नहीं, बल्कि हमारी दूषित होती संस्कृति का हिस्सा है। 'जंगली फूल' में आबो तानी ने भी ऐसे ही विवाहों में मिथुन को बचाने का प्रयास किया था। यह विचलन दिखाता है कि हम अपने दर्शन के पीछे के सैक्रेडनेस को भूलकर, केवल उसकी दिखावटी परंपरा को ढो रहे हैं।

अभिषेक कुमार यादव- (चर्चा के क्रम में... ममता अवस्थी जी का एक प्रश्न है): जब आधुनिकता प्रकृति का दोहन कर रही है और आदिवासी दर्शन उसे पूजनीय मानता है, तो इन दो विरोधाभासी दृष्टिकोणों के बीच संतुलन कैसे स्थापित किया जा सकता है?

जोराम यालाम नाबाम - यह संतुलन तभी स्थापित हो सकता है, जब हम आदिवासी विश्व दृष्टि को न केवल एक अतीत की धरोहर मानें, बल्कि एक समकालीन दार्शनिक समाधान के रूप में स्वीकार करें। आदिवासी दर्शन का मूल सार 'उपयोग' नहीं, बल्कि 'सह-अस्तित्व' और 'श्रद्धा' है। हमें यह समझना होगा कि हम जल, जंगल, जमीन के स्वामी नहीं, बल्कि उसी परिवार के सबसे छोटे सदस्य हैं। संतुलन के लिए यह आवश्यक है कि आदिवासी समाज स्वयं अपने दर्शन को गहराई से समझे। हम चर्चा, संवाद और लेखन के माध्यम से यही कर रहे हैं, अपने लोगों और बाहरी दुनिया को याद दिला रहे हैं कि हमारा दर्शन 'शून्य अवस्था' से लेकर संपूर्ण अस्तित्व को एक परिवार मानने का है, जहाँ अपरिग्रह और संतुलन ही जीवन का नियम है। जब तक यह जागरूकता नहीं आएगी, हम आधुनिकता की अंधी दौड़ में अपने मूल स्रोत से कटते रहेंगे और प्रकृति का अनियंत्रित दोहन जारी रहेगा।

अभिषेक कुमार यादव- (डॉ. नाबाम, विश्व आदिवासी दिवस के अवसर पर आयोजित इस विशेष संवाद के लिए आपका आभार।) आपके लेखन ने आदिवासी जीवन और दर्शन को एक नई पहचान दी है। मैं आपके साहित्यिक सृजन की प्रेरणा से शुरुआत करना चाहूँगा। आपके आरंभिक जीवन के कौन से अनुभव थे, जिन्होंने आपको आदिवासी जीवन की पीड़ा और संघर्ष को अपनी लेखनी का मूल स्रोत बनाने के लिए विवश किया? क्या यह व्यक्तिगत वेदना है या समाज की सामूहिक चेतना का प्रतिरूप?

जोराम यालाम नाबाम- डॉ. अभिषेक, धन्यवाद। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर देना मेरे लिए सदा ही एक भ्रम की स्थिति उत्पन्न करता है। मेरा अनुभव यह कहता है कि लेखन किसी बाह्य प्रेरणा का परिणाम कम, और एक आंतरिक अनिवार्य वेदना की अभिव्यक्ति अधिक है। मैंने अपने समाज में जो बहुविवाह की संरचना, पहली पत्नी से लेकर बच्चों तक के संघर्ष, और जीवन की विषम

परिस्थितियों को घटते देखा, उसी ने मेरे भीतर एक ऐसी पीड़ा को जन्म दिया, जिसे केवल कथाओं के माध्यम से ही अभिव्यक्ति दी जा सकती थी। मेरी कृतियाँ- 'साक्षी है पीपल' से लेकर 'जंगली फूल' तक उसी अव्यक्त पीड़ा और दर्द की उपज हैं। यह केवल मेरी व्यक्तिगत पीड़ा नहीं, बल्कि उन अदृश्य, अनकही सच्चाइयों को दर्ज करने का प्रयास है, जिन्हें साहित्य में मुखर होना आवश्यक है।

अभिषेक कुमार यादव- आपके उपन्यास 'जंगली फूल' और 'तानी कथाएं' तानी दर्शन को न केवल प्रस्तावित करते हैं, बल्कि आदिवासी समुदाय के भीतर चल रहे पहचान के संकट पर भी विमर्श करते हैं। आपने विशेष रूप से उल्लेख किया है कि आज आदिवासी समाज अपनी जड़ों से विच्छेद हुए बिना, धर्म परिवर्तन जैसी दो नावों पर पैर रखकर चलने के संघर्ष से गुजर रहा है। आप इस मानसिक संघर्ष को तानी दर्शन के आलोक में किस प्रकार परिभाषित करेंगी?

जोराम यालाम नाबाम- यह एक गहन विषय है। जब मैंने 'तानी कथाएं' पर कार्य शुरू किया, तो मैंने महसूस किया कि पहचान और संस्कृति का अर्थ केवल पारंपरिक वेशभूषा या कुछ अनुष्ठान नहीं है। असल जड़ हमारी विश्व दृष्टि और दर्शन में निहित है। आज का संघर्ष यह है कि आधुनिकता और अन्य संस्कृतियों के प्रभाव में, व्यक्ति अपने मूल स्रोत से कट रहा है। तानी दर्शन में, 'तानी' शब्द के कई अर्थ हैं- यह शून्य अवस्था को भी इंगित करता है, संपूर्ण अस्तित्व को भी, और मानव सभ्यता के विकास क्रम को भी। जिस तरह आबो तानी (नीबो) ने अपनी पूरी ज़िंदगी समाज को भूख से मुक्त करने में लगा दी, उसी तरह आज का संघर्ष भी एक भूख है, यह जानने की भूख कि 'हम कौन हैं?' जब तक हम इस मूल दर्शन को नहीं समझते, तब तक पहचान का संकट बना रहेगा।

अभिषेक कुमार यादव- 'जंगली फूल' में आबो तानी की निरंतर यात्राओं और 'तानी कथाएं' के लेखन के दौरान आपके निजी अनुभव में यात्रा एक केंद्रीय तत्त्व के रूप में उभरता है। मानव सभ्यता के विकास में प्रवास का महत्व सर्वविदित है, परंतु आदिवासी विश्व दृष्टि में यह यात्रा, यह 'चलते रहना', किस दार्शनिक अनिवार्यता को दर्शाता है? यह केवल आर्थिक आवश्यकता है या प्रकृति के साथ ज्ञान-आत्मा का संबंध स्थापित करने का माध्यम?

जोराम यालाम नाबाम - आरंभिक यात्राओं का कारण बेशक आर्थिक आवश्यकता थी। मिट्टी की उर्वरता कम होने पर स्थान बदलना। किंतु, इस क्रिया में एक गहन दार्शनिक उपलब्धि छिपी थी। जब आप यात्रा करते हैं, आप प्रकृति के अत्यंत समीप आ जाते हैं। आप मिट्टी के हर कण, पत्तों के हिलने के अर्थ, और पशु-पक्षियों के संकेत को समझते हैं। यात्रा से प्राप्त ज्ञान और अनुभव दस किताबों से कहीं अधिक मूल्यवान है। यह ज्ञान केवल सूचना नहीं, बल्कि आत्मा में अंकित हो जाता है, जो स्थायी है। हमारी ज्ञानधारा, लोकगीत, संगीत, नृत्य, और यहाँ तक कि हमारी भाषा का विकास भी इसी यात्रा से हुआ। उदाहरण के लिए, हमारे शब्द भंडार में ऐसे शब्द हैं जो किसी विशेष स्थान पर पाए जाने वाले वृक्ष या वस्तु से जुड़े हैं, जो यात्रा के दौरान प्रकृति के साथ हुए संवाद को दर्शाते हैं। आबो तानी की यात्रा भूख से लड़ने की प्रक्रिया में, ज्ञान और नए बीजों को लाने के साथ-साथ, समुदाय के निर्माण की गाथा है।

अभिषेक कुमार यादव- (प्रदीप त्रिपाठी जी का प्रश्न है...) : आदिवासी और जनजातीय शब्द को लेकर आपकी क्या राय है? संवैधानिक तौर पर 'जनजातीय' शब्द की स्वीकार्यता और उसके प्रयोग पर विशेष बल दिया जाता रहा है, इस विषय में आपका क्या मंतव्य है?

जोराम यालाम नाबाम- मुझे लगता है कि जनजातीय शब्द एक सरकारी शब्द है, लेकिन मैं सोचती हूँ कि हमने या आदिवासी समाज ये नाम नहीं दिया। ये समाज द्वारा दिया नाम है। पहली बार हम बोल रहे हैं कि हमें अपने नाम से पुकारा जाए। सारे नाम जैसे चाँद, चाँदनी अच्छे हैं, इनमें कुछ भी गलत नहीं। जैसे मेरा नाम यालाम है, मुखे यालाम ही पुकारा जाए, तो इसमें इन गलत क्या है। जैसे आदिवासी

शब्द से मेरा आशय है कि आदिवासी या Indigenous शब्द है, उसमें 'आदि' का अर्थ प्रकृति है। हमारे लिए प्रकृति और पूर्वज दोनों महत्वपूर्ण हैं। अगर कोई व्यक्ति कहीं भी बाहर जैसे दिल्ली, मुंबई चला जाए उसकी मूल पहचान तो वही रहेगी। आदिवासी या Indigenous (मूल निवासी) की ही रहेगी। हर कोई कहीं न कहीं का मूल निवासी होता है, तो जो जैसा है उसे वैसा ही क्यों न बुलाया जाए। इंडिजिनियस का अर्थ पिछड़ा या प्रीमेटिव होना नहीं, बल्कि अपनी जड़ों से, प्रकृति से जुड़ा होना है। इसीलिए हम चाहते हैं कि हमें आदिवासी ही कहा जाए, ताकि मूल रूप में हमारी पहचान बनी रहे।

अभिषेक कुमार यादव- (बी आकाश राव एवं चाँदनी रजक का प्रश्न है) : आपकी 'जिमी जमा' कहानी के आधार पर लोक को कैसे समझा जाए या लोक की कोई मानक परिभाषा क्या हो सकती है?

डॉ. जोराम यालाम नाबाम- मैं साधारण शब्दों में बताती हूँ, जैसे 'जिमी जमा' में हमने जिस शून्यावस्था से जिस ब्रह्मांड या अस्तित्व का निर्माण हुआ है। जैसे जिमी जमा हमारे पूर्वजों के लिए आया शब्द है, जैसे आप अपने कितने पूर्वजों के नाम जानते हैं, सबके नाम तो याद नहीं रहते, लेकिन वो हैं हमारे पूर्वज हैं। हमारे पूर्वज ही 'जिमी जमा' है। जैसे एक शिशु जब गर्भ में होता तो उसका कोई स्वरूप नहीं होता, लेकिन वो है उस महागर्भ है, उसी महागर्भ को हम जिमी जमा कहते हैं। हम अपने को जल की संतान मानते हैं और जल की पूजा भी करते हैं, जैसे जब बच्चे का जन्म होता है, तो माँ के गर्भ से पानी भी निकलता है। यही हमारा विश्वास है कि मनुष्य का जन्म जल से होता है। जिमी जमा कहानी में इसे बताया गया है। अतः जो शब्द या संबंध हमें हमारे पूर्वजों से या अपने मूल से जोड़े उसे ही लोक समझा जाना चाहिए।

अभिषेक कुमार यादव- (राजीव रंजन प्रसाद जी का एक प्रश्न आया है...) : आदिवासी दर्शन में अपरिग्रह यानी अधिकाधिक संग्रह/बटोर के निषेध का दर्शन किस प्रकार का है?

जोराम यालाम नाबाम- प्रकृति के दर्शन में हम विश्व दृष्टि के संतुलन की अवधारणा को महत्त्व देते हैं, हम पूरे विश्व को परिवार मानते हैं। तानी कथाओं में एक जगह वर्णन मिलता है जैसे जब तानी बहुत सी चीजों का संग्रह करने लगता है- कि ये जमीन मेरी, ये पहाड़ मेरा, ये वृक्ष मेरा तब वह किस तरह से फँसता है। एक कथा मिलेगी जब उयू (प्रकृति) तानी को सबक सिखाती है। तानी एक पेड़ के झूले में फँस जाता है, नीचे गहरी झील में सैकड़ों साँप और मगरमच्छ है और ऊपर आसमान। ऐसी मुश्किल की घड़ी में उयू (प्रकृति) उस पर हँसते हुए नृत्य कर रहे हैं और कहते हैं कि ये नदी मेरी, वृक्ष मेरा, धरती-पहाड़ मेरा और उससे वो सब लेकर उसे संतुलन का पाठ पढ़ाते हैं। उसी संतुलन पर आधारित ही हमारा दर्शन बनता है, जिसमें प्रकृति के संतुलन की मान्यता है।

डॉ. अभिषेक कुमार यादव- (अजेय झा जी का प्रश्न है) : न्यीशी सभ्यता में मृत्यु की उत्पत्ति क्यों और कैसे मानी जाती है?

डॉ. जोराम यालाम नाबाम- जीवन-मृत्यु तो प्रकृति का नियम है। जैसे 'तानी कथाएँ' में एक कहानी मिलती है कि एक बार आबोतानी, जो बहुत निःशुल्ल है और विरह की पीड़ा से अनजान है, एक बार जंगल में एक चिड़िया का गीत सुनता है और उस चिड़िया से उसे गीत सिखाने की बात कहता है। चिड़िया उससे कहती है कि ये गीत नहीं है विरह है। बाद में मेरा पूरा परिवार बह गया, उसके विरह में मैं रो रही हूँ, पर तानी फिर भी नहीं मानता। तानी यहाँ मानव-मन का प्रतीक है, जो जिद्दी और चंचल है, तब चिड़िया कहती है कि ठीक है अपने हाथ फैलाओं और उसकी हथेली पर दो बूंद आँसू गिरा देती है। इसके कुछ दिनों बाद तानी के माता-पिता का निधन होता है, वह अनाथ हो जाता है और इस दुख में उसके आँसू बहते हैं। वही से न्यीशी समाज में मृत्यु की अवधारणा का जन्म हुआ। जैसे आँख से आँसू (जल) का बाहर आना। चूँकि जल से ही जीवन की सृष्टि मानी गई है, इसीलिए शरीर से जल का अलग होना मृत्यु का प्रतीक माना गया है।